

सर्व जिनागम पीडीएफ ग्रुप



स्वाध्याई बंधुओ तक
अवश्य पहुंचाए
निवेदक: सौरभ जैन

जैन एकता मंच



हम
सब
एक
हैं



सर्व जिनागम पीडीएफ ग्रुप

9993602663/7722983010



जैन साहित्य एवं मंदिर

उपकरण

हमारे यहाँ सभी प्रकार का दिगंबर जैन एवं भारत के सभी प्रमुख धार्मिक संस्थानों का सत साहित्य एवं मंदिर में उपयोग हेतु उपकरण और प्रभावना में बाटने योग्य सामग्री सीमित मूल्य पर उपलब्ध है !

(पांडुशिला, सिंघासन, छत्र, चंवर प्रातिहार्य, जापमाला, मंगल कलश, पूजा बर्तन चंदोवा, तोरण, झारी)



शुद्ध चांदी के उपकरण ऑर्डर पर निर्मित किये जाते हैं।

नोट :- हमारे यहाँ घरों में उपयोग हेतु, साधुओं के उपयोग हेतु, अनुष्ठानों में उपयोग हेतु शुद्ध देशी घी भी ऑर्डर पर उपलब्ध कराया जाता है !

सौरभ जैन (इंदौर)
9993602663
7722983010

सभी दिगंबर जैन ग्रंथों की पीडीएफ प्रतिदिन निशुल्क प्राप्त करने के लिए संपर्क करें



जय जिनेन्द्र



गाय का शुद्ध देशी घी

शुद्धता पूर्वक बनाया गया देशी घी
चातुर्मास में साधु ब्रती एवं धार्मिक
अनुष्ठानों को ध्यान में रख कर
बनाया गया शुद्ध देशी घी

घी ऐसा की दिल
जीत जाये



संपर्क:-CALL &
WHATSAPP:
9993602663
7722983010





(दिगम्बर श्वेताम्बर परम्परानुसार प्रमाणिक)

(शोध पूर्ण)

श्री महावीर चरित

लेखक

हीरा लाल सिद्धान्त शास्त्री

ब्यावर

हीराश्रम साढूमल,

जिला-ललितपुर (उ०प्र०)

दो शब्द

भगवान् महावीर के प्रस्तुत चरित के विषय में पाठकों से दो शब्द कहना आवश्यक है। यद्यपि जैन-धर्म अनादिकाल से चला आ रहा है, तथापि एस युग में उसके आदि प्रवर्तक भ० ऋषभदेव हैं और अन्तिम उपदेष्टा भ० महावीर हैं। अन्तिम तीर्थंकर होने के नाते वर्तमान में उनका ही शासन चल रहा है और आज उपलब्ध समस्त जैन वाङ्मय उनकी ही देन है।

भ० महावीर के निर्वाण के पश्चात् तीन केवली और पांच श्रुतकेवलियों तक उनके आचार और विचारों की उपदेश-धारा एक रूप से चलती रही। किन्तु अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय 12 वर्षों के दीर्घकालीन दुष्काल के प्रभाव से वह धारा दो भागों में विभक्त हो गई। तत्पश्चात् एक धारा ने तो पूर्व आगत अंगश्रुत के नाम से ही भगवान् के उपदेशों का संकलन किया और अपनी स्मृति के आधार पर उसे पुस्तक-निबद्ध किया। दूसरी धारा ने देखा कि यथार्थ अंगश्रुत का तो लोगों को विस्मरण हो गया है और जो संकलन किया जा रहा है वह बहुत कुछ दोष मिश्रित एवं त्रुटि-पूर्ण है, तब उसने यही उचित समझा कि भगवान् के तत्त्व-ज्ञान विषयक मूल उपदेशों का स्वतंत्र रूप से प्रणयन किया जाय। तदनुसार भगवान् के प्रवचनों के सार-स्वरूप समयसार, प्रवचनसार, मूलाचार और नियमसार जैसे अनेक ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इन ग्रन्थों में जहां शुद्ध आत्म तत्त्व का निरूपण किया गया, वहां तात्कालिक अन्य दि० आचार्यों ने आत्मा के साथ अनादि-काल से संलग्न कर्मों का निरूपण करने वाले कार्मिक ग्रन्थों का भी निर्माण किया, क्योंकि कर्मों को जाने बिना उनसे छुटकारा सम्भव नहीं है। फलस्वरूप कसाय-पाहुडसुत, छक्खण्डागमसुत और त्रिलोय-पण्णति आदि ग्रन्थों का निर्माण हुआ।

वर्तमान में उपलब्ध दि० वाङ्मय को देखते हुए यह स्पष्ट है कि जैन वाङ्मय के प्रधान चार अनुयोगों में से इस प्रकार द्रव्यानुयोग, करणानुयोग और चरणानुयोग के ग्रन्थों का निर्माण तो हो गया, पर प्रथमानुयोग के ग्रन्थों का निर्माण बहुत पीछे हुआ। यही कारण है कि तीर्थंकरादि- विषयक घटनाओं का जितना वर्णन श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में आज उपलब्ध है, उतना दि० परम्परा में नहीं मिलता है। श्वे० परम्परा में भ० महावीर के समय के जितने मतमतान्तरों का उल्लेख और अनगार एवं अन्य महापुरुषों के चरितों का चित्रण उपलब्ध है, उतना दि० परम्परा में नहीं। अतएव दि० चरित ग्रन्थों में भ० महावीर का चरित पूर्व भवों के अतिरिक्त नहीं के बराबर है ।

इन सब बातों को ध्यान में रखकर यह उचित समझा गया कि भगवान् महावीर की 2500वीं निर्वाण-जयन्ती जब सम्मलित रूप से मनाई जा रही है, तब उनका चरित भी दोनों सम्प्रदायों के ग्रन्थों के आधार पर लिखा जाय। अतः प्रस्तुत चरित में दोनों परम्पराओं के एतद्-विषयक ग्रन्थों का भरपूर उपयोग किया गया है। और एक लेखक होने के नाते इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि कोई भी बात दि० मान्यता के प्रतिकूल न लिखी जावे। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि कोई बात श्वे० परम्परा के खण्डन रूप में भी नहीं लिखी जावे। इतना सब होने पर भी भ० महावीर के गर्भाहरण की घटना एक तीर्थंकर के लिये बड़ी अशोभनीय प्रतीत हुई और उसकी कुछ समीक्षा प्रस्तुत चरित में आ गई है। इसका अभिप्राय केवल इतना ही रहा कि निष्पक्ष विचारक इस पर गहराई से विचार करें। अनेक श्वे० विद्वान् लेखक भी उक्त गर्भापहार के वर्णन को पीछे से प्रक्षिप्त मानते हैं, क्यों कि देवानन्दा ब्राह्मणी और त्रिशला क्षत्रियाणी को वे ही स्वप्न दीखना और वही फल बतलाया जाना तथा पीछे एक को उस लाभ से वंचित रहना यह बात कुछ जंचने जैसी नहीं है।

भ० महावीर के विवाह होने और एक पुत्री होने का उल्लेख श्वे० ग्रन्थों में मिलता है पर भगवान् के दीक्षित होने के पश्चात् उनकी पत्नी का कहीं कुछ पता नहीं चला कि वह कहां चली गई। इस विषय में भी अनेक श्वे० विद्वान् संदिग्ध हैं। मैंने विवाह के प्रस्ताव को उठाने और उसके अस्वीकार की बात को दि० परम्परा के अनुसार ही लिखा है।

चरित ग्रन्थों में शेष चार कल्याणकों का कथन समान रूप से उपलब्ध है। अतः उसे दोनों ग्रन्थों के आधार से लिखा गया है ।

भगवान् की देशना के लिखने में स्वीकार की गयी शंका-समाधान और प्रश्नोत्तर की शैली शायद दि० विद्वानों को खटके। पर इस विषय में मेरा निवेदन है कि द्वादशांग श्रुत के पंचम व्याख्या प्रज्ञप्ति उपंग के विषय में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि गौतम के प्रश्नों पर भगवान् ने जो उत्तर दिये उनका इसमें संकलन किया गया है। यथा-

एवं हि व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेषूक्तम्- विजयादिषु देवा मनुष्यभवभास्कन्दन्तः कियतीर्गत्यायताः विजयादिषु कुर्वन्ति, इति गौतमप्रश्ने भगवतोक्तं-जघन्येनैको भवः आगत्या उत्कर्षेण गत्यागतिभ्यां द्वौ भवौ । इत्यादि, (तत्त्वार्थवार्तिक, अ० 4, सूत्र 26)

छक्खंडागम में भी यही प्रश्नोत्तर की शैली देखी जाती है। यथा-
ओघेण मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवणिया? अणंता (द्रव्य प्र० सू० 2)
कसायपाहुडसुत में भी यही प्रश्नोत्तर शैली पाई जाती है। यथा-

मिच्छतस्य उक्कस्सपदेसविहतिओ केवचिरं कालादो होदि? जहण्णुक्कस्सेण एगसमओ।
(कसायपाहुडसुत, प्रदेश विभक्ति, सूत्र 2,)

तीर्थकरों के सहस्त्रनामों में से एक नाम प्राक्षनिकगु है उसकी व्याख्या में कहा गया है कि- 'प्रशनं बिना तीर्थकरो न ब्रूते' (जिन सहस्त्रनाम 4, 61)

इन आधारों के अनुसार प्रस्तुत चरित में भी प्रश्नोत्तर की शैली को अपनाया गया है। साथ ही भगवान् की 66 दिन तक जो दिव्य ध्वनि प्रकट नहीं हुई इसका कारण गणधर का अभाव बताया गया है। जब गौतम का समागम हुआ तब वह प्रकट हुई, इस कारण भगवान् के प्रवचनों का जो थोड़ा सा वर्णन प्रस्तुत चरित में किया गया है वह दि० परम्परा के प्रतिकूल नहीं, अपितु अनुकूल ही है। भगवान् महावीर के छद्मस्थकाल और केवलिकाल का प्रायः सर्व वर्णन श्वे० ग्रन्थों के ही आधार पर किया गया है और उसे स्वीकार करने में कोई सैद्धान्तिक वाधा भी नहीं आती है। कुछ विद्वानों की ऐसी धारणा है कि यतः तीर्थकर अन्तरिक्ष विहारी होते हैं अतः उनके लिये वर्षाकाल में एक स्थान पर ठहरने का प्रतिबन्ध नहीं है। मैं इस बात को स्वीकार करके भी यह कहना चाहता हूँ कि केवली होने के बाद भगवान् महावीर ने कहीं भी अकेले विहार नहीं किया और जब संघ के साथ किया है तो संघ यतः भूमिचारी ही था अतः उसके अनुरोध से भगवान् का भी वर्षाकाल में एक स्थान पर ठहरना उचित ही है। भगवान् ने ही तो वर्षाकाल में साधुओं के लिए एक स्थान पर ठहरने का विधान किया और वे ही स्वयं तोड़ें यह कुछ जंचता नहीं है। इसलिए प्रस्तुत चरित में जो वर्षाकाल-विषयक विवरण दिया गया है वह भी दि० परम्परा के विरुद्ध नहीं है।

भगवान् के प्रवचन द्वादशांग श्रुत के रूप में गणधर निबद्ध करते हैं, पर प्रस्तुत चरित में उनका निरूपण आज के युगानुकूल सार रूप में ही प्रस्तुत करना उचित समझा गया, अतः उसे पांच भागों में विभक्त करके दिया गया है। आत्मसिद्धि शीर्षक प्रकरण खास तौर से इसलिए दिया गया है कि आज के वैज्ञानिक लोग बिना वैज्ञानिक पद्धति से कही गई बात को मानने के लिये तैयार नहीं होते हैं।

परिशिष्ट में भगवान् के विहार-स्थलों के नामों का उल्लेख और स्थान का निर्णय श्वे० विद्वानों के द्वारा लिखित आधारों पर से किया गया है।

अन्त में विद्वान पाठकों से निवेदन है कि इसमें वे जो भी उचित संशोधन सुझायेंगे, उन्हें सहर्ष स्वीकार किया जायगा ।

ऐलक पन्नालाल दि० जैन

सरस्वती भवन, ब्यावर

दि० 31-12-1972

हीरालाल सिद्धांतशास्त्री

प्रस्तावना

अधिकांश जैनेतर विद्वान् अभी तक यही समझ रहे थे कि जैन धर्म भगवान् महावीर की देन है, किन्तु भारतीय साहित्य के प्रकाश में अब वे लोग भी स्वीकार करने लगे हैं कि जैन धर्म भ० महावीर से पूर्ववर्ती भ० पार्श्वनाथ और भ० नेमिनाथ के समय में भी था। कुछ प्रबुद्ध विद्वान् वेद-भागवत् आदि के उल्लेखों से ऋषभदेव का अस्तित्व भी स्वीकार करने लगे हैं। यहां पर जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध करने का प्रयास नहीं किया जा रहा है किन्तु भ० महावीर की महत्ता का और उनके द्वारा किये गये लोकोद्धारक कार्यों को बताने का प्रयास किया जा रहा है। प्रस्तुत चरित में उनके जीवन की शास्त्र-वर्णित कुछ घटनाओं का केवल सिंहावलोकन किया जा रहा है।

भ० महावीर कितने महान थे, उनका ज्ञान कितना विशाल था, इसे उनके ही समकालीन म० बुद्ध के शब्दों में देखिए-

“ एक मिदाहं, महानाम, समयं राजंगहे विहरामि गिज्फकूटे पव्वते। तेन खो पन समयेन संबहुला निगण्ठा इसिगिलिप्यस्से कालसिलायं उव्वत्थका होन्ति आसन पटिक्खता, ओपक्कमिका दुक्खा तिप्पा कटुका वेदना वेदयन्ति। अथ को हं, महानाम, सायण्ह समयं पटिसल्लाणा वुद्धितो येन इसिगिलि पस्सम काणसिला येन ते निगण्ठातेन उपसंकमिम्। उणसंकमितेवा ते निगण्ठे एतदवोचमः किन्नु तुम्हे आवुसो निगण्ठा उव्वट्टका आसन-पटिक्खिता, ओपक्कमिका दुक्खा तिप्पा कटुका वेदना वेदियथाति। एवं वुत्ते, महानाम, ते निगण्ठा मं एतदबोचुं, निगण्ठो, आवुसो नाठपुतो सव्वज्जु, सव्वदस्सावी अपरिसेसं ज्ञान दस्सनं परिजानातिः चरतो च मे तिठ्ठतो च सुत्तस्स च जागरस्स च सततं समितं ज्ञानदस्सनं पक्कपट्ठितंतिः, सो एवं आहः अत्थि खो वो निगण्ठा पूब्बे पापं कम्मं कतं, तं इमाय कटुकाय दुक्करिकारिकाय निज्जरेथ यं पनेत्थ एतरहि कयेन संवुत, वाचाय संवुता तं आयतिं पापस्य कम्मस्स अकरणं, इति पुराणानं कम्मानं तपसा व्यन्तिभावा नवानं कम्मानं अकरणा आयतिं अनवस्सवा कम्मक्खयो, कम्मक्खया दुक्खक्खयो, दुक्खक्खया वेदनाक्खयो वेदनाक्खया सव्वं दुक्खं निज्जिण्णं भविस्सति तं च पन अम्हाकं रुच्चति चेव खमति च तेन च आम्हा अत्तमना ति। ” (मज्झिमनिकाय, पेज 92-93)

भावार्थ- म० बुद्ध कहते हैं: “हे महानाम, मैं एक समय राजगृह में गृद्धकूट नामक पर्वत पर विहार कर रहा था। उसी समय ऋषिगिरि के पास काल शिला (नामक पर्वत) पर बहुत से निर्ग्रन्थ (जैन मुनि) आसन छोड़ उपक्रम कर रहे थे और तीव्र तपस्या में प्रवृत्त थे। हे

महानाम, मैं सायंकाल के समय उन निर्ग्रन्थों के पास गया और उनसे बोला, अहो निर्ग्रन्थ, तुम आसन छोड़ उपक्रम कर क्यों ऐसी घोर तपस्या की वेदना का अनुभव कर रहे हो?" हे महानाम, जब मैंने उनसे ऐसा कहा तब वे निर्ग्रन्थ इस प्रकार बोले, अहो निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र (महावीर) सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं, वे अशेष ज्ञान और दर्शन के ज्ञाता हैं।

हमारे चलते, ठहरते, सोते, जागते समस्त अवस्थाओं में सदैव उनका ज्ञान और दर्शन उपस्थित रहा है। उन्होंने कहा है- "निर्ग्रन्थो, तुमने पूर्व (जन्म) में पापकर्म किये हैं, उनकी इस घोर दुश्चर तपस्या से निर्जरा कर डालो। मन, वचन और काय की संवृत्ति से (नये) पाप नहीं बंधते और तपस्या से पुराने पापों का व्यय हो जाता है। इस प्रकार नये पापों के रुक जाने से कर्मों का क्षय होता है, दुःखक्षय से वेदनाक्षय और वेदनाक्षय से सर्व दुःखों की निर्जरा हो जाती है।" इस पर बुद्ध कहते हैं कि यह कथन हमारे लिए रुचिकर प्रतीत होता है और हमारे मन को ठीक जंचता है।"

मज्झिमनिकाय के इस कथन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि भ० महावीर अपने समय में एक महान् तत्त्ववेत्ता, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी के रूप में प्रसिद्ध थे। भ० महावीर के सिद्धान्त कार्यकारण संबंध पर आधारित हैं, अतः वे सब वैज्ञानिक, बुद्धिगम्य एवं ग्राह्य हैं।

भ० महावीर ने दार्शनिक क्षेत्र में स्याद्वाद सिद्धान्त को प्रतिपादन करके समन्वयवाद को प्रस्तुत किया और उससे परस्पर-विरोधी दार्शनिक शान्त हुए तथा उनके अनुयायी बने। दार्शनिक क्षेत्र के सिवाय धार्मिक क्षेत्र में धर्म के नाम पर यज्ञों में जीव हिंसा प्रचुरता से हो रही थी, उसका अन्त ही नहीं किया, अपितु अहिंसा के प्रचार द्वारा लोक में विश्व-बन्धुत्व की भावना जागृत की। भगवान् महावीर ने वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति के स्थान पर हिंसा को महापाप बताकर 'अहिंसा परमो धर्मः' का उद्घोष किया। स्व० लोकमान्य तिलक जैसे कट्टर सनातनी महापुरुष तक ने यह स्वीकार किया है कि भारतवर्ष से याज्ञिकी हिंसा के उठाने और अहिंसा के प्रचार का श्रेय भ० महावीर और उनके अनुयायी जैनियों को है।

आज यद्यपि याज्ञिकी हिंसा नहीं है, धर्म के नाम पर क्वचित् कदाचित् ही पशुबलि की घटनाएं सुनी जाती हैं, पर मांस-भक्षण और मदिरापान का प्रचार दिन पर दिन उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है और उसमें भी सबसे अधिक दुःख की बात यह है कि तब पराधीन भारत में और विदेशी शासकों के समय में भी शासकों की ओर से कभी भी कसाई खाने नहीं खोले गये और न मांस-भक्षण का प्रचार ही किया गया। किन्तु अब स्वतन्त्र भारत में और अहिंसा के हिमायती

नेताओं और शासक वर्ग के द्वारा उसका प्रचार किया जा रहा है!!! अतः आज भ0 महावीर के अनुयायियों का यह सबसे पहला कर्तव्य है कि वे मांसाहार के विरुद्ध जनमत जागृत करें।

भ0 महावीर ने जितना जोर द्रव्यहिंसा के त्याग पर दिया है, उससे भी कई गुणा जोर भावहिंसा के त्याग पर दिया है। आज का मानव इस भावहिंसा को हिंसा ही नहीं समझता है, यही कारण है कि आये दिन युद्ध होते हैं, और विभिन्न जातियों में संघर्ष चलते हैं। भ0 महावीर के सम्मुख भी आर्य-अनार्य की समस्या उपस्थित थी। विजेता आर्य लोग पराजित अनार्यों और गरीब आर्यों को भी क्रीतदास बना लेते थे और उनके साथ पशु-तुल्य व्यवहार करते थे। भ0 महावीर के समय में पराजित राज्य के स्त्री-पुरुष चौराहों पर खड़े कर खुले आम बेचे जाते थे और खरीदने वाला उन्हें पशुओं जैसा रूखा-सूखा भोजन देकर रात-दिन घरु कार्य कराया करता था। ऐसे क्रीतदासों को तात्कालिक समाज हीन दृष्टि से देखती थी और उत्तम कुल के लोग उसके हाथ का पानी पीने में भी अपमान समझते थे। साधना काल में भ0 महावीर ने इस दासी-दास प्रथा का सर्वत्र बाहुल्य देखा और एक ऐसा अभिग्रहण किया कि छह मास तक उन्हें निराहार रहना पड़ा। अन्त में अभिग्रह के अनुसार उनकी प्रतिज्ञा चन्दना के द्वारा आहार दिये जाने पर पूर्ण हुई। इससे केवल एक चन्दना का ही उद्धार नहीं हुआ, अपितु उस जैसी हजारों-लाखों दासों दासियों का उद्धार हुआ है।

इसी प्रकार शूद्रों के साथ भी बड़ा नीच व्यवहार किया जाता था उन्हें अस्पृश्य उनसे परहेज किया जाता था। उन्हें धर्मशास्त्र पढ़ना तो दूर रहा-सुनने तक का भी अधिकार नहीं था, भ0 महावीर ने अपने चतुर्विध संघ में बिना किसी भेद-भाव के चतुर्वर्ण के लोगों को स्थान दिया, जिससे उन्हें सामाजिक एवं धार्मिक महत्व प्राप्त हुआ।

भ0 महावीर से पूर्व जनता ऐश्वर्य के मद में पथ-भ्रष्ट हो रही थी। ईश्वर और उसके पुजारियों को पूजकर ही वह अपने को कृतकृत्य मानती थी। भ0 महावीर ने सबको सम्बोधित करते हुए कहा- कि प्राणी मात्र समान है, और प्रत्येक के भीतर ज्ञान-दर्शन शक्ति का धारक चेतन आत्माराम विराजमान है। उनके इस सम्बोधन ने जनता को अपने भीतर स्थित सर्व शक्तिमान आत्मा के दर्शन कराये और बताया कि तुम्हारे सुख-दुःख का कर्ता-धर्ता कोई दूसरा नहीं है। मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का विधाता एवं भविष्य का निर्माता है।

भ0 महावीर के इस उपदेश से लोगों का ईश्वरकर्तृक भ्रम दूर हुआ, और अपने कर्म पर विश्वास बढ़ा कर वे आत्म कल्याण की ओर आगे बढ़े। भ0 महावीर के इस कर्मवाद के उपदेश से ही प्रबुद्ध लोगों ने ईश्वर कर्तृत्ववाद से छुटकारा पाया।

भ० महावीर के समय तक लोग धन-वैभव की प्राप्ति को पुण्य का फल मानकर जिस किसी भी प्रकार से परिग्रह का संचय करके अपने को भाग्यशाली मानते थे। परन्तु भ० महावीर ने हिंसा-झूठ चोरी के समान परिग्रह को भी एक पाप बताया और उसके त्याग को धर्म बताकर लोगों को त्याग का पाठ पढ़ाया। भ० महावीर के इस परिग्रह-त्याग के उपदेश का यह प्रभाव हुआ कि बड़े-बड़े राजा-महाराजा और पूंजीपति स्वेच्छा से उसके त्यागी महाव्रत धारी बन गये और जो परिस्थिति-वश परिग्रह का सर्वथा त्याग नहीं कर सके उन्होंने उसका परिमाण कर अपनी आवश्यकता से बचे धन का लोकहित के कार्यों में विनियोग किया।

प्रस्तुत चरित में एक आनन्द श्रावक के चरित का चित्रण किया गया है, ऐसे एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाओं के परिग्रह परिमाण व्रती होने का शास्त्रों में स्पष्ट उल्लेख है। उपासक दशा सूत्र में आनन्द आदि 10 प्रमुख श्रावकों को अटूट सम्पत्तिशाली होने और उसके परिमाण करने का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। आज के समय में इस अपरिग्रह वाद की उस समय से भी अधिक आवश्यकता है।

आत्म स्वातंत्र और स्वभाग्य निर्माण

भ० महावीर ने योग साधना करके मन-वचन-काय की क्रियाओं को अपने आधीन किया था। वह पूर्ण पुरुष जीवन-मुक्त परमात्मा हुए थे। सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होकर ही उन्होंने बहके हुए लोक को सत्य-संदेश दिया था। समाज निर्माण का आधार स्तंभ उन्होंने व्यक्ति को माना था। पुरुष अथवा स्त्री ही वह मौलिक इकाई है जिसके आधार से समाज बनता है, बढ़ता अथवा बिगड़ता है। व्यक्ति के सुधार और आत्मोद्धार में ही समष्टि का अभ्युत्थान अन्तर्निहित है। व्यक्ति अपना सुधार किये बिना अथवा अपना ज्ञान पाये बिना, लोक को न जान सकता है और न उसका उपकार कर सकता है। सच देखा जाय तो भ० महावीर ने लोगों को स्वाधीन करने की शिक्षा दी। कोई भी जीव किसी भी जीव का भला-बुरा कुछ भी नहीं कर सकता। प्रत्येक जीव अपने भाग्य का स्वयं निर्माता और भोक्ता है। अपने जीवन को उन्नत अथवा अवनत प्रत्येक जीव स्वयं बनाता है। इसलिए ही मानव को सावधान करते हुए जगद्गुरु भ० महावीर ने प्रत्येक प्राणी के लिए आवश्यक ठहराया कि वह विचारे (1) कौन सा काल है? (2) उसका कौन सा जन्म है? (3) वह किस तरह का वर्ताव करे?

(4) इस जन्म में उसका हितकारी कर्म क्या है? (5) परलोक के लिए उसका हित किसमें है?

(6) उसका अपना हित क्या है? (7) और उससे भिन्न अन्य क्या है?

जो विवेकवान व्यक्ति इन प्रश्नों पर ध्यान नहीं देता और आत्मा के स्वरूप को नहीं पहचानता, उसके सब ही व्यवहार और कार्य संसार दुःख को बढ़ाने वाले होते हैं। वह न अपना भला कर सकता है और न लोक का। समय का जिसे ज्ञान नहीं, वह जीवन के मूल्य को नहीं आंक सकता। समय बड़ा बलवान है। अनुकूल समय पर ही श्रम से बोया गया बीज फल देता है। मानव समय की स्थिति को जानकर के अपने ऐच्छिक जीवन का लेखा-जोखा करे, तो ही वह जीवन में सफलता पा सकता है। मानव का जन्म सर्वश्रेष्ठ लाभ है। मनन करने की शक्ति पाने के कारण ही वह मानव हुआ है। अतः अपने मानव जन्म की सार्थकता के लिए मानव को मनन करना उपादेय है अपने जन्मगत स्थिति का ठीक परिचय पाकर ही वह आत्मगौरव अनुभव करता और अपने पूर्वजों के पद-चिन्हों पर चलने के लिए तत्पर होता है। इस प्रकार स्वात्माभिमान को लेकर ही मानव अपने आसपास के साथियों से ऐसा बर्ताव करता है, जिसमें सब सुखी होते और गौरव अनुभव करते हैं। 'स्वयं जिओ और अपने साथियों को जीवित रहने दो'- यह तो सामान्य नियम है प्रकृति का, किन्तु मानव तो विशिष्ट व्यक्ति है। उसकी विशेषता इसी में है कि वह दूसरों को सफल जीवन बिताने में सहायक हो। स्वपर-आत्म-कल्याण वह करे, यही उसके लिए हितकारी है। इस जन्म में भी और दूसरे जन्म में भी। शरीर से भिन्न मानव देह को जाज्वल्यमान करने वाला आत्मा महान है। उसका प्रकाश जीवन पथ आलोकित करे, यह मानव जीवन का महान लाभ है। इस लाभ से वह सुन्दर और समुज्ज्वल भविष्य का निर्माण करता है। मानव की दृढ़ श्रद्धा होती है कि उसकी अपनी वस्तु केवल आत्मा है, जो दर्शन और ज्ञान का पुंज है। आत्म बल को विकसित करके मानव पूर्ण दृष्टा और ज्ञाता बने, तो वह पूर्ण सुखी होता है और उसके साथ लोक भी। लोक में आत्मा शाश्वत रहने वाली वस्तु है। शरीर और इन्द्रिय भोग क्षणिक हैं। शरीर भौतिक अंशों का जो बना है। काल पाकर अंशों का समुदाय विघटित होता ही है। वाहय ऐश्वर्य भौतिक दृष्टि के लिए मोहक अवश्य है, किन्तु अन्तर्दृष्टा जानता है कि सुख भौतिक- भोगों में नहीं है- इन्द्रियवासना में फंसना शरीर का दास बनना है। अच्छा खाना-पीना, अच्छा पहनना-ओढ़ना, अच्छा रहना-सहना, अच्छी सुख-सम्पदा कुछ समय के लिए भले ही सुखाभास में मन को मोह ले, किन्तु परिणाम उनका कटु ही होता है। रोग-शोक, आतंक-भय, लूट-खसोट, जन्म-मरण क्या शरीर के साथ नहीं लगे हैं? फिर भौतिक जीवन की श्रेष्ठता मात्र को ही कैसे जीवन सफल माना जाये ? जो वस्तु अपनी नहीं है और न अपने स्वभाव के अनुकूल है, वह कैसे व्यक्ति के पास हमेशा रह सकती और सुखी बना सकती है? आत्मा ही स्व-वस्तु है। उसका बल, ज्ञान, दर्शन, सुख कभी मिटने वाला नहीं। इसलिए व्यक्ति स्वाधीन बने-अपनी आत्मा को ही अपना सर्वाधिकारी माने और उसके धर्म-

शासन-ज्ञान दर्शन के विकास को अपनी सम्पत्ति माने, तभी वह पर-पदार्थ की बांछा रूपी बन्धन से छूट कर मुक्त प्रभु बन सकता है। न जन्म में महानता है और न जाति में विशेषता है- महानता और विशेषता हमारे अन्तर में विद्यमान है। अतः अन्तरात्मा बनकर लोक में विचरो। भ० महावीर की इस स्वाधीन आत्म-स्वातंत्र्य और स्वभाग्य निर्माण की शिक्षा ने लोक को नया जीवन दिया। मतवाद की मदिरा को पीना लोक भूल गया- कुल जाति के मद में वह पागल न रहा और पशु यज्ञों के स्थान पर इन्द्रिय वासना का दमन करना उसने सीखा। भ० महावीर के अन्तर-दर्शन पाकर लोक की कायापलट हुई थी। यह भ० महावीर की महान विजय थी।

तीर्थंकर पद का महत्व

जो आत्मा कल्याणकारी तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं, वे तीर्थंकर कहलाते हैं। तीर्थंकर धर्म तीर्थ की स्थापना करते हैं, उसके सहारे जगत के प्राणी संसार-सागर को पार कर सुख के आगार-शिवसदन को प्राप्त करते हैं। तीर्थंकर पद सहज में ही नहीं प्राप्त हो जाता, किन्तु उसके लिए अनेक जन्मों की साधना आवश्यक है। प्रस्तुत चरित में वर्णित पूर्व भवों से पाठक जान सकेंगे कि सिंह के भव से भ० महावीर के जीव का विकास उत्तरोत्तर वृद्धिगत् होता गया और अन्त में वे तीर्थंकर रूप से संसार के सामने आये।

सामान्य सर्वज्ञ या केवली हो जाना सरल है। प्रत्येक तीर्थंकर के समय में सहस्रों सामान्य केवली होते हैं। किन्तु तीर्थंकर केवली होना सरल नहीं है। जो केवल अपने भले-बुरे की चिन्ता कर अपने ही सुधार में लगते हैं, वे सामान्य केवली होकर मुक्ति प्राप्त करते हैं। किन्तु जो आत्मोद्धार के साथ पर उद्धार भी करते हैं। बल्कि इसकी अपेक्षा यह कहना अधिक युक्ति संगत होगा कि जो आत्म उद्धार की अपेक्षा दूसरों के दुःखों को देखकर और करुणा से द्रवित होकर उनके उद्धार की प्रबल भावना करते हैं वे ही तीर्थंकर होते हैं। इसका बड़ा सुन्दर चित्रण पं० आशाधर जी ने इन शब्दों में किया है +--

श्रेयोमार्गानमिज्ञानिह भवगहने जाज्वलद्दुःखदावस्कन्धे

चङ्क्रभ्यमाणानतिचकितमिमानुद्धरेयं वराकान्।

इत्यारोहत्परानुग्रहरसविलसद्भावनोपापपुण्य

प्रक्रान्तैरेव वाक्यैः शिवपथमुचितान् शास्तियोर्हन् स नौ अव्यात् ।

(अनगार धर्मावृत अ०१ श्लोक ०२)

भावार्थ- जो जीव कल्याण-मार्ग से अनभिज्ञ है, इस विकट गहन भव वन में आधि-व्याधि आदि नाना प्रकार के दुःखों की ज्वाला में जलकर परित्राण पाने के लिए इधर-उधर भाग रहे हैं- बचने के लिए छटपटा रहे हैं, इन हीन-वराक प्राणियों का कैसे उद्धार हो, मैं इनका उद्धार करूं। इस प्रकार के अनुग्रह और करुणा रस से भरी हुई भावनाओं के बल से जो तीर्थंकर प्रकृति का लोकातिशायी पुण्य उपार्जन करते हैं, उसके उदय आने पर अपने दिव्य वचनों के द्वारा संसार को प्रशस्त शिव-पथ की देशना देते हैं, वे ही तीर्थंकर कहलाते हैं। और वे ही जगत को शरण देकर उसका उद्धार करते हैं।

उनकी पूर्व भवों में भाई गई विश्व बन्धुत्व की ओर सर्वजीवोद्धार की भावना का ही यह सुफल होता है कि उनके जन्म लेने के पहले ही उनके पुण्योदय से जन्म-स्थल और समीपवर्ती क्षेत्र का वातावरण एकदम शान्त हो जाता है और केवल्य प्राप्ति कर लेने पर तो उनका प्रभाव सैकड़ों कोसों तक चारों ओर फैल जाता है। मानव की तो कहे कौन, जाति-विरोधी क्रूर हिंसक जानवर भी अपना जन्म गत वैर भाव भूल जाते हैं और सिंह-गाय एक घाट पर पानी पीते और एक साथ बैठते-उठते दृष्टिगत होने लगते हैं।

तीर्थंकरों के इस विश्व मैत्री भाव का प्रभाव वर्णन करते हुए शास्त्रों में लिखा है—

“सारंगी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दनी व्याघ्रपोतं

मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकांता भुजंगीम्।

वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवो अन्ये त्यजन्ति

श्रित्वा साम्येकरुढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम् ॥ “

अर्थात्- यह हरिणी सिंह के बच्चे को अपना बालक समझकर और यह गाय व्याघ्र के बच्चे को अपना बछड़ा जानकर प्रेम कर रही है- उसे चाट रही है। प्रेम के वश हो बिल्ली हंस के बच्चे से और नागिन मोर से स्नेह कर रही है। यही नहीं किन्तु और भी परस्पर विरोधी जीव, इन पाप और मोह रहित शान्त स्वरूप, परमयोगी श्री वर्धमान भगवान् की शरण लेकर वैराग्य-भाव धारण कर और मद रहित हो अपने अपने स्वाभाविक वैर को छोड़ रहे हैं।

अनेक जन्मों में सत्य और अहिंसा की साधना करके ही मनुष्य अपने को इस योग्य बना पाता है कि सत्य और अहिंसा का प्रकाश उसके सर्वांग से रोम-रोम से प्रकट हो।

सर्वोदय तीर्थ

भ० महावीर के इस तीर्थ का प्रभाव देखकर प्रसिद्ध दार्शनिक एवं आप्तपरीक्षक दिग्विजयी समन्तभद्राचार्य ने उनके तीर्थ को 'सर्वोदय तीर्थ' कह करके उनकी स्तुति इन शब्दों में की है-
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव। (युत्तयनुशासन श्लोक 62)

अर्थात्- हे वीरजिन, आपका यह तीर्थ रूप शासन सर्व प्राणियों की आपदाओं का अन्त करने वाला है, एकान्तवादियों के द्वारा अखण्डनीय है और सर्व प्राणियों के अभ्युदय का करने वाला है अतः सर्वोदय तीर्थ है।

किसी भी तीर्थ के लिए यह आवश्यक है कि उसका आधार समता और अहिंसा हो, भ० महावीर के दिव्य उपदेशों में ये दोनों बातें पद-पद में दृष्टिगोचर होती हैं। यही कारण था कि उनके समवसरण में ऊंच-नीच, रंक-राव, अज्ञान और सुज्ञान सब समान रूप से एक ही स्थान पर बैठते थे।

वास्तव में तीर्थंकर का महत्त्व उनकी आत्मा के पूर्ण विकास में एवं उनकी परम विशुद्धि में निहित है और वही मानव के लिए उपादेय है। मनुष्य उसी प्रकार से अपने को शुद्ध कर महान बन सकता है। आत्म शक्तियों और गुणों का विकास करके ही मानव महा मानव और आत्मा परमात्मा बनता है। तीर्थंकर जैसे महामानव इसी महान आदर्श का मार्ग बतलाते हैं और इसी कारण वे तीर्थंकर परमात्मा, परम ज्योति आदि नामों से कहे जाते हैं। मूल में वे हमारे आपके समान मनुष्य थे और अपनी साधना-द्वारा वे महान एवं जगत्पूज्य बने हैं।

भ० महावीर के पूर्व भवों पर एक दृष्टि

भ० महावीर के जितने पूर्व भवों का वर्णन शास्त्रों में मिलता है, उसमें पहला भव भील का है। वन में मार्ग को भूलकर लता-गुल्मों के बीच में से इधर से उधर जाने पर उनको हिलता हुआ देखकर वह भील हरिण होने की आशंका से उसे मारने के लिए धनुष पर वाण रखता है, पर उसकी स्त्री को साधु के स्पष्ट दिख जाने से वह वन देव विचर रहे हैं ऐसा कहकर उसे रोक देती है। दोनों साधु के समीप पहुंचते हैं और वे उसे भव्य देखकर जीवहिंसा और मांस-भक्षण नहीं करने का उपदेश देते हैं। पाठक विचार करें कि जो जन्म से ही जंगली जानवरों को मारकर खाता हुआ आ रहा हो, वह किसी के कहने मात्र से उन कामों को कैसे छोड़ देगा। यहां आप स्वयं सोचें कि किस प्रकार साधु ने उसे समझाया होगा? दोनों ओर का संवाद इस प्रकार मिलता है- जब भील अपनी स्त्री के साथ साधु के समीप पहुंचता है तो उनकी प्रशान्त

मुद्रा को देखकर न दोनों ने उन्हें नमस्कार किया। साधु ने उन्हें धर्म लाभ हो, ऐसा आशीर्वाद दिया।

भील- धर्म क्या वस्तु है?

साधु- जीवों को नहीं मारना धर्म है?

भील- तो हम खायें क्या?

साधु- देखो-जंगल में भी ये नाना प्रकार के फल वाले वृक्ष हैं और वे विभिन्न ऋतुओं में नाना प्रकार के फल देते हैं, उन्हें खाकर जीवन निर्वाह कर सकते हो। खेतों में धान्य उत्पन्न होता है, उससे अपनी भूख मिटा सकते हो।

भील- पर इसमें झंझटें अधिक हैं, हमारा धन्धा सुखद है।

साधु- यह सुखद नहीं, किन्तु महा दुखद है। जैसे तुम्हारे शरीर में कोई शस्त्र छेदे, तुम्हारे शरीर को काटे तो तुम्हें दुःख होता है, इसी प्रकार जिसे तुम मारते हो, उसे भी इसी प्रकार का दुःख होता है। इसीलिए दूसरों की हिंसा करना महापाप है, उसके फल से इस भव में ही नाना प्रकार के रोगादिक का कष्ट सहन करना पड़ता है और परभव में दुःखों के भंडार नरक में जाकर असंख्यकाल तक दुःख सहना पड़ते हैं। इस प्रकार साधु ने विस्तार से और पुण्य-पाप का निरूपण कर उसे धर्म-अधर्म का अन्तर समझाया और उसने जीव हिंसा तथा मांस भक्षणादि का त्याग कर दिया।

मारीचि के भव में जहां अपने पितामह भ० ऋषभदेव के साथ दीक्षित होने में उसका बाल-सुलभ भोलापन दृष्टिगोचर होता है, वहीं दो स्थलों पर उसकी अहंकारिता और स्वेच्छाचारिता दृष्टिगत होती है। प्रथम तो उस समय -जब वह कहता है कि जैसे ऋषभदेव साधना करके जिन और सर्वज्ञ बन गये हैं उसी प्रकार मैं भी अपनी साधना के द्वारा जिन और सर्वज्ञ बन जाऊंगा। इस अहंकारी भाव के जगने से वह अपने अनेक साथियों के पुनः दीक्षा ले लेने पर भी भ० ऋषभदेव की शरण में नहीं गया और स्वेच्छाचारी बना रहा।

दूसरे उसकी स्वेच्छाचारिता उस समय प्रकट होती है जब भरत चक्रवर्ती से उसे ज्ञात होता है कि मैं इस युग का आदिनारायण और अन्तिम तीर्थंकर होने वाला हूं। तब वह सोचता है कि भ० ऋषभदेव का वचन अन्यथा नहीं हो सकता है, अतः अब मुझे उनका अनुयायी होने और कठोर साधना करने की क्या आवश्यकता है? पाठक देखेंगे कि मारीचि की इन दोनों

भ्रान्तियों ने कुछ कम एक कोड़ा कोड़ी सागरों तक अर्थात् असंख्य काल तक त्रस-स्थावर की क्षुद्र योनियों में परिभ्रमण कराया।

इसके पश्चात् भ० महावीर का एक उल्लेखनीय विश्वनन्दी का भव है। जहां एक ओर तो वह अपने चचेरे भाई की एक अनधिकार चेष्टा से विरक्त हो साधु बन जाता है और कठोर तपश्चरण करता है। दूसरी ओर मासोपवास की पारणा के लिए जाते हुए गाय के धक्के से गिरने पर उसी चचेरे भाई के व्यंग वचन से व्यथित होकर परभव में उससे बदला लेने का निदान करता है और अपने किये कराये तपश्चरण पर पानी फेर देता है। यद्यपि तप के प्रभाव से वह स्वर्ग गया और वहां से आकर प्रथम नारायण भी बना तथापि नारायण के भव में किये गये रौद्र कार्यों से उसे सप्तम नरक के महादुःखों को सहना पड़ा और निकल कर सिंह पर्याय पाकर फिर भी नरक में जाना पड़ा।

इसके बाद महावीर के सिंहभव पर दृष्टि जाती है। जब साधु उसे हरिण को खाते हुए देखते हैं। यहां प्रथम तो साधु का आत्म बल और निर्भयता द्रष्टव्य है कि वे एक हरिण को खाते हुए सिंह के समीप निर्भय होकर पहुंचते हैं और पूर्ण आत्मबल से उसे सम्बोधन करते हैं। इस स्थल पर रघु कवि के शब्द उल्लेखनीय हैं, जब वे कहते हैं कि 'भाई, जाग-जाग, चेत-चेत।' मरीचि के भव में की हुई भूल से तुझे संसार में भटकते और असीम दुःख सहते असंख्यकाल बीत गया है। मृगराज, तुमने भील के भव में जीव घात करना और मांस खाना छोड़ा था, उस अहिंसा धर्म के प्रभाव से तुम स्वर्ग गये और पुनः मरीचि हुए। पीछे त्रिपृष्ठ के भव में पुनः हिंसक कार्य किये और नरकों के दुःख भोगे। अब सुख चाहते हो तो इस हिंसा को और मांस भक्षण को पुनः छोड़ो जिससे तुम्हारा इस दुर्गति से छुटकारा हो सके।

पाठक सहज ही कल्पना कर सकते हैं कि साधु के इन उद्बोधक वचनों को सुनकर सिंह पर क्या प्रभाव पड़ा? उक्त वचनों को सुनते ही सिंह को पूर्वभव याद आये और उसने आंसू बहाते हुए साधु के चरणों में नतमस्तक हो कर सदा के लिए जीव घात और मांस भक्षण छोड़ दिया। यतः मास के सिवाय सिंह का अन्य पदार्थ आहार नहीं है अतः वह जीवन भर निराहार रहकर साधु के वचनों का पालन करने लगा। यह साधु के उत्कृष्ट प्रभाव का एक उदाहरण है।

भ० महावीर- कालीन भारत की स्थिति

भ० महावीर के जन्म लेने से पूर्व भारत वर्ष की सामाजिक और धार्मिक स्थिति बड़ी विकट एवं मार्मिक थी, इसका एक चित्रण चरित्र के प्रारम्भ में किया गया है।

आर्थिक स्थिति- उस समय यहां पर आर्थिक संकट नहीं था। आज कल जैसा दारिद्र और दुष्काल उस समय कहीं नहीं दिखाई पड़ता था। सर्व ओर सम्पन्नता और सुकाल ही दिखाई देती है। जैन शास्त्रों में दिये गये नगरों की समृद्धि के वर्णन इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। उनमें तालाब, बावड़ी, सभागृह, नाट्यशाला आदि आमोद-प्रमोद की सामग्री सर्वत्र सुलभ थी।

सामाजिक स्थिति- उस समय समाज में शिक्षा का प्रचार पर्याप्त था। शिक्षा केन्द्र गुरुकुल थे, जहां अमीर और गरीब सभी प्रकार के बालक एक साथ बिना किसी भेद भाव से रहते और शिक्षा ग्रहण करते थे। फिर भी कामुकता की मात्रा उस समय अधिक थी और जो पुरुष जिस कन्या पर मोहित हो जाता, वह उसे ले उड़ता था। चन्दना का उदाहरण इसका प्रमाण है। महलों में झूलती हुई राजकुमारी चन्दना को एक कामान्ध विद्याधर ले भागता है और अपनी स्त्री को पीछा करती हुई देखकर वन में छोड़ भाग जाता है। वहां का सरदार भी उसके साथ दुराचार करना चाहता है, पर वह किसी प्रकार आत्म रक्षण कर लेती है, तब वह नगर के चौराहे पर खड़ी करके बेंच दी जाती है। उस समय वैवाहिक बन्धन आजकल जैसे जटिल नहीं थे और प्रायः अन्तर्जातीय और विजातीय विवाह होते थे।

धार्मिक स्थिति- उस समय भारत में धार्मिक अराजकता चारों ओर फैली हुई थी। दस-बीस नहीं, किन्तु पूरे तीन सौ तिरेसठ मत-मतान्तर प्रचलित थे। अज्ञानान्धकार में पड़े लोग ज्ञानज्योति पाने के लिए लालायित थे। उस समय दो विभिन्न विचार-धाराएं बह रही थी- एक श्रमण परम्परा और दूसरी ब्राह्मण परम्परा। साधारण जन-मानस पर ब्राह्मण-परम्परा का प्रभुत्व छाया हुआ था और लोग उससे बहुत आतंकित थे। बौद्ध-ग्रन्थों में ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि सर्व साधारण इस बात की प्रतीक्षा कर रहा था, कि कोई महापुरुष कब जन्म लेगा और हमारे इस आतंक को हमारे ऊपर होने वाले इन अत्याचारों को दूर करता है। इसका कारण यह था कि भ० महावीर से पूर्व भ० पार्श्वनाथ को मोक्ष गये केवल पौने दो सौ वर्ष ही हुए थे और लोग अपने वृद्धजनों से यह सुनते आ रहे थे कि आजकल में किसी महापुरुष का जन्म होने वाला है। लोग कहीं किसी विशिष्ट ज्ञानी का नाम सुनकर एक दूसरे से पूछते थे- क्या बुद्ध, अर्हन् और सर्वज्ञ लोक में उत्पन्न हो गये हैं? ऐसे ही समय में पहले भ० बुद्ध का जन्म शुद्धोदन के यहां हुआ, वे स्वयं पार्श्वनाथ परम्परा के अनुयायी श्रावक थे। बुद्ध भ० महावीर से पहले प्रव्रजित हुए थे और लगभग छह वर्ष तक दिगम्बर साधु रहे थे, अतः सर्व साधारण में उनका नाम प्रसिद्ध हो गया। उस समय ब्राह्मण परम्परा के विरोधी जैन तीर्थंकरों की परम्परा श्रमण-परम्परा के नाम से प्रसिद्ध थी। ब्राह्मण- जहां अपने

उच्च वर्ण में जन्म लेने और वेद-वेदांग के ज्ञाता और यज्ञादि क्रिया काण्डों के विधाता होने के कारण अपने को उच्च और अपने से भिन्न शेष त्रिवर्ण को नीच या तुच्छ मानते थे, वहां श्रमण परम्परा के मूलतः प्रवर्तक तो क्षत्रिय-लोग थे- क्योंकि सभी तीर्थकरों का जन्म क्षत्रिय-वंशों में ही हुआ था। फिर भी उन्होंने अपने क्षत्रिय-वर्ण की उच्चता का अभिमान करके अपनी परम्परा को क्षत्रिय परम्परा नहीं कहा। किन्तु श्रमण परम्परा कहा। इसका रहस्य इसी शब्द के भीतर छिपा हुआ है। श्रमण शब्द प्राकृत 'समण' का एक संस्कृत रूप है। जब कि समण के संस्कृत रूप शमन और समन भी होते हैं। श्रमण शब्द का अर्थ श्रमशील है। जो अपना काम स्वयं करता है, अन्य से नहीं कराता, तथा ज्ञान, ध्यान और तप में परिश्रम करने वाला उनमें संलग्न रहने वाला होता है। 'शमन' का अर्थ अपनी कषायों को और दुष्प्रवृत्तियों को शमन करना है। और 'समन' का अर्थ सब में समभाव रखने वाला होता है।

इस प्रकार 'समण' शब्द का समुच्चय अर्थ होता है कि जो अपना कार्य स्वयं करता है, अपनी कषायों को शान्त करता है और सब प्राणियों पर समभाव रखता है, वह 'समण' कहलाता है। इस प्रकार गुण-निष्पन्न श्रमणों की परम्परा में उक्त गुणों के धारक सभी वर्णों के मनुष्यों का समावेश था। इस विवेचन से यह निष्कर्ष है कि ब्राह्मण परम्परा क्रिया कांडी और वेदज्ञानी ब्राह्मणों की परम्परा थी और उक्त गुणों के धारक सभी वर्णों में उत्पन्न हुए। साधुओं की परम्परा श्रमण परम्परा कहलाती थी।

यद्यपि भ० पार्श्वनाथ तक जैन तीर्थकरों की परम्परा ही श्रमण परम्परा कहलाती थी। पीछे भ० महावीर के समय ब्राह्मण परम्परा का विरोध करने वाली सभी परम्पराओं को श्रमण परम्परा कहा जाने लगा। अतः तीर्थकर परम्परा के अनुयायी अचेलक (सर्वथा वस्त्र-रहित निर्ग्रन्थ दिगम्बर) साधुओं के अतिरिक्त अल्प वस्त्रधारी सचेल बुद्धानुयायी और आजीवक आदि भी श्रमण परम्परा के नाम से कहे जाने लगे।

भ० पार्श्वनाथ के निर्वाण के बाद जब ब्राह्मण परम्परा का प्राबल्य और भी अधिक बढ़ा तो श्रमण परम्परा 'अन्तिम तीर्थकर' की प्रतीक्षा में थी, इसलिए तात्कालिक प्रख्यात धर्म-प्रवर्तक अपने को तीर्थकर घोषित करने का लोभ संवरण नहीं कर सके। उस समय पूर्ण काश्यप, मंखलिगोशाल, संजयवेल पुत्र, अजित केसंबलि, पकुछकात्यायन और शाक्य पुत्र गौतम बुद्ध ये छह मत प्रवर्तक प्रधान थे और इन सब का उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों में तित्थिय (तीर्थक या तीर्थकर) नाम से किया गया है। यद्यपि इन सभी की धार्मिक मान्यताएं विभिन्न थीं और सिद्धान्त भी निर्बल थे। परन्तु ब्राह्मण परम्परा के विरोधी होने और घर-वार छोड़कर साधु

वेश में रहने के कारण सभी श्रमण परम्परा के नाम से प्रख्यात हुए। यद्यपि इन छहों तीर्थकों की मान्यता भिन्न-भिन्न थी, तथापि ब्राह्मण परम्परा का विरोध करने में सब एक मत थे, अतः श्रमण परम्परा के कहलाते थे। जहां ब्राह्मण परम्परा वैदिक मान्यताओं की रक्षा के लिए प्रयत्नशील थी वहां पर उक्त श्रमण परम्परा इसका विरोध करते हुए अपनी-अपनी मान्यताओं के प्रचार में उद्यमशील थी।

पशुघात से भरे रक्त-रंजित यज्ञों से जनता की ग्लानि को तथा श्रमण परम्परा द्वारा किये जाने वाले विरोध को देखकर प्रश्नोपनिषद् के अधिष्ठाता पिप्पलाद, 'मुंडकोपनिषद्' के रचयिता भारद्वाज और कठोपनिषद् के प्रचारक नचिकेतस् आदि ऋषियों ने वैदिक क्रियाकाण्ड में कुछ सुधार का प्रयत्न किया और पशु यज्ञ के स्थान पर ज्ञान यज्ञ करने का उपदेश दिया, परन्तु उनका प्रयास हिंसा-मय यज्ञों को बन्द कराने में समर्थ नहीं हो सका।

पशु यज्ञ की पराकाष्ठा वासना तृप्ति की साधन बनी हुई थी। निर्दोष, दीन, असहाय पशुओं के रक्त से यज्ञ की वेदी लाल-लाल हो रही थी। पशु की बलि देकर यह लोग समझते थे कि देवता प्रसन्न हो गये हैं और वे यजमान की मनोकामना पूर्ण करेंगे, परन्तु ऐसा होता कहीं नहीं था। हां पुरोहित समुदाय को दान-दक्षिणा इसमें खूब मिलती थी। इस भयानक हिंसा प्रवृत्ति ने उस समय सज्जनों के दिलों को दहला दिया था। आखिर भ० महावीर ने उन मूक, निरपराध पशुओं के दुःख पाशों को काट कर उनको जीवन दान दिया था। यज्ञों से हिंसा के विदा होने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। इन करोड़ों निरपराध पशु जीवों को अभयदान देकर उन्होंने निर्भय बनाया और लोक का महान उपकार किया।

निस्संदेह तब वैदिक क्रियाकाण्ड के बहु प्रचार ने धर्मतत्त्व की आत्मा को शुष्क बना दिया था। धर्म-हंस उड़ गया था, पाखंडकलेवर की ठठरी रह गई थी। उस भयंकर ठठरी को छाती से चिपटाये रहने का अज्ञान-मोह मानव समाज को बेहद सता रहा था। सर्वत्र ढोंग और पाखंड छाया हुआ था। अनात्मवाद और कर्मकाण्ड का सार्वभौमिक राज्य था। मानव वाह्य आडम्बर के जाल में फंसे हुए मछली की तरह तड़फड़ा रहे थे। बचना चाहते थे उसकी वेदना से, परन्तु अज्ञान अंधकार में मार्ग नहीं सूझता था। उनकी अन्तरात्मा प्रकाश के लिए चिल्ला रही थी। यज्ञों में होती हुई पशु हिंसा ने अधिकांश मानवों के हृदय निर्दयी और कठोर बना दिये थे। उनके हृदय से जीवन के महत्व और प्रतिष्ठा का भाव उठ-सा गया था। अध्यात्म-उत्कर्ष में उनकी रुचि नहीं थी, वाह्य बातों में ही वे जीवन की श्रेष्ठता मानते थे। अर्थ सम्पन्न युवक और युवतियां वासनामय आमोद-प्रमोद ही में जीवन-उद्देश्य की इतिश्री मान बैठे थे। लूट-मार

और आपसी लड़ाई-झगड़े बढ़े हुए थे। ऐसे लोगों को झूठा विश्वास करा दिया गया था कि यज्ञ करने से बुरे कर्मों का फल नष्ट हो जाता है। फिर भला वे पाप से क्यों डरते? और क्यों पाप से कलुषित आत्मा की कालिमा को नष्ट करने के लिए पश्चाताप, आलोचना और प्रायश्चित्त की प्रचण्ड अग्नि उद्दीपित करते? वह तो मानते थे कि केवल यज्ञ के मांस-दुर्गन्धाभिसिक्त धूम से ही आत्मा उज्ज्वल हो जायेगी। किन्तु फल इससे नितान्त विपरीत होता था। उस पर यज्ञ हर कोई नहीं कर पाता था। धनवान् पुरुष ही यज्ञ करके यश पाता था। विचारे गरीब ईर्ष्याग्नि में झुलसते थे। गर्ज यह कि विचार प्रवाह वैदिक कर्मकाण्ड के विरुद्ध वह रहा था- लोग आत्म-शान्ति पाने के लिए नये-नये उपाय टटोल रहे थे।

कुछ लोग हठयोग की साधना में आत्मशान्ति के स्वप्न देखने लगे। भ० पार्श्वनाथ के नाना महीपाल भी इस हठयोग के उपासक रहे थे। उल्टे सिर लटक कर-पंचाग्नि-तप कर और अन्य प्रकार से कायक्लेश करके अनेक लोग हठयोग साधते थे। उन्हें शुरु से ही यह लालसा होती थी कि उन्हें ऋद्धियां-सिद्धियां प्राप्त होंगी- उनका जीवन चमत्कार पूर्ण होगा और उनकी आत्मा शरीर बन्धन से मुक्त हो जायेगी। किन्तु लोगों को हठयोग में भी शान्ति नहीं मिली। अतएव वे लोग असंतुष्ट हुए मनमाने मन्तव्यों को मानकर मनसंतुष्टि करने में संलग्न थे। ये लोग प्रचलित मत-मतान्तरों के विरुद्ध लोगों के हृदयों में चिनगारियां लगा रहे थे। नये विचार और नये सिद्धान्त जनता के सामने आ रहे थे। जनता एक मार्गदर्शक की प्रतीक्षा कर रही थी। प्रतीक्षा विफल न गई। भगवान् महावीर का शुभागमन हुआ।

राजनीति- भ० महावीर से पूर्व भारतवर्ष की राजनीति भी छिन्न-भिन्न हो रही थी। यहां राष्ट्रीय एकीकरण और संगठन का अभाव था। सब अपने-अपने डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग-अलग पका रहे थे। अर्थात् उस समय भारत में अनेक छोटे-छोटे राज्य थे और सब पूर्ण स्वतंत्र थे। हां, इतनी बात अवश्य थी कि यदि कोई राजा या शासक अन्यायी और अत्याचारी हो जाता था और प्रजा उससे संतुष्ट हो जाती थी, तो उसे पदच्युत करके अपना नया राजा या शासक बना लेती थी। कहीं-कहीं पर पदच्युत करके अपना नया राजा या शासक बना लेती थी। कहीं-कहीं पर प्रजासत्तात्मक राजसंघ भी स्थापित थे जो गणराज्य कहलाते थे। क्षत्रिय कुलों से निर्वाचित प्रतिनिधि उनमें सम्मिलित होते थे और वे जनता का सच्चा हित साधन करते थे। इस प्रकार के गणराज्यों में निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय थे-

1- लिच्छवि अथवा वज्जियगणराज्य- इस राज्यसंघ में 1- लिच्छवि, 2- बृणि, 3-जात्रिक, 4- विदेही, 5- उग्र, 6-भोग, 7-इक्ष्वाकु और 8-कौरव वंशी आठ क्षत्रिय कुल सम्मिलित थे। इनमें

लिच्छवि क्षत्रिय प्रधान थे। उनकी राजधानी वैशाली थी जो उस समय की एक समृद्धिशालिनी नगरी थी। लिच्छवि लोग जैन धर्मानुयायी श्रमण परम्परा के मानने वाले थे। इनमें राजा चेटक प्रधान थे। इन्हीं की ज्येष्ठ पुत्री प्रिय कारिणी त्रिशला महाराज सिद्धार्थ को विवाही थी, और उनसे ही भ० महावीर का जन्म हुआ। चेटक की सबसे छोटी पुत्री चेलना राजा श्रेणिक की पट्टरानी थी।

2- शाक्य गणराज्य- में भ० बुद्ध का जन्म हुआ था। कपिलवस्तु उसकी राजधानी थी। बुद्ध के पिता शुद्धोदन उसके प्रमुख राजा थे।

3- मल्लगण राज्य- में मल्लवंशीय क्षत्रियों का बाहुल्य था। उसमें नौ क्षत्रिय राजा मिलकर राज प्रबन्ध करते थे। उसके दो भाग थे। एक भाग की राजधानी कुशीनगर थी, जिससे भ० बुद्ध का विशेष सम्पर्क था। दूसरे भाग की राजधानी पावा थी। वहां के प्रमुख राजा हस्तिपाल थे। भ० महावीर ने यहीं से मोक्ष-पद पाया था।

4- कौल्यि- गणराज्य की राजधानी रामग्राम थी। उसमें कौल्यि क्षत्रियों की प्रधानता थी।

इनके अतिरिक्त भाग, भौरीय, वुलि आदि गणराज्य भी थे। इनके मुकाबले में दूसरी ओर एकाधिपतित्व के अधिकारी राजा लोन थे। उनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय थे-

1- मगध- के सम्राट श्रेणिक बिम्बसार थे। उनकी राजधानी राजगृह थी। वर्तमान के विहार प्रान्त का अधिकांश भाग उसमें सम्मिलित था। मगध ही उपरान्त भारत का शासन केन्द्र बना था।

2- उत्तरीय कौशल- का राज्य मगध से उत्तर पश्चिम की ओर था, जिसकी राजधानी श्रावस्ती थी।

3- कौशल से दक्षिण की ओर वत्स राज्य था। उसकी राजधानी कौशाम्बी यमुना किनारे थी। यहां के राजा उदयन प्रसिद्ध थे।

4- वत्सदेश से दक्षिण- पश्चिम की ओर अवन्ती का राज्य था। उज्जयनी उसकी राजधानी थी। यहां के चन्द्रप्रद्योत राजा विख्यात थे।

5- कलिंग- राज्य वर्तमान का ओडीसा प्रान्त है यहां के राजा जितशत्रु भ० महावीर के फूफा थे।

6- अंग- की राजधानी चम्पा थी। यह आधुनिक भागलपुर जिला के अनुरूप था। यहां पहले दधिवाहन राजा का राज्य था। उपरान्त मगधाधिप कुणिक यहां के राजा हुए थे।

इस प्रकार इन सब ही राज्यों की संख्या सोलह थी। इनमें पारस्परिक स्पर्धा थी और प्रत्येक अपने स्वार्थ के लिए दूसरे से मोर्चा लेने के लिए हर समय तैयार रहता था। भयंकर युद्धों में व्यर्थ ही नरसंहार होता था। राष्ट्रीय भावनाओं के लिए कहीं कोई स्थान नहीं था। किन्तु भ0 महावीर के अहिंसा और वीतरागता के संदेश ने राजत्व की काया पलट दी। भ0 महावीर के अनन्य भक्त मगध सम्राट श्रेणिक बिम्बसार ने राष्ट्रीय एकीकरण का महत्व समझा और वह मगध साम्राज्य को पुष्ट करके उस दिशा में अग्रशील हुये। उनका रोपा हुआ राष्ट्रीय एकीकरण का पौधा नन्द राजाओं द्वारा सींचा जाकर मौर्य सम्राटों द्वारा खूब ही पल्लवित और विकसित किया गया।

इस प्रकार थी उस समय भारत की चतुर्मुखी परिस्थिति जिस समय भ0 महावीर का शुभागमन हुआ था।

ज्ञातृवंश या नाथवंश

भ0 महावीर का जन्म णायवंश या णाहवंश में हुआ। इसमें से प्रथम प्राकृत शब्द का संस्कृत रूप ज्ञातृ वंश है और दूसरे प्राकृत पद का संस्कृत रूप नाथवंश होता है। बौद्ध ग्रन्थों में भ0 महावीर का सर्वत्र 'णिगंठणाय-पुत्र' के रूप में ही उल्लेख मिलता है। इसका संस्कृत रूप 'निर्ग्रन्थज्ञातृपुत्र' है। यतः महावीर सर्व परिग्रह रहित दिगम्बर निर्ग्रन्थ वेश में रहते थे, अतः उनका निर्ग्रन्थ पद से और वे ज्ञातृवंश में उत्पन्न हुए थे, इसलिए, ज्ञातृपुत्र के नाम से उल्लेख किया गया है। बौद्धों के इस प्राचीन उल्लेख से यह सिद्ध है कि उनके समय में ज्ञातृवंश क्षत्रियों का एक प्रसिद्ध वंश रहा है। धवला टीका में उद्धृत प्राकृत गाथाओं में जिन बारह वंशों का नामोल्लेख है, उनमें इक्ष्वाकुवंश, हरिवंश, कुरुवंश आदि के साथ अन्तिम णाहवंश का उल्लेख है। उसके अनुसार परवर्ती संस्कृत ग्रन्थकारों में भ0 महावीर का नाथवंश लिखा है। पाली भाषा में रचित बौद्धों के ग्रन्थों में निगंठणाय पुत्र और श्वेताम्बरों के अर्धमागधी प्राकृत भाषा में लिखित अरहाणायपुते आदि उल्लेखों से यह प्रतीत होता है कि महावीर का वंश णायवंश रहा है। किन्तु धवला टीका के वारसमो णाहवंसी दु (षट् खंडागम पु0 1 पृ0112) तथा जयधवल टीका के कुंडपुरवरिस्सरसिद्धत्थखतियस्स णाहकुले (कसाय-पाहुड पु01 पृ078) के उल्लेख से नाथवंश सिद्ध होता है। यतः धवला-जयधवला टीका में उद्धृत होने से उक्त गाथाओं की प्राचीनता स्वयं सिद्ध है, अतः दिगम्बर परम्परा के परवर्ती संस्कृत पुराणकारों ने भी उन्हें

नाथवंश का ही लिखा है। किन्तु बौद्ध और श्वेताम्बरी आगमों के उल्लेखों के णाय पद के अनुसार भ० महावीर का वंश ज्ञातृ वंश सिद्ध होता है। इतिहासकारों के अनुसार ज्ञातृवंश और नाथवंश दोनों ही प्राचीन हैं, भले ही ये दोनों एक ही वंश के पर्यायवाची नाम हों, या दो निम्न वंशों के वाचक दो स्वतंत्र नाम हों।

धनंजय महाकवि ने भी अपनी नाममाला के श्लोक 0116 में भ० महावीर को 'नाथान्वयः वर्धमानः' कहकर उन्हें नाथवंशी ही कहा है।

इतने विवेचन से यह स्पष्ट है कि सिद्धार्थ नरेश ज्ञातृवंशीय या नाथवंशीय थे और यह क्षत्रियों का एक सम्मान्य वंश रहा है। इस वंश के क्षत्रियों का निवास स्थान मुख्यरूप से वैशाली और उसके समीपवर्ती ग्राम रहे हैं। ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय वज्जिय गणराज्य में सम्मिलित थे। अतः भ० महावीर का जन्म एक उच्च क्षत्रिय वंश में हुआ, यह बात निश्चित है।

कुण्डपुर या कुण्डग्राम

दि० परम्परा के शास्त्रों में सिद्धार्थ को कुण्डपुर का ही राजा लिखा है। जयध्वला में उद्धृत और ऊपर उल्लिखित कुण्डपुरवरिस्सरसिद्धत्यखतियस्स पद में स्पष्ट रूप से उन्हें कुण्डपुर नगर का ईश्वर सिद्धार्थ क्षत्रिय कहा गया है। उत्तर पुराण में भी भ० महावीर का जन्मकुण्डपुरेश के यहां ही बतलाया है। यथा-

राजः कुण्डपुरेशस्य वसुधारापतत्पृथुः।

सप्तकोटिर्मणिः सार्धा सिद्धार्थस्य दिनंप्रति। (उत्तर पुराण पर्व 74 श्लोक 0252)

अर्थात् कुण्डपुर के राजा सिद्धार्थ के राजांगण में कुबेर के द्वारा भगवान के गर्भ काल में प्रतिदिन साढ़े सात करोड़ रत्नों की धारा बरसाई गई। किन्तु श्वेताम्बरीय शास्त्रों के अनुसार उनका जन्म कुण्डग्राम में हुआ था। वस्तुतः कुण्डपुर और कुण्डग्राम ये दोनों एक ही हैं।

कहा जाता है कि कुण्डग्राम के दो भाग थे- क्षत्रिय कुण्डग्राम और ब्राह्मण कुण्डग्राम। क्षत्रियों का अधिक संख्या में निवास होने से एक का नाम क्षत्रिय कुण्डग्राम पड़ा और ब्राह्मणों का अधिक संख्या में निवास होने से दूसरे का नाम ब्राह्मण कुण्डग्राम पड़ा। जो कुछ भी हो, पर इतनी बात तो इन दोनों उल्लेखों से सिद्ध है कि सिद्धार्थ राजवंशी और कुण्डपुर या कुण्डग्राम के स्वामी थे। यतः वे भ० पार्श्वनाथ के शासन के अनुयायी थे, अतः वे जन्मजात जैन धर्म के मानने वाले थे।

कुमारिका देवियां

भ० महावीर के चरित के वर्णन करने वाले सभी दि० और श्वे० शास्त्रों में भगवान की माता की सेवा के लिए गर्भ-जन्म काल में कुमारिका देवियों के आने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। भेद केवल यह है कि दि० शास्त्र जहां उनका आगमन तीर्थकर-गर्भावतार से भी छह मास पूर्व मानते हैं, वहां श्वे० शास्त्रों में उनका आगमन तीर्थकर के जन्म काल के समय ही बतलाया गया है। कुछ लोग इनके आगमन को निरर्थक मानते और अस्तित्व में ही संदेह करते हैं। ऐसे लोग यदि इन देवियों के द्वारा किये जाने वाले कार्यों पर दृष्टिपात करें, तो उनकी सार्थकता उन्हें प्रतीत होने लगे। बात बहुत सीधी सादी है, जो लोग उन कुमारिकाओं को देवियों के रूप में स्वीकार नहीं करना चाहते, वे उन्हें लेडीज डॉक्टर्स, नर्स और परिचारिका कुमारियों के रूप में मान सकते हैं। चिकित्सक और स्वास्थ्य शास्त्री सदा से यह कहते आये हैं कि रोगिणी स्त्री के गर्भ से रोगी निर्बल और अल्पायु वाली सन्तान उत्पन्न होगी। पाठक शास्त्रों में वर्णित इन कुमारिका देवियों के कार्य को देखें- उनमें से कुछ प्रमुख देवियां सबसे पहले माता के गर्भ का शोधन करती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि यदि उसके गर्भ में कोई रोगादिक होगा तो गर्भ में आने वाली संतान पर उसका अवश्य दुष्प्रभाव पड़ेगा। फिर जिस कुक्षि में तीर्थकर जैसा महापुरुष अवतरित होने वाला है, उसकी शुद्धि तो अच्छी से अच्छी होनी चाहिए, गर्भ-शोधन के पश्चात् वे देवियां माता की सर्व प्रकार से उत्तम परिचर्या करती हैं और चारों ओर का सुन्दर वातावरण निर्माण करती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि माता अधिक से अधिक प्रसन्न रहे जिससे कि गर्भस्थ शिशु पर भी उत्तम प्रभाव पड़े। गर्भ के नवम मास में वे कुमारिका देवियां माता से नाना प्रकार की पहेलियां पूछकर उनका उत्तर मांगती हैं और नाना प्रकार की धार्मिक शंकाओं को पूछकर उनका समाधान प्राप्त करती हैं। उनके इस कार्य से माता की प्रबुद्धता का गर्भस्थ बालक की ज्ञान वृद्धि पर इतना अधिक प्रभाव पड़ता है कि उत्पन्न होने वाला बालक जन्म से ही सब विद्या और कलाओं का जानकार होता है और उसे किसी विद्यालय में जाकर अध्यापकों से कुछ अध्ययन नहीं करना पड़ता है। इसलिए तीर्थकरों के गर्भ और जन्म काल में कुमारिका देवियों की सेवा सुश्रुषा और परिचर्या का महत्व पूर्ण स्थान है, उसे स्वीकार करना ही चाहिए।

माता के स्वप्न

नीतिशास्त्र का वचन है कि- 'अस्वप्नपूर्व जीवानां न हि जातु शुभाशुभमह' अर्थात् जीवों का भविष्य में होने वाला शुभ या अशुभ कार्य स्वप्न आये बिना नहीं होता। स्वप्नशास्त्र में

बताया गया है कि वात-पित्तादिक के विकार से रहित स्वस्थ पुरुष के रात्रि के अन्तिम पहर में आने वाले स्वप्न सत्य और शीघ्र फल देने वाले होते हैं। तीर्थकरों की माता तीर्थकर के अवतार से पूर्व श्वे० मान्यतानुसार 14 और दि० मान्यतानुसार 16 उत्तम स्वप्न देखती हैं और स्वप्नों के अनुसार तीर्थकर गज के समान गम्भीर और वृषभ के समान भद्र और सिंह के समान पराक्रमी होते हैं। इसी प्रकार शेष स्वप्नों के विषय में भी जानना चाहिए। आज भी स्वस्थ पुरुष के अन्तिम पहर में आने वाले स्वप्नों की यथार्थता देखी जाती है। अतः स्वप्नों के आने की बात भी वास्तविक रूप से स्वीकार करना चाहिए।

जन्माभिषेक

प्रस्तुत चरित में भ० महावीर के जन्माभिषेक का वर्णन शास्त्रों के अनुसार किया गया है। आज के लोग दैविक घटनाओं को स्वीकार नहीं करना चाहते और अनेक प्रकार के प्रश्न उठाते हैं। उनके विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है कि यतः देवों का वैक्रियिक शरीर मनुष्यों के स्थूल शरीर से बहुत सूक्ष्म होता है और देव लोग कब आकर और किस प्रकार से सुमेरु पर ले जाकर उनका जन्माभिषेक कर आते हैं, यह बात सर्व साधारण की तो कहे कौन तीर्थकरों के माता-पिता तक को भी अज्ञात रहती है। जब देव-परिवार सुमेरु से लौटकर तीर्थकर को उनके माता-पिता के लिए सौंपते हैं, तभी उन्हें ज्ञात होता है। तीर्थकरों के प्रत्येक कल्याणक में देवों के कुछ नियोग होते हैं और वे उसे पूरा करने के लिए आते हैं, अतः इस विषय में विशेष ऊहापोह की आवश्यकता नहीं है। हां, प्रत्येक तीर्थकर के माता पिता धूम-धाम से पुत्र का - जन्म महोत्सव मनाते हैं और तदनुसार भ० महावीर का भी मनाया गया और बन्धुजनों को प्रीतिदान, वन्दिगणों और याचकों को अर्थदान और कैदियों को अभयदान दिया गया।

बाल काल

महावीर शुक्ल पक्ष की द्वितीया के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगे और अपनी बाल सुलभ चेष्टाओं से सबका मन हरने लगे। जब वे आठ वर्ष के हुए तो उन्होंने स्वयं ही श्रावकोचित कर्तव्यों का पालन करना प्रारम्भ कर दिया। वे कुमार काल में अपने साथियों के साथ खेल-कूद में भी न्याय-नीति का ध्यान रखते थे। यतः वे स्वयं जन्म जात सर्व-कलाओं के ज्ञाता थे, अतः अपने साथी कुमारों को नित-नयी कलाएं सिखाते हुए उनका मनोरंजन के साथ ज्ञान संवर्धन भी करते रहते थे। शास्त्रों में कुमार काल की एक ही विशिष्ट घटना का उल्लेख मिलता है। परन्तु ऐसी कितनी ही महत्वपूर्ण घटनाएं उनके कुमार काल में घटी होंगी, उनकी कल्पना पाठक स्वयं कर सकते हैं।

विवाह - प्रसंग

सभी दि० शास्त्र इस विषय में एक मत हैं कि भ० महावीर ने विवाह नहीं किया। पाठक यह अनुमान स्वयं सहज में लगा सकते हैं कि कोई भी माता-पिता अपने नौजवान पुत्र का विवाह करने के लिए कितने उत्कण्ठित रहते हैं और उनमें भी खास कर माता। पर माता पिता के विवाह- प्रस्ताव को भ० महावीर ने किस प्रकार किन-किन युक्तियों से अस्वीकार किया, यह पाठक प्रस्तुत चरित के 'विवाह-प्रस्ताव' शीर्षक में पढ़ेंगे। जब माता-पिता ने ऋषभादि तीर्थकरों के नामोल्लेख करके विवाह का आग्रह किया, तब महावीर ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि वे दीर्घ-जीवी थे। पर आज मनुष्य का आयुष्य स्वल्प है और मेरे सामने जो उनके कर्तव्य कार्य उपस्थित हैं, उन्हें देखते हुए विवाह के बन्धन में मैं बिल्कुल नहीं पड़ना चाहता। यह महावीर की सच्ची महावीरता है, कि युवावस्था होते हुए और एक से एक सुन्दर कुमारियों के साथ विवाह के प्रस्ताव आते हुए भी उसके लिए सर्वथा इनकार कर दिया। सचमुच में काम-विजेता ही महाविजेता और महावीर कहलाता है। भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है-

मतेभकुम्भदलने भुवि सन्ति वीराः, केचित्प्रचण्डमृगराजवधे अपि दक्षाः।

किन्तु ब्रवीभि बलिनां पुरतः प्रसह्य कन्दर्पदर्पदलने विरलाः मनुष्याः॥१॥

कान्ताकटाक्षविशिखा न लुनन्ति यस्य चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः।

तषान्ति भूरि विषयाश्च न लोभपाशाः लोकत्रयं जयति कृत्स्नभिंद स वीरः ॥२॥

अर्थात्- कितने ही वीर पुरुषमदोन्मत्त हाथियों के कुम्भस्थलों के विदारण करने में समर्थ हैं, और कितने ही चतुर पुरुष प्रचण्ड मृगराज सिंह के मारने में भी दक्ष हैं। किन्तु मैं तो उसी पुरुष को बलवानों में शिरोमणि कहता हूँ जो कामदेव के दर्प-दलन करने में वीर हैं। ऐसे मनुष्य संसार में विरले ही होते हैं॥१॥

जिसका चित्त सुन्दर स्त्रियों के कटाक्ष रूप तीक्ष्ण बाण भेदन नहीं करते, जिसके चित्त को क्रोधरूप अग्नि नहीं जलाती, जिसके हृदय को इन्द्रियों के विषय और लोभ-रूप पाश आकर्षित नहीं कर पाते, ऐसा वीर पुरुष ही इस समस्त लोकत्रय को जीतता है॥२॥

महाकवि भर्तृहरि के ये वाक्य भ० महावीर को यथार्थ में महावीर ही सिद्ध करते हैं, क्यों कि उनमें श्लोक वर्णित सभी गुण पूर्ण रूप से विद्यमान थे।

श्वे० परम्परा महावीर का विवाह मानती है और एक पुत्री का जन्म भी मानती है। पर दोनों ही परम्पराएं इस बात में एक मत हैं कि महावीर ने 30 वर्ष की अवस्था में गृहवास का परित्याग कर दिया। भ० महावीर के माता-पिता का कब स्वर्गवास हुआ, इसका कोई उल्लेख दि० शास्त्रों में नहीं मिलता। श्वे० शास्त्रों के अनुसार उनका स्वर्गवास भगवान की 28वर्ष की अवस्था में हो गया था।

भ० महावीर की प्रव्रज्या

भ० महावीर के द्वारा विवाह को अस्वीकार किया जाना ही यह सिद्ध करता है कि वे तात्कालिक समाज में व्याप्त, मूढ़ताओं, पशुओं के बलिदानों एवं मनुष्यों पर किये जाने वाले घोर अत्याचारों से मन ही मन अत्यन्त चिन्तित रहकर उनसे लोगों के उद्धार का मार्ग सोचने लगे थे। उन्हें उस अवस्था में कैसे-कैसे दृश्य देखने को मिले, इसकी कुछ झांकी नीचे दी जाती है-

एक बार जब वे वन-विहार को गये, तब उन्होंने देखा कि एक मनुष्य के सिर से खून बह रहा है, शरीर में अनेक ताजे घाव हैं और वह पड़ा हुआ कराह रहा है। लोगों से पूछने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि उसका नाम शिवकेशी है, जाति का चांडाल है, कहीं पर वेद पाठ हो रहा था, उसके मन में वेद सुनने की इच्छा हुई और वह बाहर खड़ा होकर सुनने लगा। ब्राह्मणों को उसका वेद सुनना सहन नहीं हुआ और उसे मार से अधमरा कर दिया। यह सुनकर महावीर का चित तिलमिला उठा, उसे उसके घर तक पहुंचाया और उसके औषधोपचार की व्यवस्था कर दी। इस घटना से उनके हृदय को बड़ा आघात पहुंचा और यही कारण है कि उन्होंने तीर्थप्रवर्तन के समय मानव-समता पर बहुत अधिक जोर दिया और ब्राह्मणों की जन्म-गत उच्चता का भरपूर विरोध किया।

एक बार जब वे भ्रमण करते हुए ब्राह्मण ग्राम की ओर चले गये तो वहां देखा कि हड्डियों का ढेर लग रहा है और दूसरी ओर मांस के टुकड़े सर्वत्र बिखरे पड़े हैं। पूछने पर लोगों ने बताया कि आज यहां पर एक बड़ा भारी यज्ञ हुआ था और उसमें 500 पशुओं का होम किया गया बाद उन पशुओं के भुने हुए मांस को ब्राह्मणों ने महाप्रसाद कह कर स्वयं खाया और लोगों को खिलाया। यह सुनकर वे विचारने लगे- अहो, ये लोग कितने निर्दय हैं कि अपने स्वाद के लोभ से धर्म की आड़ लेकर पशुघात करते हैं और उनका स्वर्ग-गमन कहकर भोली भाली जनता को धोखा देते हैं। यदि यज्ञ में होमे गये पशु स्वर्ग जाते हैं, तो फिर ये लोग अपने स्वजनों को और स्वयं को क्यों नहीं होमते हैं?

एक दिन भ0 महावीर घूमते हुए एक तापसाधना में जा पहुंचे। वहां पर देखा कि कुछ साधु एक टांग उठाये खड़े हैं, तो कोई हाथ ऊपर किये खड़ा है। कोई शीर्षासन से ऊंचे पैर किये भूमि पर मस्तक टेके खड़ा है तो कोई अपने सर्व ओर अग्नि जलाकर तपस्या कर रहा है। सिर पर जटा जूट तो प्रायः सभी के थे और लम्बी दाढ़ी मूँछें रखे हुए थे। कोई कमर पर मूंज बांधे था, तो कोई लँगोटी लगाये और भस्म लपेटे हुए था। उनके इन अज्ञानताओं को देखकर महावीर सोचने लगे- ये लोग कैसी निरर्थक तपस्या कर शरीर को क्लेश दे रहे हैं, इससे आत्म-हित का क्या सम्बन्ध है? एक स्थान पर तो संन्यासिनी पत्नियों के साथ कुछ संन्यासियों को देखा और उनकी चेष्टाओं को देखकर वे मन ही मन खूब हंसे और विचारने लगे कि यदि इन अज्ञानियों को न समझाया जायेगा तो वे अपने साथ और भी हजारों को ले डूबेंगे। इस प्रकार सोचते हुए वापिस राजभवन चले आये।

इस प्रकार धर्म के नाम पर यज्ञों में होमे जाने वाले पशुओं के करुण क्रन्दन और निर्मम हत्या से उनका करुणा-पूरित हृदय दहल उठा और यज्ञों के विरोध में उन्होंने केवल्य प्राप्ति के बाद जोरदार प्रचार किया।

एक बार जब महावीर अपने रथ में बैठकर विहार को निकले तो देखा कि नगर के मध्य में दो दलों के बीच मार-पीट हो रही है। पूछने पर ज्ञात हुआ कि द्वैतवादी और अद्वैतवादी पंडितों में झगड़ा हो गया है। द्वैतवादी एक पंडित ने अद्वैतवादी दूसरे पंडित की पत्नी के साथ व्यभिचार किया था। उसके पति के क्रुद्ध होने पर वह कहने लगा कि इसमें पाप की क्या बात है? अद्वैतवाद में भेद भाव की बात को कहां स्थान है? जब सब एक परम ब्रह्म के स्वरूप हैं, तब पाप क्या हुआ? इसका उत्तर द्वैतवादी पंडित ने उसका सिर फोड़ दिया और कहने लगा कि द्वैतवाद में आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न हैं, तब सिर फोड़ने से आत्मा का क्या बिगड़ा? महावीर उनकी यह युक्तियां सुनकर मन ही मन सोचने लगे- ये पंडित लोग कितने मूर्ख और अविवेकी हैं और कैसी विवेक शून्य इनकी एकान्त दृष्टि है? ये लोग अपने अनाचार और अत्याचार पर धर्म और दर्शन का कैसा पर्दा डालते हैं। इन्हें और इन जैसे मूढ़ दृष्टियों को अनेकान्त दृष्टि का रहस्य समझाकर एकान्त दृष्टि पूर्ण मिथ्यात्व को दूर किये बिना इनका और इन जैसे दूसरे लोगों का उद्धार नहीं हो सकेगा।

इस प्रकार महावीर अनेक वर्षों तक बैठते-उठते और विहार करते हुए प्रत्येक घटना को सूक्ष्म दृष्टि से देखते और गम्भीरता से उस पर मनन-चिन्तन करते रहे। फलस्वरूप वे संसार में फैले इस अज्ञान, अधर्म और अनाचार को दूर करने के लिए गृहवास छोड़ने के उचित अवसर

की प्रतीक्षा करने लगे और उसके प्राप्त होते ही उन्होंने घर का परित्याग कर दीक्षा अंगीकार कर ली।

पाठक स्वयं सोचें कि जिसके हृदय में दुनिया को दुखी देखकर करुणा न उत्पन्न हो, संसार के दुःख दूर करने की चिन्ता न पैदा होती हो, दम्भियों, ढोंगियों और ठगों के कुकृत्यों के विरोध करने का भाव न जागृत हो और जिसके हृदय में देश, समाज और राष्ट्र के उत्थान और कल्याण की भावना न हो, वह महा-मानव या जगद्धारक कैसे बन सकता है। गृहवास के समय ये सब भावनाएं उनके हृदय सरोवर में हिलोरें लेती रहीं और केवल्य प्राप्ति के पश्चात् वे ही भावनाएं उद्वेलित होकर बाहर फैली और उनसे जगत् का उद्धार हुआ।

भ० महावीर का प्रवृज्या के समाचार चारों ओर फैल गये बड़े समारोह के साथ उनका अभिषेक किया गया, उत्तम वस्त्राभूषण पहनाये गये और लोग उन्हें पालकी में बैठाकर नगर के बाहरी ज्ञातवन खंड या नाथवनखंड में ले गये। वहां उन्होंने सब उपस्थित जन समुदाय एवं सज्जन संबंधियों को सम्बोधन करते हुए संसार की अनित्यता बताई और सबसे वीतराग भाव प्रकट करते हुए एक स्वच्छ शिला पर बैठकर सर्व वस्त्राभूषण उतार दिये और सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करके केशलोच करते हुए उत्तर-मुख होकर जिन मुद्रा धारण कर ली।

यहां यह ज्ञातव्य है कि इस समारोह के दिन सबेरे से ही याचकों को भरपूर दान दिया गया और जब तीसरे पहर उनकी पालकी नगर के बीच में होकर निकली तब स्वयं भगवान एवं राज पुरुष मुक्त हस्त होकर चारों ओर धन वर्षा करते हुए गये थे।

जिन मुद्रा लेते ही उन्होंने दो दिन का उपवास ग्रहण किया और ध्यानस्थ हो गये। दो दिन के पश्चात् वे पारणा करने के लिए उठे और विहार करते हुए कूलग्राम के राजा के यहां उनकी पारणा हुई। श्वे० शास्त्रों में कूलग्राम के स्थान पर कोल्लाद सन्निदेश का उल्लेख है। सन्निदेश का अर्थ भी नगर ही होता है कोलाग का ही संक्षिप्त रूप कूल है।

विहार स्थल

भगवान् महावीर अपने साधना काल में अधिकतर मगध देश और उसके आस-पास के स्थानों में ही विहार करते रहे- अतः उक्त प्रदेश का नाम ही 'विहार' हो गया। जहां पर यक्ष के उपद्रवों से सारा नगर उजाड़ और बर्बाद हो गया था और मारे गये लोगों की हड्डियों के ढेर के कारण उसका नाम ही अस्थिग्राम पड़ गया था- भगवान् के द्वारा यक्ष के उपद्रव शांत होने

पर लोग पुनः आकर बसने लगे और कृतज्ञता-ज्ञापन के लिए उस नगर का नाम ही वर्धमानपुर रख दिया। आज के पश्चिमी-बंगाल का वर्धमान नगर ही उक्त वर्धमानपुर है।

इसके अतिरिक्त बंगाल-बिहार में अवस्थित वीर भूमि सिंहभूमि आदि नगर भी भ० महावीर की पावन स्मृति कराते हैं। इसके अतिरिक्त भ० महावीर ने कहां-कहां विहार किया, इसका विस्तृत विवरण प्रस्तुत चरित में यथा स्थान दिया गया है।

भ० महावीर की साधना

जीवन को उन्नत बनाने के लिए अशुभ आचरण की निवृत्ति और शुभ आचरण में प्रवृत्ति आवश्यक होती है। दीक्षा लेते ही भगवान् ने सर्वसावद्ययोगों का त्याग किया और सकल संयम को स्वीकार किया। केवल्य प्राप्ति होने तक मौन धारण करके वे विचरने लगे। विचरते हुए जहां सूर्यास्त होता, वहीं प्रतिमायोग धारण करके ठहर जाते और सूर्योदय होने पर पुनः विहार कर देते। जिस दिन उपवास का पारणा करना होता- तो नगर-ग्रामादि में जाते और साधु के योग्य निर्दोष प्रासुक आहार मिलता उसे लेकर वापिस जंगल में चले जाते थे। चातुर्मास के सिवाय वे किसी भी स्थान पर तीन दिन से अधिक नहीं ठहरे। वे साधुओं के पांच महाव्रत पांच समिति और तीन गुप्ति रूप तेरह प्रकार के चारित्र को भलीभांति पालन करने लगे, पांचों इन्द्रियों को उन्होंने वश में कर लिया। प्रतिदिन सामायिक, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग रूप छह आवश्यकों का पालन करते थे। स्नान और दन्तधावन नहीं करते थे, भूमि पर ही उठते बैठते और लेटते थे, दिन में खड़े-खड़े- ही एक बार अल्प आहार जब कभी करते थे। दो मास होते ही केशों को उखाड़ फेंकते थे। इस प्रकार साधु के 28 मूल-गुणों का भलीभांति पालन करते हुए वे विचरने लगे।

भ० महावीर के साढ़े बारह वर्ष के साधना काल की अनेक घटनाओं पर बहुत कुछ प्रकाश प्रस्तुत चरित में डाला गया है। यद्यपि एक-दो घटनाओं को छोड़कर शेष घटनाओं का आधार श्वे० शास्त्र हैं, तथापि उससे महावीर की महत्ता घटती नहीं, प्रत्युत बढ़ती ही है। उन घटनाओं के ऊपर विचार करने से पाठकों को प्रतीत होगा कि केवल्य प्राप्ति के पूर्व महावीर को भीतरी और बाहरी कैसी-कैसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उस समय छोटे-छोटे राज्य थे और एक नगर से बाहर निकलते ही दूसरे राज्य की सीमा लग जाती है। एक राज्य के लोग दूसरे राज्य में प्रवेश न कर सकें, इसके लिए अपनी सीमा पर प्रत्येक राज्य रक्षक रखता था। इधर से उधर जाते हुए मनुष्य से पूछताछ की जाती और सामान की जांच-पड़ताल भी होती थी। महावीर दीक्षा लेने के पश्चात् नग्न ही एकाकी विचरते थे, अतः सीमा-रक्षकों के द्वारा

परिचय पूछे जाने पर और उत्तर नहीं मिलने पर उन्हें कई बार गुप्तचर समझकर पकड़ लिया गया और कठोर यातनाएं सहन करना पड़ीं। मगर वे उनसे रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए।

अनार्य देश में विहार करते समय तो लोग उन्हें देखकर हंसते, गालियां देते और शिकारी कुत्ते तक भी उन पर छोड़ते थे। पर वे सर्वत्र समभावी रहकर वहां की परिस्थितियों के अध्ययन में संलग्न रहे और परिषद् उपसर्ग सहज करते हुए कर्म-निर्जरा करते रहे।

अपनी इस महती साधना के बल पर वे मानव से महामानव और आत्मा से परमात्मा बने। उनकी महत्ता देवताओं से सेवा कराने में नहीं, किन्तु त्याग और तपस्या के द्वारा विवेक जागृत करके जन साधारण के अज्ञान हटाने और दुःख दूर करने का मार्ग बताने में थी। यदि बाल्यकाल के 10-12 वर्षों को छोड़ भी दिया जाये तो 18-20 वर्ष कुमार काल के और 12 वर्ष साधना काल के सब मिलाकर 30-32 वर्ष के भीतर जो संसार की परिस्थितियां देखी, लोक-मानस का अध्ययन किया, और कठोर साधना की उसके द्वारा ही सबसे पहले उन्होंने अपने राग-द्वेष पर विजय पायी पीछे घाति कर्म शत्रुओं का नाश कर केवल्य प्राप्त किया।

भ० महावीर ने कितनी कठोर साधना की इसका विवरण प्रस्तुत चरित्र में यथा स्थान दिया गया है, यहां पर इतना कहना पर्याप्त है कि उन्होंने साढ़े बारह वर्ष जैसे काल में केवल 350 बार ही आहार किया अर्थात् साढ़े ग्यारह वर्ष निराहार रहकर ही बिताये। साढ़े बारह-वर्षों में उन्होंने केवल एक अन्तर्मुहुर्त मात्र हल्की निद्रा ली। इस प्रकार भ० महावीर साढ़े बारह वर्ष तक साधना में संलग्न रहे।

केवल्य - काल

केवल्य ज्ञान प्राप्त कर कैसे गौतमादि गणधरों का समागम हुआ, समवसरण की क्या विशेषता और कैसी विभूति थी आदि बातों पर प्रस्तुत चरित में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तुत चरित में बताया गया है कि जैन धर्मानुयायी होने के पश्चात् जब-जब भ० महावीर राजगृह के समीपवर्ती विपुलाचल या वैभार गिरि पर आकर विराजते, तब-तब राजा श्रेणिक उनके दर्शन-वन्दन को जाते, उनका धर्म श्रवण करते और अपने मन में उत्पन्न होने वाली शंकाओं को कहकर उनसे समाधान करते रहते थे।

एक बार जब भगवान विहार करते हुए विपुलाचल पर पधारे तो श्रेणिक भी वन्दनार्थ आये और बहुत ही चिन्तित होते हुए बोले- भगवन्, इन पंडितों के मारे मैं बहुत परेशान हूं। इनके वाद-विवादों ने राज्य की सारी शांति नष्ट कर दी है। पहले तत्त्व चर्चा का अभिनय

करते हैं और पीछे आपस में लड़कर खून-खराबी करने लगते हैं। इन दिनों दो-एक ऐसी घटनाएं घटी हैं कि जिनका न्याय करने के लिए मेरी बुद्धि भी कुण्ठित हो रही है। कृपा कर इस विषय में आप मार्ग-दर्शन कीजिए। यह कहकर उन्होंने कहना प्रारम्भ किया-

इस नगर में कुलकर नाम का एक नित्यवादी पंडित है और मृगाक्ष नाम का अनित्यवादी पंडित भी है। दोनों के पास शिष्यों की सेनाएं हैं। एक दिन दोनों सदल बल मार्ग में ही वाद-विवाद करने लगे। कुलकर ने मृगाक्ष की नाक पर इतने जोर से मुक्का मारा कि मृगाक्ष की नाक से खून बहने लगा। मेरे पास न्याय के लिए मामला आया और जब मैंने पूछा तो कुलकर ने कहा- मैंने मारने के लिए नहीं मारा, अपने पक्ष की सचाई बताने के लिए मारा था। क्यों कि मृगाक्ष का कहना था कि नाश होना वस्तु का स्वभाव है, स्वभाव परनिमित्तिक नहीं होता। इसके विरोध में जो मैंने युक्तियां दी वह मृगाक्ष ने मानी नहीं। तब मैंने मुक्का मार कर सिद्ध कर दिया कि और कोई नाश परनिमित्तिक मानो या न मानो, पर मुक्के से होने वाला नाश तो परनिमित्तिक मानोगे ही।

मृगाक्ष से मैंने पूछा कि आप इसका उत्तर दें तो उसने कहा कि इसका उत्तर तो कल तक मिल सकेगा। पर रात में उसने कुलकर के बेटे की हत्या कर दी। और दूसरे दिन न्याय सभा में आकर कहा- कि मैंने कुलकर के तर्क का उत्तर दिया है। क्यों कि कुलकर नित्यवादी है, ये किसी वस्तु का नाश नहीं मानते, इसलिए इन्हें सन्तोष रखना चाहिए कि इनके बेटे का नाश नहीं हुआ, और नाश हुआ है तो ये अपने पक्ष को छोड़ दें, और मेरे द्वारा हुए पुत्र-वध को मेरे पक्ष की युक्ति समझें। मुझे वह मामला स्थगित करना पड़ा।

इसी तरह एक दूसरा मुकदमा भी है। इसमें वादी प्रभाकर देव शर्मा हैं जो अद्वैतवादी हैं प्रतिवादी हैं आचार्य कौलिक, जो एक द्वैतवादी पण्डित हैं। कौलिक ने अद्वैतवाद की निःसारता बताने के लिए प्रभाकर की पत्नी के साथ व्यभिचार किया और कहा कि यदि अद्वैतवाद सत्य है तो स्वपत्नी परपत्नी का भेद क्यों? इसके उत्तर में प्रभाकर देव ने कौलिक का सिर फोंड़ दिया और कहा कि द्वैतवाद के अनुसार शरीर और आत्मा जुदे-जुदे तत्व हैं, इसलिए सिर फोंड़ने से कौलिक की कुछ भी हानि नहीं हुई है।

आखिर मुझे यह मुकदमा भी स्थगित करना पड़ा है। समझ में नहीं आता कि इन लोगों को कैसे ठिकाने लगाया जाये, और नीति की रक्षा कैसे की जाये? श्रेणिक की बात सुनकर भगवान ने कहा- यदि वे चारों पंडित अपने एकान्त पक्ष पर इसी प्रकार दृढ़ हैं और उसे व्यवहार में भी लाते हैं तब वे दण्ड के पात्र हैं और मृत्यु दण्ड भोगने में उन्हें

आपत्ति नहीं होना चाहिए क्यों कि मृत्यु दण्ड पाने पर भी कुलकर की नित्यता में कोई अन्तर न आयेगा और मृगाक्ष तो क्षणिक वाद के अनुसार प्रति समय मर ही रहा है, इसलिए उसे भी मरने में कोई आपत्ति नहीं होगी। प्रभाकर देव के लिए मृत्यु दण्ड भाया ही होगा और कौलिक को तो शरीर से सम्बन्ध ही क्या है? क्यों कि आपका दण्ड शरीर पर ही प्रभाव डालेगा, इस प्रकार दण्ड सुनाकर आप आठ दिन का उन्हें अवसर दीजिये। फिर देखिये आठ दिन में क्या होता है।

श्रेणिक यह सुनकर वापस राजभवन चले आये और उन्होंने उक्त चारों अपराधियों को मृत्यु दण्ड की सजा सुना दी और आठ दिन बाद फांसी लगाने का आदेश दे दिया। इस बीच राजगृह की सीमा के भीतर पहरेदारों के संरक्षण में आने-जाने की स्वतंत्रता दे दी। दूसरे दिन वे चारों पंडित महावीर के पास आये और मृत्यु दण्ड से बचने के लिए उन्होंने कहा- भगवन्, हमारी रक्षा कीजिए हमें मौत से बचाइये। यह कहकर उन्होंने आप बीती सारी कहानी कह सुनाई।

भगवान ने कहा जब आप लोग अपने-अपने सिद्धान्त में पक्के हैं, और आपके सिद्धान्तों के अनुसार मृत्युदण्ड से कुछ परिवर्तन नहीं होता तब आप लोग मृत्युदण्ड से डरते क्यों हैं?

उन लोगों ने कहा- भगवन्, हम भूल में हैं। परन्तु समझ में नहीं आता कि हमारी भूल क्या है? तर्क हमें धोखा दे रहा है।

भगवान ने कहा- तर्क धोखा नहीं देता, मनुष्य स्वयं अपने को धोखा देता है। लोग तर्क को अपने अहंकार का दास बनाना चाहते हैं, इससे धोखा खाते हैं। तर्क का अधूरा उपयोग किया जाता है। इसलिए व्यवहार में आकर वह लंगड़ाकर गिर पड़ता है। तर्क कहता है कि सत् का विनाश नहीं होता, इसलिए वस्तु नित्य है। परन्तु जीवन में और मृत्यु में जो अन्तर है, एक को हम जानते हैं, और दूसरे से डरते हैं, इसका भी तो कुछ कारण है। इससे यही सिद्ध होता है कि वस्तु एक दृष्टि से नित्य है और दूसरे दृष्टि से अनित्य। एक दृष्टि से अभिन्न है और दूसरे दृष्टि से भिन्न इस प्रकार वस्तु तो अनेक धर्मात्मक है, लोग एक ही धर्म को पकड़कर आपस में झगड़ते हैं और उसका फल आप लोग भोग रहे हैं। इस प्रकार भगवान ने अनेकान्त सिद्धान्त को विस्तार से समझाया।

भगवान का अनेकान्तमय दिव्य उपदेश सुनकर पंडितों ने कहा- भगवन् हम अपनी भूल अच्छी तरह से समझ गये। अब हम इस सच्चाई को पाकर मर भी जाएं तो भी कोई चिन्ता की बात नहीं है।

इतने में ही राजा श्रेणिक आ पहुंचे। पंडितों को मेरे पास उपस्थित देखकर वे कुछ विस्मित हुए। भगवान् ने कहा- राजन् आपका काम हो चुका, इनको प्राण-दण्ड मिल गया और इनका पुनर्जन्म भी हो गया। श्रेणिक ने आश्चर्य से पूछा- भगवन् यह क्या रहस्य है।

भगवान् ने कहा- रहस्य कुछ नहीं है बात सीधी है जो एकान्तवादी कुलकर, मृगाक्ष, प्रभाकर और कौलिक एकान्तवाद के कारण अपना और जगत् का अकल्याण कर रहे थे वे मर चुके, अब उन्होंने स्याद्वादी बनकर नये रूप में जन्म लिया है अब इन्हें दण्ड देने की आवश्यकता नहीं है। जब पापी का पाप नष्ट हो गया तब वह पापी कहां रहा जिसे दण्ड दिया जाय?

श्रेणिक प्रसन्न होते हुए बोले- भगवन्, आपका न्याय एक राजा के न्यायों से बहुत ऊंचा है और बहुत कल्याणकारी है।

नियतवादी सद्दाल पुत्र का उद्धार

वैशाली के समीपवर्ती पोलासपुर का निवासी सद्दाल पुत्र एक श्रीमन्त कुंभार था। उसकी भाण्डशाला में सैकड़ों वर्तन बनाने वाले काम करते थे। भ० महावीर के संघ से अलग होकर गोशाल देववादी बन गया था और सर्वत्र यही प्रचार करता रहता था कि जिस समय जैसा जो कुछ होने वाला है वह होकर ही रहेगा। सब कुछ नियत है और तदनुसार ही संसार का चक्र चलता रहता है। उसके इस नियतवाद का अनुयायी सद्दालपुत्र भी हो गया था।

एक बार जब भ० महावीर अपने संघ के साथ विहार करते हुए पोलासपुर आये और नगर के बाहरी उद्यान में ठहरे। यतः सद्दालपुत्र की भाण्डशाला समीप थी, अतः वह भी लोगों के साथ भगवान् की वन्दना के लिए गया। भगवान् ने उसे लक्ष्य कर सम्बोधित किया- अहो सद्दाल पुत्र, तुम्हारी भांड शाला में जितने भांड बनते हैं वे सब तुम्हारे पुरुषार्थ से बनते हैं या अपने आप बन जाते हैं? या उनका आरंभ समारंभ का उत्तरदायित्व किसी दूसरे पर है?

सद्दाल पुत्र बोला- भगवान् सब पदार्थों का स्वभाव नियत है, उसमें निमित्त क्या कर सकता है? क्यों कि निमित्त पर है। यदि निमित्त पर का कुछ सुधार-बिगाड़ करने लगे, तो पदार्थ का स्वभाव ही नष्ट हो जाय इसलिए जो कुछ होता है, वह अपने स्वभाव के अनुसार स्वयं नियति बल से होता है। पुरुष-प्रयत्न या पर निमित्त से कुछ नहीं होता। इसलिए भांडों के आरंभ-समारंभ का उत्तरदायित्व किसी पर नहीं है या उन्हीं पदार्थों पर है, जिनमें वह परिवर्तन हो रहा है और जो उन क्रियाओं के उपादान कारण हैं।

भगवान् ने कहा- यदि कोई पुरुष दंड हाथ में लेकर सब भांड फोड़ने लगे तो क्या तुम उनके फूटने का उत्तरदायित्व उस व्यक्ति पर न डालकर नियति पर डालोगे? क्या उसे किसी प्रकार का दंड न देकर और नियति का कार्य मान कर शान्त रहोगे?

सद्दाल पुत्र बोला- शान्त न रह सकूंगा भगवन्। उसे पूरा दंड दूंगा।

भगवान् ने कहा- तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि तुम उसे उसके कार्य का उत्तरदायी मानोगे? पर जब हर एक कार्य नियत है, तब उसे उत्तरदायी क्यों मानना चाहिए? क्या नियतवाद का यही अर्थ है कि मनुष्य अपने पापों को नियतिवाद के नाम पर ढक दें और दूसरों के पापों का बदला लेने के लिए नियतिवाद को भुला दे? सद्दाल पुत्र यदि तुम नियतिवाद मानकर चलो तो जीवन में कितने पाद चल सकते हो और जगत की व्यवस्था किस प्रकार कर सकते हो।

सद्दाल पुत्र बोला- नहीं कर सकता प्रभु, मैं अब समझ गया कि नियतिवाद एक प्रकार की जड़ता का मार्ग है। दम्भ है, अपने पाप-मय और पतन-मय जीवन के उत्तरदायित्व से बचने के लिए एक ओट है। यह कहकर वह नियतिवाद को छोड़कर भगवान् का अनुयायी श्रमणोपासक बन गया।

चेलना रानी का स्थितिकरण

प्रस्तुत चरित्र में बताया गया है कि चेलना महाराज चेटक की छोटी पुत्री थी और अभयकुमार के षड्यंत्र में फंसकर वह श्रेणिक की पट्ट-रानी बनी। पर श्रेणिक के बौद्ध-धर्मानुयायी होने से कुछ समय तक वह बहुत दुःखी रही। अंत में अपने चातुर्य से उसने श्रेणिक को भ० महावीर का सच्चा भक्त और जैन-धर्मानुयायी बना दिया।

चन्दना का जब दासता से उद्धार हुआ और वह आर्यिका बन गयी, तब चेलना की बड़ी बहिन कुमारी ज्येष्ठा भी विवाह न करके दीक्षित हो गयी। सात्यक राजकुमार ज्येष्ठा के साथ विवाह करना चाहता था, वह भी ज्येष्ठा के साध्वी बनने की बात सुनकर विरक्त हो साधु बन गया। एक बार जब वह पर्वत की गुफा में बैठा ध्यान कर रहा था, तब आहार करके लौटती हुई ज्येष्ठा जोरदार पानी बरसने से भीग गई। अपनी गीली साड़ी को सुखाने के लिए अचानक वह उसी गुफा में जा पहुंची- जहां सात्यक ध्यानस्थ बैठा था। उसे अंधेरे के कारण वह दिखाई नहीं दिया और वह नग्न होकर अपनी साड़ी निचोड़ने लगी। सात्यक की दृष्टि अपनी चिर प्रतीक्षित ज्येष्ठा पर पड़ी। दोनों की आंखें चार हुई और दोनों अपना साधुपना गवां बैठे। ज्येष्ठा

के गर्भ रह गया। होश आने पर दोनों को पश्चात्ताप हुआ। यह बात जैसे ही चेलना के कानों में पहुंची कि वह तुरन्त ज्येष्ठा को राजभवन ले आई और पूरे नौ मास तक उसे अपने संरक्षण में रखा। जब उसके प्रसव हो गया, तो बालक को पालन-पोषण करने के लिए अपनी धाय को सौंप दिया और ज्येष्ठा को सम्बोधित कर और साथ में ले जाकर चन्दना द्वारा प्रायश्चित्त दिलाकर पुनः दीक्षा दिला दी। यह था चेलना का स्थितिकरण- अंग-परिपालन।

ज्येष्ठा को चेलना के समीप जाते ही सात्यक ने भी भ० महावीर के पास जाकर प्रायश्चित्त ले लेकर पुनः दीक्षा धारण कर ली।

इस प्रकार भ० महावीर के शासन द्वारा दोनों पतितों का उद्धार हुआ। भगवान का उपदेश था कि पाप से घृणा करो, पापी से नहीं। पापी तो बेचारा दया का पात्र है उसे प्रेम से समझाकर उसका पाप छुड़ाना चाहिए। बहिष्कार करने से किसी का उद्धार न आज तक हुआ है और न भविष्य में होगा।

राजकुमार अभय

जब भ० महावीर विपुलाचल पर विराजते, तब राजा श्रेणिक के ज्येष्ठ पुत्र अभयकुमार भी भगवान की धर्मदेशना सुनने को जाते थे। एक बार उन्होंने अपने पूर्व भव के सम्बन्ध में पूछा। भगवान ने बताया- आज से एक भव पूर्व तुम एक भोले ब्राह्मण-पुत्र थे। विद्याध्ययन कर विदेश से स्वदेश लौट रहे थे। मार्ग में एक जैनी सार्थवाह का साथ मिल गया। अपनी मूढ़ताओं से तुमने कहीं पर वृक्षों की पूजा, कहीं पर तीर्थ मानकर नदियों में स्नान कर अपने को पवित्र माना और कहीं पर पाखंडी साधुओं की पूजा की। उस जैनी सार्थवाह ने अपनी सुयुक्तियों से तुम्हारी इन मूढ़ताओं को निरर्थक सिद्ध की और तुमने उन मूढ़ताओं को छोड़कर सम्यक्त्व के साथ श्रावक के व्रत धारण कर लिये। व्रतों के फल से तुम मरकर सौधर्म स्वर्ग में देव उत्पन्न हुए और वहां से आकर अब राजकुमार हुए हो। अपने पूर्व सुनकर अभयकुमार बहुत प्रभावित हुए और धर्म के दृढ़ श्रद्धाानी हो गये। पीछे अवसर पाकर श्रेणिक से अनुमति लेकर जिन-दीक्षा धारण कर ली। निर्ग्रन्थ मुनि होकर अभय राजकुमार ने दुर्धर तपश्चरण किया और कर्मों का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त किया। केवल ज्ञानी होकर वह भ० महावीर का दिव्य संदेश फैलाने के लिए दूर देशों में गये। पारस्य (ईरान) के राजकुमार आर्द्रक उनके मित्र थे। अभय राजकुमार ने उनको सम्बोधा। वह भगवान की शरण में आये और मुनि हो गये। आर्द्रक कुमार भी लोक में धर्म प्रचार करते हुए विचरते थे। अन्त में अभय राजकुमार अभयधाम मोक्ष को प्राप्त हुए थे।

राजकुमार वारिषेण

श्रेणिक के एक राजकुमार का नाम वारिषेण था। इनका जन्म चेलना से हुआ था। भगवान् के उपदेश से प्रभावित होकर इन्होंने श्रावक के व्रत धारण कर लिये और उनका विधिवत् पालन करने लगे। वे प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को उपवास रखते और रात भर श्मसान में प्रतिमायोग धारण करते थे। राजगृह में एक विद्युच्चोर था। वह वेश्यागामी था और अवसर पाकर उसके यहां आया जाया करता था। एक बार जब वह वेश्या के यहां पहुंचा तो उसने महारानी चेलना के गले का हार लाने को कहा। कामासक्त विद्युच्चोर अपनी कुशलता से चेलना के सोते समय रात में वह हार चुराकर भागा। रात के अंधेरे में हार की चमक छिप न सकी और पहरेदारों ने उसका पीछा किया। बचने का कोई उपाय न देखकर वह श्मसान में ध्यानस्थ वारिषेण के पास हार फेंककर भागा। चोर तो भाग निकला, पर सिपाही लोग वारिषेण को ही चोर समझकर पकड़ लाये और दिन के समय राजसभा में ले जाकर उन्हें श्रेणिक के सामने उपस्थित किया। श्रेणिक एक बार तो वारिषेण को देखकर दंग रह गये। पूछने पर जब वारिषेण ने कुछ उत्तर न दिया तो उन्होंने मृत्यु-दण्ड का आदेश दे दिया। जब चाण्डाल वध-स्थल पर ले जाकर उन पर तलवार का प्रहार करने को हुआ तब वारिषेण के पुण्य से प्रेरित एक देव ने उसे कील दिया और वारिषेण का जय-जय कार करते हुए उसने आकाश से उन पर फूलों की वर्षा की। यह समाचार पाकर राजा श्रेणिक चेलना के साथ वधस्थल पर गये और वारिषेण को घर पर चलने का आग्रह किया। वारिषेण ने कहा- पकड़े जाने के साथ ही मैंने यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि यदि इस आपत्ति से बच गया तो जिन-दीक्षा धारण कर लूंगा? + श्रेणिक और चेलना ने बहुत कुछ समझाया, पर वे अपने नियम पर दृढ़ रहे और अन्त में भ0 महावीर के पास जाकर उन्होंने संयम धारण कर लिया।

वारिषेण को मुनि बना देखकर उनके एक मित्र ने भी संयम अंगीकार कर लिया। कुछ दिनों के बाद उसे अपनी स्त्री की याद सताने लगी। जब वारिषेण को इसका पता चला तो वे उसे संयम में स्थिर करने के लिए उसे अपने साथ लेकर अपनी माता के राजभवन में पहुंचे। असमय में वारिषेण मुनि को आया हुआ देखकर चेलना ने आश्चर्य-चकित होते हुए उनका स्वागत किया। वारिषेण ने चेलना से कहा- मेरी सब स्त्रियों को बुलाओ। वारिषेण की आठों बहुएं जब सजधज कर सामने आईं तो उन रूप-यौवन और सौन्दर्य सम्पन्न स्त्रियों को दिखाकर वारिषेण ने उस मुनि की ओर संकेत किया। वह इन सुन्दरियों को देखकर विचारने लगा- वारिषेण ऐसी सुन्दर स्त्रियों को छोड़कर साधु बन गया और कभी उनकी याद भी नहीं करता।

मैं अपनी काली-कलूटी की याद में ही संयम से पतित हो रहा हूं? इस प्रकार अपने को धिक्कारते हुए उसने वारिषेण से वापिस भ0 महावीर के पास चलने के लिए कहा। भगवान के पास जाकर उसने प्रायश्चित्त पूर्वक पुनः दीक्षा धारण कर ली। इस प्रकार वारिषेण ने उसे धर्म में पुनः दृढ़ किया।

अजातशत्रु कुणिक

चेलना रानी से उत्पन्न श्रेणिक के एक पुत्र का नाम कुणिक था। वह सबको इतना प्यारा था कि लोग उसे अजातशत्रु कहने लगे। जब वह युवावस्था को प्राप्त हुआ तब श्रेणिक ने अंग देश को जीतकर उसका शासक कुणिक को बनाया। प्रारम्भ में उसके ऊपर बुद्ध का प्रभाव पड़ा और वह उनके धर्म का अनुयायी हो गया। इसी समय उसकी राज्य-लिप्सा बढ़ी और उसने श्रेणिक को कैद करके राज्यगृह का शासन भी अपने हाथ में ले लिया। चेलना उसके इस दुष्कृत्य से बहुत दुखित हुई। एक बार जब कुणिक का पुत्र किसी फोड़े के कारण कराह रहा था तब चेलना ने कहा- बचपन में तेरे हाथ की एक अंगुली में विषकुटी (एक फोड़ा) होने से जब उसके दर्द से तुझे किसी प्रकार शान्ति नहीं मिल रही थी तब तेरे पिता ने पीप बहती हुई तेरी अंगुली को अपने मुख में रखकर उसके भीतरी मवाद को चूस-चूस करके निकाला था तब कहीं तुझे शान्ति मिली थी। यह सुनकर उसे बड़ा पश्चाताप हुआ कि मैंने अपने पिता को कैद बनाकर उनके साथ बड़ा अन्याय किया। वह उन्हें बन्धन मुक्त करने के लिए हथौड़ा लेकर कारागार की ओर गया। उसे आता हुआ देखकर श्रेणिक ने समझा- कि यह दुष्ट हथौड़ा लेकर आ रहा है न जाने यह क्या करेगा? यह विचार आते ही उन्होंने आत्मघात कर लिया।

राजगृह के नागरिक लोग श्रेणिक को बन्दी बनाने के कारण पहले ही कुणिक से अप्रसन्न थे। अब श्रेणिक की मृत्यु से और भी अधिक क्षुब्ध हो गये। कुणिक का अपयश चारों ओर फैल गया। सर्वत्र उसकी निन्दा होने लगी, तब उसने राजगृह को छोड़ कर चम्पा को अपनी राजधानी बनाया और वह वहीं रहने लगा। जब भ0 महावीर विहार करते हुए वहां पधारे तब वह भी नगर निवासियों के साथ उनकी वन्दना के लिए गया। भगवान की दिव्य देशना सुनकर से अपने पिछले कृत्यों की भूल ज्ञात हुई और मन ही मन उनकी निन्दा-गर्हा की। उसके पश्चात जब-जब भी भगवान का विहार चम्पा की ओर हुआ, वह सदा भक्ति पूर्वक उनकी वन्दना को जाता और अनेक प्रश्न पूछकर अपने सन्देहों को दूर करता।

जब भगवान महावीर का निर्वाण हो गया, तब अजातशत्रु कुणिक ने गौतम स्वामी से श्रावक के व्रत अंगीकार किये।

राजा चेटक

वैशाली के अधिपति महाराज चेटक भ० महावीर के नाना थे। उनकी रानी का नाम सुभद्रा था। वे इक्ष्वाकुवंशीय जिनेन्द्र भक्त क्षत्रिय-रत्न और बड़े पराक्रमी वीर योद्धा थे। उनके धनदेव, दत्तभद्र, उपेन्द्र, सुदत्त, सिंहभद्र, सुकुम्भोज अकंपन, सुपतंग, प्रभंजन और प्रभास ये दस पुत्र थे। सभी शूरवीर और जिनधर्मी थे। चेटक के सात पुत्रियां थीं। प्रियकारिणी त्रिशला, मृगावती, सुप्रभा, प्रभावती, चेलना, ज्येष्ठा और चन्दना। इनमें प्रियकारिणी भ० महावीर के पिता राजा सिद्धार्थ को विवाही गई। मृगावती कौशाम्बी के राजा शतानीक को, सुप्रभा दशार्ण देश के राजा दशरथ को, प्रभावती सिन्धु-सोवीर योकच्छ देश के राजा उदयन को और चेलना राजा श्रेणिक को विवाही गई थी। ज्येष्ठा और चन्दना आजन्म ब्रह्मचारिणी रहीं और आर्यिका बनकर भ० महावीर के आर्यिका संघ की संचालिका बनीं।

राजा चेटक ने राज्य काल में अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की थी। परन्तु उन्हें अपने भीतरी कर्म-शत्रुओं के साथ युद्ध करने का अभी तक अवसर नहीं प्राप्त हुआ।

एक बार जब भ० महावीर का समवसरण वैशाली आया, तब चेटक महाराज राज-परिवार के साथ भगवान की वन्दना के लिए गये और उनके मुखार-विन्द से उन्होंने धर्मोपदेश सुना-

जो सहस्सं सहस्साणं संगमे जुज्जए जिणे।

एगं जिणिज्ज अप्पामं एस से परमो जओ॥

अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ।

अप्पाणमेवमप्पाणं जहता सुहमेहए॥

अर्थात्- मनुष्य संग्राम में हजारों लाखों भी दुर्जन लोगों को भले ही जीत लेवे। परन्तु जो अपने आपको जीतता है, वही उसकी महान विजय है। इसलिए राजन् अपने आत्मा से ही युद्ध करो, बाहरी शत्रुओं के साथ युद्ध से क्या लाभ है? अपने आपको जीतकर ही मनुष्य सुख पाता है। पराजित शत्रु तो बदला लेने की प्रतीक्षा में रहता है और अवसर पाकर बदला लेता भी है, अतः इन बाहरी विजयों से सच्ची सुख शान्ति नहीं मिल सकती। यदि स्थायी और सच्ची सुख शान्ति चाहिए है, तो अपने भीतरी कर्म-शत्रुओं को जीतने का प्रयत्न करो। भगवान की यह उद्धोदक और प्रभावक वाणी सुनकर चेटक के ज्ञान नेत्र खुल गये। उन्होंने राज्य का भार अपने पुत्रों को दिया और भगवान के समीप दीक्षा लेकर संयम धारण कर लिया।

सेनापति सिंहभद्र

महाराज चेटक के पुत्र सिंहभद्र बड़े भारी योद्धा थे। सिंहभद्र वज्जिगणकी सेना के सेनापति थे। वे बहुत काल तक बौद्ध धर्मानुयायी रहे। एक बार वे भगवान की धर्मदेशना सुनने के लिए आये और अपनी शंका का समाधान पाकर उनका धर्म विषयक भ्रम दूर हो गया। यतः सिंह से नापति थे अतः जीवघात को पाप नहीं समझते थे। जब उन्होंने भगवान के मुख से सुना-

स्त्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुह पडिकूला अप्पियवहा।

पियजीविणो जीविउकामा तम्हा णातिवाएज्ज किंचण।।

अर्थात्- सब प्राणियों को आयु प्रिय है, सब सुख के अभिलाषी हैं, दुःख सब के प्रतिकूल है, वध सब को अप्रिय है, सब जीना चाहते हैं, इसलिए किसी को नहीं मारना चाहिए !!

सिंहभद्र ने भगवान की यह पवित्र वाणी सुनी तो आज तक किये गये असंख्य जीव-घातों की याद कर उनका हृदय पश्चाताप से भर गया और उन्होंने त्रस हिंसा का त्याग करते हुए श्रावक के व्रतों को धारण कर लिया। तत्पश्चात वे सच्चे जैन बन गये और निर्ग्रन्थ साधु-साध्वियों की दान-वैयावृत्य आदि से सेवा करते हुए निर्दोष व्रत पालन करने लगे।

राजा उदयन या उद्दायन

राजा चेटक की प्रभावती पुत्री का विवाह सिन्धु-सांवीर देश के राजा उदयन के साथ हुआ था। राजा और रानी दोनों ही जन्म से जैन धर्म का पालन करते थे। उन्होंने किसी निर्ग्रन्थ साधु से सम्यक्त्व की महिमा सुनी, और उसको आठों अंगों के साथ निर्दोष पालन करने लगे। श्रावकोचित दान-पूजादि कार्य तो वे पहले से ही करते थे। रोगी शोकी की सेवा-टहल करने में उनकी बड़ी प्रसिद्धि थी। एक बार एक साधु को आहार करने के पश्चात वमन हो गया, तब उन्होंने असह्य दुर्गन्ध के होने पर भी आत्म-निन्दा करते हुए उनका शरीर शुद्ध किया और अपने ऊपर गिरे हुए वमन को भी बिना किसी प्रकार की घृणा के साफ किया था। आज तक उद्दायन राजा सम्यक्त्व के तीसरे निर्विचिकित्सा अंग में प्रसिद्ध हैं। वह भ० महावीर की गुण-गाथाओं को सुन-सुनकर उनके दर्शन के लिए लालायित था, परन्तु भगवान के दूर देश में विहार करने से तथा मध्य अनेक राज्यों की सीमाएं होने से जा नहीं पा रहा था। भाग्योदय से भगवान का विहार सिन्धु-सांवीर देश में हुआ। उसने राज्य की सीमा पर पहुंचकर बड़े उत्साह के साथ उनकी अगवानी की और समारोह के साथ अपने वीतमय नगर लिवा लाया। यथा समय

उसने भगवान की दिव्य देशना सुनी और उससे प्रभावित होकर दीक्षा लेने के लिए उसने पुत्र को राज्य भार सम्भालने को कहा। परन्तु वह भगवान की देशना से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि राज्य-भार के सम्भालने की बात सुनकर बोला- जिसे आप स्वयं छोड़ना चाहते हैं, उस दुःख और कंटकों से भरे राज्य का पट्ट मेरे सिर पर रखना चाहते हैं। मैं राज्य भार को स्वीकार नहीं करूंगा और आपके साथ ही संसार का परित्याग करूंगा। पुत्र के दृढ़ निश्चय को देखकर उदयन मन ही मन अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने भांजे केसीकुमार को राज्य भार संभलाया और अपने पुत्र के साथ ही भगवान के समीप जाकर जिन दीक्षा ले ली। जब रानी प्रभावती ने देखा कि पति और पुत्र दोनों आत्म कल्याण के लिए साधु बन गये, तब मैं भी क्यों पीछे रहूं? यह विचार कर वह भी अनेक स्त्रियों के साथ चन्दना के पास गई और आर्यिका बन गई।

यह था भगवान् महावीर के दिव्य उपदेशों का प्रभाव। जिस देश में भी उनका विहार होता, वहीं के बड़े-बड़े सामन्त, सेठ और राजा लोग उनके अनुयायी बन जाते और घर-वार छोड़कर उनके संघ में शामिल हो जाते थे।

महाराज जीवंधर

एक बार विहार करता हुआ भ0 महावीर का समवसरण हेमांगद देश की राजधानी राजपुरी पहुंचा और नगरी के बाहर सुरमलय नाम के उद्यान में ठहरा। वहां के शासक क्षत्रिय चूड़ामणि महाराज जीवंधर ने जैसे ही प्रभु के पदार्पणकी बात सुनी तो वह राज परिवार के साथ उनकी वन्दना के लिए गया। भगवान की दिव्य देशना सुनी और उससे बहुत प्रभावित हुए। जब वे वापिस नगरी को लौट रहे थे तो उन्होंने एक स्थान पर देखा कि एक वानर ने उनके राज उद्यान के किसी वृक्ष से एक फल तोड़कर अपनी वानरी को दिया। वन पाल ने जैसे ही यह देखा तो डंडा मारकर उससे वह फल छीन लिया। यह देखते ही उन्हें अपनी घटनाएं याद आईं और विचारने लगे—

भधते वनपालो अयं काष्ठांगारायते हरिः ।

राज्यं फलायते तस्मान्मयेव त्याज्यमेव तत् ॥

अर्थात्- यह वनपाल मेरे समान है, यह वानर काष्ठांगार के समान है और यह राज्य इस फल के समान है। अतः मुझे भी इस राज्य का त्याग कर देना चाहिए।

बात यह थी कि जब जीवंधर अपनी माता के गर्भ में ही थे, तब काष्ठांगार नाम के मंत्री ने उनके पिता को मार कर उनका राज्य ले लिया था। जब जीवंधर बड़े हुए तब उन्होंने काष्ठांगार को मार कर अपना राज्य वापिस ले लिया। अतः वे राज्य को फल के समान, काष्ठांगार को वानर के तुल्य और अपने को वनपाल सदृश्य विचारते हुए राजभवन पहुंचे। उन्होंने अपने पुत्र को राज्य भार सौंपा और भगवान के पास जाकर दीक्षा धारण कर ली। उनके साथ उनकी अनेक रानियों ने तथा नगर के अनेक नर नारियों ने भी मुनि और आर्यिका की दीक्षा ली थी। भगवान के साथ विहार करते हुए वे सुदूर दक्षिण देश से उत्तर भारत आये और अन्त में कर्मों का नाश करके विपुलाचल से मोक्ष पधारे।

जितारि या जित शत्रु

जब भगवान का समवसरण कलिंग देश में पहुंचा तो वहां के राजा जितारि- जो कि भ० महावीर के फूफा होते थे- ने बड़े उत्साह से भगवान की अगवानी की, भारी उल्लास के साथ आनन्द उत्सव किया और भगवान के उपदेश से प्रभावित होकर दीक्षा ले ली थी। इनकी पुत्री यशोदा- जिसके साथ कि भगवान के विवाह की चर्चा चली थी वह पहले ही साध्वी बन गई थी। जितारि ने कलिंग देश स्थित कुमारी पर्वत से मोक्ष प्राप्त किया।

श्वेत वाहन का उद्धार

अंग देश की चम्पा नगरी का राजा भ० महावीर का उपदेश सुनकर दीक्षित हो साधु बन गया और भगवान के संघ में रहने लगा। एक बार विहार करते हुए जब भगवान विपुलाचल पर पधारे, तब श्रेणिक वन्दना के लिए गये। मार्ग में उन्होंने देखा कि एक साधु वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ बैठे हैं, पर उनके मुख पर उतार-चढ़ाव के भाव आ-जा रहे हैं। वे उनकी वन्दना करते हुए भगवान के समीप पहुंचे और नमस्कार कर बोले- भगवन,- अभी आते हुए मैंने एक ध्यानस्थ साधु को देखा है, उनके मुख पर उतार-चढ़ाव के भाव क्यों आ-जा रहे हैं?

भगवान ने उनका परिचय देते हुए कहा- उनका पुत्र विमल-वाहन राज्य-भार संभालने में असमर्थ प्रमाणित हुआ है। आज अब ये श्वेत वाहन मुनि आहार के लिए नगर में गये तो लोगों को यह कहते सुना कि ये कैसे निष्ठुर राजा हैं कि अपने असमर्थ पुत्र पर शासन का भार छोड़कर मुनि बन गये हैं। दुष्ट मंत्रियों ने उसे कैद कर लिया और स्वयं शासक बन गये हैं। लोगों के ये शब्द सुनकर वे आहार को लिए बिना ही लौट आये और अब प्रतिशोध की अग्नि

में झुलस रहे हैं। इसी से उनके मुख पर संक्लेश भाव आ रहे हैं। यदि एक मुहुर्त भी यही स्थिति रही तो उनका अधःपात हो जायेगा।

श्रेणिक, तुम जाकर उन्हें समझाओ और उन्हें आत्म-पतन से बचाओ। यह सुनते ही श्रेणिक तत्काल उनके पास पहुंचे और उन्हें सम्बोधन करते हुए बोले- मुनिराज, आप पुत्र की कोई चिन्ता न करें। मैं आपके पुत्र की रक्षा करूंगा। निश्चिन्त होकर आप अपनी साधना कीजिए। श्रेणिक के ये वचन सुनते ही उन्हें अपनी भूल सूझी। मन ही मन आत्म-निन्दा और गर्हा करते हुए उनका संक्लेश दूर हो गया। परम विशुद्ध भावों की वृद्धि हुई और क्षपक श्रेणी पर चढ़कर श्रेणिक के देखते-देखते ही उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इस प्रकार श्रेणिक के निमित्त से श्वेतवाहन मुनिराज का उद्धार हुआ।

मैंढक का उद्धार

एक बार जब श्रेणिक भगवान् की वन्दना करके मनुष्यों के कोठे में जाकर बैठे ही थे कि एक देव ने आकर भगवान की वन्दना की। उसके मुकुट पर मैंढक का चिन्ह देखकर आश्चर्य-चकित होकर उन्होंने पूछा-भगवन्, इस देव के मुकुट पर मैंढक का चिन्ह कैसे?

भगवान ने कहा- इसी राजगृह में एक नागदत्त सेठ रहते थे। भवदत्ता उनकी सेठानी हैं। सेठ मायाचारी बहुत था, अतः उसने तिर्याग्योनि का आयु बांध लिया और मर कर अपने ही घर की बावड़ी में वह मैंढक हुआ। जब सेठानी बावड़ी पर पानी भरने गई तो उसे जाति-स्मरण हो गया और उछल कर उसके ऊपर कूदने लगा। सेठानी ने अवधिज्ञानी सुव्त मुनि से इसका कारण पूछा और उन्होंने बताया कि यह तेरे पति का जीव है। मायाचारी करने से मैंढक हुआ है और जाति स्मरण हो जाने से तेरे ऊपर कूद कर अपना प्रेम प्रकट करता है। यह सुनकर वह उसे आराम से रखने लगी। आज जब तुम मेरी वन्दना के लिए आ रहे थे, तब नगरवासियों के साथ यह भवदत्ता सेठानी भी आई। सब को जाता हुआ देखकर मैंढक भी भक्ति से प्रेरित होकर और बावड़ी से एक फूल तोड़कर चल पड़ा। मार्ग में तुम्हारे हाथी के पैर के नीचे दब कर मर गया, उसके भाव अच्छे थे, अतः मरकर देव हुआ। जन्म लेते ही उसने अवधिज्ञान से अपने पूर्व भव को जाना, अतः तत्काल यहां वन्दना के लिए आया है। उसका उद्धार मैंढक की पर्याय से हुआ, अतः उसने अपने मुकुट पर मैंढक का चिन्ह बना रखा है।

भगवान द्वारा मैंढक के उद्धार की बात सुनकर सारी सभा के लोग कहने लगे- अहो, जब केवल पूजन के भाव से मैंढक ने देव पर्याय पाई, जो भक्तिभाव से साक्षात् जिनराज की

पूजन करेंगे, उनके पुण्य-फल का क्या कहना है। वे तो नियम से इन्द्रादि के पद पावेंगे। श्रेणिक का हृदय जिन पूजन के महात्म्य को सुनकर गद्-गद हो गया। उन्होंने राजगृह में अनेक मन्दिर बनवाये और उनमें जिन प्रतिमाएं स्थापित की तथा अपने परिवार के साथ उनमें जाकर जिन-पूजन करने लगे।

कुछ प्रमुख श्रावक और श्राविकाएं

वाणिज्य ग्राम में आनन्द श्रावक और उसकी शिवानन्दा भार्या भगवान के अनन्य उपासक थे। इसी प्रकार चम्पा में कामदेव श्रावक और पत्नी भद्रा, वाराणसी में श्रावक चूलनी प्रिय, एवं सूरदेव, तथा श्राविका श्यामा और धन्या, आलभी में श्रावक चुल्लसतक और उनकी पत्नी बहुला, कम्पिला में कुन्द कौलित और पुष्पा पत्नी, पोलासपुर में सद्दाल पुत्र और अग्नि मित्रा, राजगृह में महाशतक और विजया, श्रावस्ती में नन्दिनी प्रिय और साल हीप्रिय तथा उनकी पत्नियां अश्वनी और फाल्गुणी भगवान् द्वारा प्रतिपादित श्रावक धर्म के पालन करने वालों में प्रमुख थे। ये सब अपार वैभव के स्वामी थे। इनकी विभूति का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है-+

भ० महावीर के कुछ प्रमुख श्रावकों के वैभव की तालिका

संख्या	श्रावक - नाम	निधान प्राप्त (सुरक्षित) रु०	वृद्धि प्राप्त (व्याज पर)रु०	व्यापार-संलग्न रु०	गोकुल	खेत	शकट (गाड़ियां)	एक गोकुल में दस हजार गायें
1-	आनन्द	4 कोटि रु०	4 कोटि रु०	4कोटि रु०	4	500	500	एक गोकुल में दस हजार गायें
2-	कामदेव	6कोटि रु०	6 कोटि रु०	6कोटि रु०	6	500	500	एक गोकुल में दस हजार गायें
3-	चुलनीप्रिय	8कोटि रु०	8कोटि रु०	8कोटि रु०	8	500	500	एक गोकुल में दस हजार गायें
4-	सुरादेव	6कोटि रु०	6कोटि रु०	6कोटि रु०	6	500	500	एक गोकुल में दस हजार गायें
5-	चुल्लसतक	6कोटि रु०	6कोटि रु०	6 कोटि रु०	6	500	500	एक गोकुल में दस हजार गायें
6-	कुन्द कौलित	6कोटि रु०	6कोटि रु०	6कोटि रु०	6	500	500	एक गोकुल में दस हजार गायें
7-	सद्दाल पुत्र	1कोटि रु०	1कोटि रु०	1कोटि रु०	1	-	-	एक गोकुल में दस हजार गायें
8-	महाशतक	8कोटि रु०	8कोटि रु०	8कोटि रु०	8	-	-	एक गोकुल में दस हजार गायें
9-	नन्दिनी प्रिय	4कोटि रु०	4कोटि रु०	4कोटि रु०	4	-	-	एक गोकुल में दस हजार गायें
10-	सालही प्रिय	4कोटि रु०	4कोटि रु०	4कोटि रु०	4	-	-	एक गोकुल में दस हजार गायें

इन सभी ने मध्यम परिग्रह परिमाण व्रत लिया था। अर्थात् जिसके पास जितनी धन-सम्पत्ति थी उससे अधिक परिग्रह-संचय का त्याग कर दिया था। विचारने की बात यह है कि जिन लोगों के करोड़ों रुपये व्याज पर दिये हुए थे और व्यापार में लगे थे, वे उससे होने वाले लाभ को कहां रखते होंगे? इसका निर्देश मैंने 'आनन्द श्रावक' के वर्णन में किया है। जो बात वहां नहीं कही गई, वह यहां प्रकट की जाती है।

1- व्याज पर दी गई रकम पर उन्होंने अपने आसामियों से व्याज लेना कम किया होगा। फिर भी जो व्याज आता था, उसे वे बिना व्याज के गरीब व्यापारियों को पूंजी के लिए दे देते थे और वापिस नहीं लेते थे।

2- जिनके पांच-पांच सौ खेत थे, उनके कम से कम इतने ही हलवाहे और उनसे दूने बैल होंगे। खेती से उत्पन्न अधिक धान्य को अपने सीमित धान्य के अतिरिक्त वे श्रावक अपने कर्मकारों को यथोचित विभाग करके बांट देते थे और गरीबों के घर भी भिजवाते थे। तथा जानवरों के खान-खुराक में अधिक खर्च करते थे।

3- जिनके हजारों गायें थी उनके दूध को बेचना बन्द करके वे पूर्व की अपेक्षा बछड़े-बछड़ियों को अधिक पिलाने लगे थे, तथा गृह उपयोग से बचे दूध में से ग्राम-वासियों को बांटते थे और दूध निकालने वाले कर्मकारों को भी देते थे।

4- उनके पांच-पांच सौ बैलगाड़ियां व्यापार के लिए चलती थीं, उन पर सभी प्रकार की व्यापारिक वस्तुएं भरकर देश-विदेश बेचने के लिए जाती थीं और वहां का माल लाकर अपने देश-ग्राम आदि में बेचते थे। व्यापार में होने वाले लाभ का ये श्रावक लोग क्या विनियोग करते थे, यह पाठक स्वयं विचार करें। क्यों कि नवीन उपार्जन का उन लोगों ने त्याग कर दिया था। अतः मेरे विचार से उन्होंने उसका विनियोग इस प्रकार किया होगा—

1- पूर्व की अपेक्षा वे कम लाभ (मुनाफा) लेने लगे।

2- प्राप्त लाभ को वे व्यापार में संलग्न मुनीम आदि को तथा गाड़ी चलाने वाले लोगों को यथोचित मात्रा में विभक्त करने लगे। अर्थात् व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभ में व्यापार-संलग्न कर्मचारियों को भागीदार बना लिया।

5- हजारों गायों में से प्रतिवर्ष सैकड़ों गायों के प्रसूति से उत्पन्न बछड़े-बछड़ियों की संख्या में वृद्धि होती होगी। अतः अपनी सीमित संख्या के सिवाय अधिक गायों को वे निश्चयतः अपने कर्मकारों को एवं अन्य गरीबों को बांट देते होंगे।

पाठक स्वयं विचार करें कि उनके द्वारा लिए गये मध्यम परिग्रह-परिमाणव्रत से जहां वे अपनी मूल पूंजी को ज्यों की त्यों सुरक्षित रखे हुए थे, वहां उससे उत्पन्न नवीन धन-धान्य आदि को वे अपने कर्मचारियों, मुनीम-गुमास्तों, हलवाहकों, उद्यान-रक्षकों एवं गो-पालकों में विभक्त कर तथा गरीब-अनाथ और अपंगों में वितरण करके स्वयं किस आनन्द का उपभोग नहीं करते होंगे और उनका चारों ओर कितना यश नहीं फैला होगा? सारे भारत वर्ष के आज तक के इतिहास में ऐसी मिशालें दूढ़ने पर भी कहीं नहीं मिलेंगी। भ० महावीर की दिव्य देशना का ही यह प्रभाव था कि धन कुबेरों ने अपनी असीम तृष्णा को संयमित करके शेष उपार्जित धन को सर्व साधारण के हितार्थ लगाया।

आज के धनिक यदि उनका अनुकरण करें, तो वर्तमान की आर्थिक विकट समस्या सहज में ही हल हो जाय।

उपासक दशा सूत्र में यह भी बताया गया है कि भगवान से श्रावक व्रत अंगीकार करने के पश्चात् इन लोगों में से अधिकांश ने अपना कारोबार अपने ज्येष्ठ पुत्रों को सौंप दिया था और वे निराकुल होकर व्रतों को पालन करते हुए अपना समय धर्म साधन में ही लगाने लगे थे। जब कभी भगवान का या अन्य सन्तों का पदार्पण होता तो उनका उपदेश सुनने को जाते थे और शास्त्र-स्वाध्याय करते हुए अपना ज्ञान -संवर्धन करते रहते थे।

इस प्रकार श्रावक के व्रतों को जीवन भर निर्दोष पालन करके अन्त में सल्लेखना धारण कर और समाधिमरण करके स्वर्ग पद प्राप्त किया। इन सभी के घरों में प्रोषधशालाएं थी, जिनमें उपवास के दिन बैठकर और आरम्भ-समारम्भ को छोड़कर सारा समय धर्म ध्यान में बिताते थे। उपवास के दिन इन श्रावकों ने कैसे-कैसे भयंकर उपसर्ग सहन कर उन पर विजय प्राप्त की, इसका भी विस्तृत वर्णन उपासक दशासूत्र में किया गया है।

भ० महावीर की एवं शेष तीर्थकरों की संघ-व्यवस्था कितनी सुन्दर और कल्याणकारिणी थी कि जो स्त्री-पुरुष समर्थ हैं वे साधु और साध्वी जमकर आत्म-कल्याण करें। और जो शारीरिक या पारिवारिक परिस्थिति-वश असमर्थ हैं, वे श्रावक के व्रतों को अंगीकार करके और श्रावक-श्राविका बनकर अपने इहलोक और परलोक को सुधारें।

भ० महावीर की देशना-भाषा

भ० महावीर के समय में धर्म के ठेकेदार ब्राह्मण लोग तत्व का या धर्म का प्रतिपादन संस्कृत भाषा में करते थे और यतः वेद संस्कृत भाषा में थे अतः वे उसके सिवाय शेष भाषाओं

को तुच्छ समझते थे और उनको बोलने में अपना अपमान समझते थे। भगवान ने लोक-मानस को समझा और अनुभव किया कि जब तक सर्व साधारण को समझ में आने वाली भाषा में नहीं बोला जायेगा, तब तक धर्म का प्रचार नहीं हो सकेगा। यह सोचकर ही उन्होंने तात्कालिक जिस लोक-भाषा में अपना उपदेश दिया, वह अर्धमागधी कहलायी। अर्थात् मगध देश में जो भाषा बोली जाती थी, उसके साथ मगध के चारों ओर से सम्बन्ध रखने वाले देशों के भी आधे शब्द उसमें सम्मिलित थे। सभी जनपदों में स्वभावतः बोली जाने वाली भाषाएं 'प्राकृत' कही जाती हैं। जैसे मगध देश की मागधी प्राकृत, महाराष्ट्र की महाराष्ट्री प्राकृत और सूरसेनदेश की सौर सेनी प्राकृत। दक्षिणी देशों की भाषा पैशाची प्राकृत। प्राकृत भाषा कितनी मधुर और दिव्य है, राजशेखर ने कहा है—गिरःश्रव्या दिव्याः प्रकृतिमथुराः प्राकृत गिरः। अर्थात् प्राकृत भाषा प्रकृति से मधुर है, अतः दिव्य है और सुनने के योग्य है।

बालस्त्री मन्दमूर्खाणां नृणां चारित्र कांक्षिणाम्।

तेषां सुखावबोधाय सिद्धान्तः प्राकृते कृताः॥

अर्थात् चारित्र धर्म के इच्छुक बालक, स्त्री मन्द और मूर्ख मनुष्यों का सुख पूर्वक ज्ञान कराने के लिए जैन आगम सिद्धान्तों की रचना प्राकृत भाषा में की गई है।

यही कारण है कि भगवान की दिव्यध्वनि को विशदार्थ-सर्व-भाषा-स्वभाववाली कहा गया है। अतः भगवान ने प्राकृत भाषा में ही देशना दी थी। अतः उसका संकलन भी प्राकृत भाषा में किया गया।

जैन धर्म प्रकृति प्रदत्त है

भ० महावीर और उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों ने जिस धर्म का उपदेश दिया पूर्व काल में वह आर्हत धर्म, निर्ग्रन्थ धर्म या श्रमण-धर्म के नाम से प्रसिद्ध रहा है और आज वह जैन धर्म के नाम से प्रख्यात एवं सर्व विदित है। वस्तुतः इसके प्रणेताओं ने प्रकृति का बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया, और तदनुसार ही उसका निरूपण किया। यतः प्रकृति से मनुष्य नग्न ही उत्पन्न होता है, अन्य किसी वेश या परिधान से उत्पन्न नहीं होता, अतः तीर्थंकरों ने उसी मुद्रा को स्वीकार किया है। प्रसिद्ध दार्शनिक आचार्य अकलंक देव कहते हैं-

नौ ब्रह्मांकितभूतलं न च हरैः शम्भो न मुद्रांकितं

नौ चन्द्रार्ककरांकितं सुरपतेर्वज्रांकितं नैव च।

षड्वक्त्रांकितबौद्धदेवहुतभुग्यक्षोरगैर्नाकितं

नग्नं पश्यत वादिनो जगदिदं जैनेन्द्रमुद्रांकितम्॥

अर्थात्- यह सारा भूतल न ब्रह्मा की मुद्रा से अंकित है न विष्णु की और न शम्भु की मुद्रा से चिह्नित है। न सूर्य, चन्द्र की किरणों से अंकित है, न इन्द्र के वज्र चिन्ह से अंकित है न षडानन कार्तिकेय की, बुद्ध की या यक्ष नागेन्द्र आदि की मुद्रा से ही अंकित है। किन्तु हे वादियो, जिनेन्द्रदेव की नग्न मुद्रा से अंकित इस सारे जगत को देखो।

कहने का भाव यह है ब्रह्मा विष्णु महेश आदि का जैसा रूप अन्य मतावलम्बियों ने वर्णन किया है उस प्रकार इस संसार में न मनुष्य उत्पन्न होते हैं, और न पशु-पक्षी या क्षुद्र जीव-जन्तु ही। सभी नग्न ही उत्पन्न होते हैं और नग्न वेष ही जिन-तीर्थकरों का है। अतः वही प्राकृत वेष है।

जिस प्रकार प्रकृति ने चलने फिरने के लिए दो पैर, काम करने के लिए दो हाथ, देखने के लिए दो आंखें और सुनने के लिए दो कान दिये हैं, उसी प्रकार जैन धर्म ने व्यवहार और परमार्थ दोनों की सिद्धि के लिए व्यवहार और निश्चय नय का उपदेश दिया और आंखों के समान वस्तु स्वरूप के यथार्थ दर्शन के लिए द्रव्य दृष्टि और पर्याय दृष्टि से देखने का उपदेश दिया।

प्रकृति जब प्रकाश दे अर्थात् जब सूर्योदय हो तब खान-पान और गमनागमन करो और जब सूर्यास्त हो जाय तब खान-पान और गमनागमन बन्द कर दो। प्रकृति प्रदत्त अन्न और फलादि को खाओ। यहां तक जैन धर्म की आज्ञा है कि जो फलादि स्वयं गिर पड़ें, उन्हें ही खाओ, तोड़कर खाने में भी जीव हिंसा है। अन्न भी जब स्वयं खेत में सूख जाये, तभी काम में लो। सभी जीव स्वभावतः सुख चाहते हैं अतः किसी को दुःख पहुंचाना और मारना पाप है और जीवघात नहीं करना और दूसरों को सुख पहुंचाना धर्म है। इस प्रकार सारे जैन धर्म का आधार प्रकृति है अतः यह प्राकृतिक धर्म है।

उपसंहार

इस प्रकार भ० महावीर कैवल्य-प्राप्ति के पश्चात् सारे भारतवर्ष में धर्म देशना देते हुए विहार करते रहे। उनके उपदेशों से जो अनेक राजा और राजकुमार तथा श्रीमन्त धनाढ्य पुरुष दीक्षित हुए, या उपासक बने उनमें से कुछ के नामोल्लेख ऊपर किये गये हैं। राजा लोग क्षत्रिय थे और श्रीमन्त व्यापारी लोग वैश्य थे। भगवन के सभी गणधर ब्राह्मण थे और उनके हजारों

शिष्यों का परिवार भी ब्राह्मण वर्ण का ही था जो कि गणधरों के साथ दीक्षित हुआ था। इन उच्च तीन वर्णों के अतिरिक्त सद्दाल पुत्र आदि अनेक शूद्र पुरुष और आर्द्रक कुमार जैसे अनार्य देश के लोग भी भगवान के धर्म में दीक्षित हुए थे। अर्थात् सभी मनुष्यों के लिए धर्म का द्वार खुला था।

बौद्ध-ग्रन्थ मिलिन्द वण्ह में लिखा है कि पांच सौ यूनानियों ने अपने राजा मिलिन्द से निर्ग्रन्थ ज्ञातृ पुत्र महावीर के पास चलकर अपने मन्तव्यों को उन पर प्रकट करने और शंकाओं का समाधान करने के लिए कहा था इससे सिद्ध है कि भ० महावीर की धर्म देशना का प्रभाव और प्रसार यूनान देश तक हो गया था।

भ० महावीर के कुछ दिव्य उपदेश

- 1- सर्व प्राणियों को अपने समान जानो और किसी को भी पीड़ा न पहुंचाओ। न उन्हें मारो और न पराधीन बनाओ।
- 2- प्रत्येक जीव स्वभाव से परमात्मा-स्वरूप है। उसमें अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख रूप गुण अव्यक्त हैं। उनका आंशिक विकास प्रत्येक जीव में प्रत्यक्ष दिखता है।
- 3- यह जीव जैसे कर्म करता है वैसे ही फल भोगता है और अपने कर्मों के अनुसार ही संसार में सुख-दुःख भोगता है।
- 4- प्रत्येक जीव स्वयं अपने भविष्य का निर्माता है वह भावी जीवन को जैसा चाहे वैसा बना सकता है।
- 5- जब यह संसारी जीव रत्नत्रय धर्म की आराधना करके अपने को कर्म बन्धन से छुड़ा लेता है तब उसे ज्ञान-चेतनाजनित परमात्मभाव प्राप्त होता है।
- 6- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही रत्नत्रय धर्म है और यही मोक्ष-मार्ग है। अर्थात् स्वाधीन बनने का रास्ता है।
- 7- अहिंसा सम्यग्दर्शन की आधारशिला, सम्यग्ज्ञान का पूरक नियम और सम्यक्चारित्र का प्राण है।
- 8- जो सुखी होना चाहते हैं वह इन्द्रियों का निग्रह करें।

- 9- संसार में चार बातें अत्यन्त दुर्लभ हैं—1 मनुष्य जीवन, 2 धर्म, 3 श्रवण, 4 सच्ची श्रद्धा और संयम धारण।
- 10- आत्मा ही अपने दुखों और सुखों का कर्ता तथा भोक्ता है। अच्छे मार्ग पर चलने वाला अपना आत्मा ही मित्र है और बुरे मार्ग पर चलने वाला अपना आत्मा ही शत्रु है। इसलिए अपनी आत्मा का ही दमन करना चाहिए। अपने बुरे विचारों को दमन करने से ही आत्मा इस लोक और परलोक दोनों में सुखी होता है।
- 11- आत्मा एक मात्र केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन स्वरूप है, अर्थात् संसार के सर्व पदार्थों को जानने-देखने वाला है। वह स्वभावतः अनन्त शक्ति का धारक और अनन्त सुखमय है।
- 12- जो सर्व दोष-रहित है, शरीर-विमुक्त है इन्द्रियों के अगोचर है, और सर्व अन्तरंग-बहिरंग मलों से मुक्त होकर विशुद्ध स्वरूप का धारक है, ऐसा परम निरंजन शिवंकर, शाश्वत सिद्ध आत्मा ही परमात्मा कहलाता है।
- 13- जो अपने पुराने कर्मों को- राग, द्वेष, मोह आदि विकारी भावों को दूर कर देता है, नवीन विकारों को अपने भीतर प्रवेश नहीं करने देता है और सदा-परम निरंजन आत्मा का चिन्तन करता है, वह स्वयं ही आत्मा से परमात्मा बन जाता है।
- 14- क्रिया या सदाचार के बिना ज्ञान बेकार है, और अज्ञानियों की क्रिया भी निरर्थक है, इसलिए ज्ञान और चारित्र्य का समायोग ही दुखविनाशक और सुखकारक है।
- 15- सब प्राणियों को अपना जीवन प्यारा है, सब ही सुख की इच्छा करते हैं, और कोई दुःख नहीं चाहता। मरना सब को अप्रिय है और सब जीने की कामना करते हैं। अतएव किसी भी प्राणी को जरा भी दुःख मत दो और उन्हें न सताओ।
- 16- ऊंची जाति या उच्च कुल में जन्म लेने मात्र से कोई उच्च नहीं हो जाता और न नीचे कुल में जन्म लेने से कोई नीच हो जाता है। जो अच्छे कार्य करता है, वह उच्च है और जो बुरे कार्य करता है, वह नीच है।
- 17- मनुष्य कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय होता है, कर्म से ही वैश्य होता है और शूद्र भी अपने किये कर्म से होता है।
- 18- सिर मुंड़ा लेने मात्र से कोई श्रमण या साधु नहीं कहला सकता, ओंकार के उच्चारण करने से कोई ब्राह्मण नहीं माना जा सकता, निर्जन वन में रहने मात्र से कोई मुनि नहीं बन जाता,

और न कुशा (डाभ) से बने वस्त्र पहनने से कोई तपस्वी कहला सकता है। किन्तु जो प्राणी मात्र पर साम्य-भाव रखता है वह श्रमण या साधु कहलाता है, जो ब्रह्मचर्य धारण करता है, वह ब्राह्मण कहलाता है। जो ज्ञानवान है, वह मुनि है और जो इन्द्रिय-दमन एवं कषाय-दमन करता है वह तपस्वी है।

19- जिस प्रकार अग्नि ईंधन से तृप्त नहीं होती है, और जिस प्रकार समुद्र हजारों नदियों को पाकर भी नहीं अघाता है, उसी प्रकार तीन लोक की सम्पदा के मिल जाने पर भी जीव की इच्छाएं कभी तृप्त नहीं हो सकती हैं।

20- सर्व प्रकार के परिग्रह से विमुख होने पर शान्त एवं प्रसन्नचित्त साधु जो निराकुलता-जनित अनुपम आनन्द प्राप्त करता है, वह सुख तुल्य वैभव के धारक चक्रवर्ती को नहीं मिल सकता है।

21- जो बात अपने लिए प्रतिकूल हो उसे दूसरे के लिए भी मत कहो।

22- जिसकी जैसी भावना होती है उसे वैसी ही सिद्धि होती है।

23- ज्ञानी पुरुष प्राणी मात्र को अपने समान ही समझता है।

24- कुश की नौक पर लटकते हुए ओस-बिन्दु की अवधि जैसे थोड़ी होती है वैसे ही मनुष्य-जीवन की गति है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

25- तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और सब प्रकार का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

आभार प्रदर्शन

प्रस्तुत चरित के लिखने में आ० गुणभद्र का उत्तर-पुराण, सकलकीर्ति का वर्धमान चरित, शीलांकाचार्य का चउवन्न-पुरुष चरित्र और हेमचन्द्राचार्य का त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित और रघु का वड्ढमाण चरित आधार रहे हैं।

प्रस्तावना लिखने में कामता प्रसाद का भ० महावीर कल्याण विजयजी का श्रमण भगवान महावीर और सत्यभक्त जी का महावीर का अन्तस्तल आधार रहे हैं।

बुद्ध और महावीर की तुलना में धम्मपद और उत्तराध्ययन का आधार लिया गया है। शेष सामग्री भी जैन ग्रन्थों से संकलित की गई है। अतः मैं उन सब का आभारी हूँ।

दि० 31-3-73

ऐ० पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन

ब्यावर (राजस्थान)

वीर का अनन्य सेवक

हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री

विषय सूची

क्रम विषय

पृष्ठ

- 1- कालचक्र
- 2- तीर्थकर
- 3- अवतारवाद नहीं, उत्तारवाद
- 4- भ० महावीर के समय भारत की स्थिति
- 5- भ० महावीर के पूर्व भव
- 6- षोडश कारण भावना चिंतन
- 7- दि० श्वे० मान्यतानुसार पूर्व भवों में अन्तर एवं उस पर विचार
- 8- भ० महावीर का गर्भावतरण एवं श्वे० मान्यता पर विचार
- 9- भ० महावीर का जन्मोत्सव
- 10- भ० महावीर की जन्म कुण्डली
- 11- भ० महावीर का बाल्यकाल
- 12- भ० महावीर का विद्यालय-प्रवेश
- 13- भ० महावीर के सम्मुख विवाह-प्रस्तुत
- 14- भ० महावीर के माता-पिता का स्वर्गवास
- 15- भ० महावीर का निष्क्रमण कल्याणक
- 16- भ० महावीर का छद्मस्थ एवं तपस्याकाल
 - 1- प्रथम वर्ष
 - 2- द्वितीय वर्ष
 - 3- तृतीय वर्ष
 - 4- चतुर्थ वर्ष
 - 5- पंचम वर्ष
 - 6- छटा वर्ष
 - 7- सातवां वर्ष
 - 8- आठवां वर्ष
 - 9- नवां वर्ष
 - 10- दसवां वर्ष

- 10- गयारहवां वर्ष
- 11- बारहवां वर्ष
- 12- तेरहवां वर्ष
- 17- तपस्या विवरण
- 18- केवलज्ञान की उत्पत्ति और गणधर समागम एवं शंका-समाधान
- 19- भगवान् की धर्म देशना
 - 1- अहिंसावाद
 - 2- पशुबलि निषेध
 - 3- अहिंसावाद ही यथार्थ साम्यवाद है
 - 4- अपरिग्रहवाद और समाजवाद
 - 5- कर्मवाद और ईश्वर-कर्तृत्व-परिहार
 - 6- कर्म के भेद
 - 7- विश्व-व्यवस्था पर विचार
 - 8- अनेकान्तवाद और समन्वयवाद
- 20- शैक्षणिक-समागम
- 21- आत्म-सिद्धि
- 22- आत्मत्व से परमात्मत्व
 - 1- सम्यग्दर्शन का स्वरूप और उसके अंग
 - 2- बहिरात्मा का स्वरूप
 - 3- अन्तरात्मा का स्वरूप
 - 4- मध्यम अन्तरात्मा श्रावक और 11 प्रतिमाओ का स्वरूप वर्णन
 - 5- सम्यग्ज्ञान का स्वरूप
 - 6- सम्यग्चारित्र का स्वरूप
 - 7- परमात्मा का स्वरूप और प्राप्ति का उपाय
 - 8- गुणस्थानों का स्वरूप
 - 9- ध्यान का स्वरूप और भेद वर्णन
- 23- आनन्द श्रावक
- 24- भगवान् का संघ परिवार
- 25- भगवान् की प्रवचन भाषा

26- केवलीविहार काल

1- प्रथम वर्ष

2-द्वितीय वर्ष

3-तृतीय वर्ष

4-चतुर्थ वर्ष

5-पंचम वर्ष

6-छठा वर्ष

7-सातवां वर्ष

8-आठवां वर्ष

9-नवां वर्ष

10-दसवां वर्ष

11-ग्यारहवां वर्ष

12-बारहवां वर्ष

13-तेरहवां वर्ष

13- चौदहवां वर्ष

14- पन्द्रहवां वर्ष

15- सोलहवां वर्ष

16- सतरहवां वर्ष

17- अठारहवां वर्ष

18- उन्नीसवां वर्ष

19- बीसवां वर्ष

20- इक्कीसवां वर्ष

21- बाईसवां वर्ष

22- तेईसवां वर्ष

23- चौबीसवां वर्ष

24- पच्चीसवां वर्ष

25- छब्बीसवां वर्ष

26- सत्ताईसवां वर्ष

27- अठाईसवां वर्ष

- 28- उन्तीसवां वर्ष
- 29- तीसवां वर्ष
- 27- भ० महावीर का निर्वाण
- 28- भ० महावीर और म० बुद्ध
- 29- महावीर कालिक मत-मतान्तर
- 30- विहार-स्थल परिचय
- 31- महावीर की जीवन- परिचय सारणी
- 32- गणधर परिचय-सारिणी

कालचक्र

यह जगत अनादि काल से उत्थान और पतन के रूप में परिवर्तित होता हुआ चला आ रहा है और आगे भी इसी प्रकार परिवर्तित होता हुआ चला जायगा। काल का यह प्रभाव कभी उत्थान से पतन की ओर चलता है और कभी पतन से उत्थान की ओर चलता है। इस पतन और उत्थान के काल में मनुष्यों की आयु, बल, बुद्धि आदि क्रमशः घटती और बढ़ती रहती है। उत्थान से पतन की ओर जाने वाले काल को अवसर्पिणीकाल कहते हैं और पतन से उत्थान की ओर जाने वाले काल को उत्सर्पिणीकाल कहते हैं। इनमें से प्रत्येक छह-छह भाग माने गये हैं। अवसर्पिणीकाल के छह भागों के नाम इस प्रकार हैं- 1- सुखमसुखमा, 2-सुखमा, 3-सुखमदुखमा, 4-दुःखमसुखमा, 5-दुखमा, 6-दुखमदुखमा। इनमें से प्रथम काल का परिमाण चार कोडाकोडी सागरोपम है। इस काल में भोग और उपभोग की सामग्री प्रचुरता से उपलब्ध रहती है और कभी किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार के दुःख का अनुभव नहीं करना पड़ता है। मनुष्यों की जीवनोपयोगी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति तात्कालिक वृक्षों से पूर्ण हो जाती है। जिन्हें कि कल्पवृक्ष कहा जाता है। दूसरे काल का नाम सुखमा है। यद्यपि इसमें भी मनुष्यों का जीवन सुखमय रहता है तथापि पहले काल की अपेक्षा इसमें सुख की मात्रा कम हो जाती है। इस काल का प्रमाण तीन कोडाकोडी सागरोपम है। तीसरे काल का नाम सुखमदुखमा है। इस काल में सुख की मात्रा के साथ कुछ दुःख का भी अनुभव होने लगता है। इस काल का प्रमाण दो कोडाकोडी सागरोपम है। इन तीनों कालों को भोगभूमि-काल कहते हैं। भोग-भूमि काल में जन्म लेने वाले पुरुष और पशु सभी जीव प्रकृति प्रदत्त भोगोपभोगों का अनुभव जीवन भर करते हैं। उस समय के लोगों को जीवन निर्वाह के लिए किसी प्रकार का कोई उद्यम विशेष नहीं करना पड़ता है। इस भोग-भूमि के समय लोगों का न कोई धर्म होता है और न समाज। मनुष्यों के जीवन के अन्त में पुत्र-पुत्री युगल का जन्म होता है। उनके जन्म लेते ही माता, पिता का स्वर्गवास हो जाता है। दोनों बालक अपना-अपना अंगूठा चूस कर बड़े होते हैं और युवावस्था को प्राप्त होने पर वे दोनों पति-पत्नी के रूप में रहने लगते हैं।

तीसरे काल के अंतिम समय में प्राकृतिक कल्पवृक्षों का अभाव हो जाने से एवं अनेक नवीन समस्याओं के उत्पन्न हो जाने से तात्कालिक प्रजा को भूख-प्यास आदि का कष्ट भोगना पड़ता है। तब उनके कष्टों को दूर करने के लिए 14 मनु या कुलकरों की उत्पत्ति होती है। ये कुलकर लोगों को रहन-सहन की शिक्षा देते हैं, उनके पारिवारिक कलह को शांत

करते हैं, सूर्य चन्द्रादि के देखने से उत्पन्न भय को दूर करते हैं, क्रूर पशुओं से आत्म रक्षा का उपाय बताते हैं और घोड़े आदि पशुओं से काम लेना सिखाते हैं। इस प्रकार ये कुलकर तात्कालिक समाज व्यवस्था का सूत्रपात करते हैं।

इस युग के अन्तिम 14 वें कुलकर का नाम नाभिराय था। इनके समय में बच्चों के जन्म के साथ नाभिनाल लम्बे होने लगे थे अतः नाभिराय ने भी सर्व प्रथम इनके काटने का उपदेश दिया। इनकी पत्नी का नाम मरुदेवी था। इनसे ही भगवान् ऋषभ देव का जन्म हुआ। इस युग में ये ही जैन धर्म के प्रवर्तक आदि तीर्थंकर हुए।

प्रथम तीर्थंकर के मोक्ष जाने के तीन वर्ष साढ़े आठ मास व्यतीत होने पर चौथे दुःखमसुखमा नाम के काल का प्रारम्भ हुआ। इस काल का प्रमाण 42 हजार वर्ष कम एक कोडाकोडी सागरोपम है। साधारणतः इसी चतुर्थ काल में ही तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण और बलभद्र आदि महापुरुषों का जन्म होता है। अब की बार प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव और प्रथम चक्रवर्ती भरतराज जो तीसरे काल के अंत में हुए हैं उसे हुण्डावसर्पिणी काल का दोष माना गया है। इस समय के लोग असि, मषी कृषि वाणिज्य विद्या और शिल्प इन छह कर्मों के द्वारा आजीविका का निर्वाह करते हैं। इसलिए यहां से इस काल को कर्मभूमि कहा जाने लगा है।

भोग-भूमि में उत्पन्न होने वाले सभी जीव यतः मन्दकषायी और स्वभाव से ही शान्त प्रकृति के होते हैं। अतः ये सब जीव मर कर अपने भवों के अनुसार यथायोग्य देव गति में ही जन्म लेते हैं। किन्तु कर्म-भूमि के जीवों में कषायों की मात्रा बढ़ जाती है, और वे परस्पर में कलह आदि करने लगते हैं तथा उनकी प्रवृत्ति कदाचित् शुभ और कदाचित् अशुभ होने लगती है इसलिए इस काल के जीव अपने भावों के अनुसार मर कर चारों गतियों में जाने लगते हैं। यतः इस काल में तीर्थंकरों का जन्म होता है और वे धर्म का प्रवर्तन करते हैं अतः उनके उपदेशों से प्रभावित होकर भव्य जीव सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र्य रूप धर्म की आराधना करके निर्वाण (शिव) पद को भी प्राप्त करते हैं।

चौथे काल के अन्त में जब केवल पिचहत्तर वर्ष साढ़े आठ मास शेष रहे तब भगवान् महावीर का जन्म हुआ। उनका चरित् और उनके उपदेशों का वर्णन आगे विस्तार से किया जायगा। आज उनका ही तीर्थ शासन प्रचलित है। इनके मोक्ष जाने के तीन वर्ष साढ़े आठ मास पश्चात् दुःखमा नाम का पांचमा काल प्रारम्भ हुआ। चौथे काल में उत्पन्न हुए गौतम स्वामी आदि कुछ महापुरुष इस काल में भी मोक्ष गये हैं किन्तु उनके बाद मुक्ति का द्वार

इस भारतवर्ष में बन्द हो गया। क्यों कि पंचम काल के उत्पन्न हुए पुरुष मोक्ष में नहीं जा सकते हैं ऐसा सनातन नियम है। इस काल में मनुष्यों की शारीरिक शक्ति और बुद्धि आदि के हास के साथ धर्म का भी हास होने लगता है। इस काल का प्रमाण 21 हजार वर्ष का है। इस समय इसके लगभग अढ़ाई हजार वर्ष बीत गये हैं। इस समय लोगों में शारीरिक दुःखों के साथ-साथ मानसिक दुःख भी बढ़ने लगते हैं अतः इसे दुःखमा-काल कहते हैं।

पंचम काल के पूर्ण होने के बाद दुःखमदुःखमा नाम का 21 हजार वर्ष का छठा काल आयगा। इसमें मनुष्यों की आयु बलबुद्धि का और भी उत्तरोत्तर हास होता जायगा, धर्म का भी लोप हो जायगा, कृषि आदि की भी व्यवस्था नष्ट हो जायगी और लोग प्रायः मत्स्य मांस भोजी हो जायेंगे। इसी काल के अन्त में 49 दिन का प्रलय पड़ेगा। उस समय जो थोड़े बहुत मनुष्य और पशुओं के जोड़े विजयार्द्ध पर्वत पर तथा गंगा-सिन्धु नदियों की गुफाओं में चले जावेंगे वे ही बचेंगे और सब नष्ट हो जावेंगे। इस प्रकार इस अवसर्पिणीकाल का अन्त हो जायगा।

तत्पश्चात् उत्सर्पिणीकाल का प्रारम्भ होगा। उसके भी छह विभाग होते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं- 1- दुःखमदुःखमा 2- दुःखमा 3- दःखमसुखमा 4- सुखमदुःखमा 5- सुखमा और 6- सुखमसुखमा। इसकाल में उत्तरोत्तर दुःख कम होते जायेंगे और मनुष्यों की आयु बल बुद्धि एवं सुखादिक बढ़ते जाएंगे। इस काल के तीसरे भाग में पुनः तीर्थकर आदि तरेसठ शलाका पुरुषों का जन्म होगा और पुनः मोक्ष-मार्ग का प्रवर्तन होगा। उस तीसरे काल के पूर्ण होने पर अग्रिम तीन कालों में पुनः भोग-भूमि का युग आयगा। इस प्रकार इस भरत क्षेत्र में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल का चक्र सदा चलता रहता है। जिस प्रकार अवसर्पिणी काल के छहों विभागों का काल प्रमाण बतलाया गया है उसी प्रकार अवसर्पिणी काल के भी छहों विभागों का काल प्रमाण दस कोडाकोडी सागरोपम जानना चाहिए। इन दोनों उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल को कल्पकाल कहते हैं।

तीर्थकर

जैन धर्म की मान्यता के अनुसार कोई ऐसा सनातन ईश्वर नहीं है जो कि इस जगत को बनाता हो अथवा लोगों को सुखदुःख देता हो। यही कारण है कि जैन धर्म में ईश्वर के अवतार वाद को कोई स्थान नहीं है। जैन धर्म की मान्यता है कि जो भी व्यक्ति अपने पुरुषार्थ द्वारा आत्म-विकास करता है वही आत्मा से परमात्मा बन जाता है। ऐसी ही कुछ विशिष्ट आत्माएं केवल्य प्राप्ति के अनन्तर धर्म का उपदेश देकर स्वर्ग और मुक्ति का मार्ग बतलाती हैं। उन्हीं कुछ विशिष्ट आत्माओं को तीर्थकर कहते हैं। तीर्थ नाम साधारणतः नदी या समुद्र के पार उतरने के घाट का है। जो संसार समुद्र से पार उतारने का कारण भूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक रत्नत्रय धर्म है वही तीर्थ कहलाता है। उस तीर्थ का जो महापुरुष प्रवर्तन करते हैं वे तार्थकर कहलाते हैं। ये तीर्थकर अज्ञानी और आसुरी प्रकृति वाले पुरुषों के द्वारा धर्म के मूल तत्वों में आई हुई मलीनता को मिटाते हैं और जगत में सच्चे धर्म की पुनः स्थापना करते हैं। इन्हीं महापुरुषों के अमृतमय उपदेशों और सदाचार के प्रवर्तन द्वारा संसारी जीवों को आत्मबोध प्राप्त होता है। और उनके उपदेशों के अनुसार चलकर मनुष्य आत्म-विकास करता हुआ आत्मा से परमात्मा बन जाता है। ये तीर्थकर स्वयं भी जगत से पार होते हैं और दूसरों को भी पार करते हैं। इस प्रकार तीर्थकर शब्द का सीधा सादा अर्थ यह है कि जो संसार सागर से स्वयं तिरते हैं और उसमें डूबने वाले प्राणियों को तारते हैं अर्थात् जन्म-जरा-मरण रूप संसार से पार उतारते हैं और उन्हें सांसारिक दुःखों से छुड़ाकर मोक्ष प्राप्त करते हैं वे तीर्थकर कहलाते हैं।

तीर्थ शब्द का दूसरा अर्थ पवित्र भी होता है। जैसे नदी आदि के तीर्थ पर स्नान करके लोग अपने को पवित्र मानते हैं, उसी प्रकार जिनकी ध्वनि दिव्य वाणी रूप वाक्गंगा में अवगाहन करके जीव पवित्र होते हैं अर्थात् अपने आन्तरिक कर्ममलों को धोकर शुद्ध हो जाते हैं जैसे पवित्र तीर्थ को करने वाले महापुरुष तीर्थकर कहलाते हैं। ये तीर्थकर अपने त्याग, अपने सदाचार, अपने दिव्य विचार, अपनी संकल्प-शक्ति, अपने सुन्दर और सर्वहितकारी उपदेश के द्वारा सर्व प्राणियों पर अनुग्रह बुद्धि से- अनुपम प्रेम भावना से और अपने महान गुणों के द्वारा जगत के पतित जीवों को पावन करते हैं उन्हें ऊपर उठाते हैं और उनकी मानसिक दासता के बन्धनों को तोड़कर उन्हें आत्मबोध का अनुभव कराते हैं। ये तीर्थकर जगत में व्याप्त अज्ञान अंधकार को दूर कर, कुरीतियों का खण्डन कर सामाजिक और धार्मिक कार्यों की नींव प्रेम और सदाचार पर रखते हैं, वे अपने लिए ही नहीं, किन्तु

सर्वकाल के सर्व प्राणियों के लिए मुक्ति का मार्ग दिखाकर अनन्त सुखों की प्राप्ति कराते हैं, जिनकी दृष्टि में यह मेरा और यह पराया है ऐसा भेदभाव नहीं होता, जो प्राणी मात्र को ही अपना कुटुम्बी बन्धु मानते हैं और उनके दुःख को अपना ही दुःख मानकर तन-मन-धन से उनके दुःखों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं और जगत के सब जीवों को कहते हैं कि जैसे तुम्हें अपना जीवन प्रिय है उसी प्रकार सर्व प्राणियों को भी अपना जीवन प्रिय है। जैसे तुम स्वयं दुःख नहीं उठाना चाहते हो वैसे ही कोई भी प्राणी दुःख नहीं उठाना चाहता और जैसे तुम सुख से रहना चाहते हो वैसे ही सभी प्राणी सुख से रहना चाहते हैं। इस प्रकार का विश्व मैत्री का दिव्य उपदेश देकर जो जगत का उद्धार करते हैं वे ही महापुरुष तीर्थकर कहलाते हैं।

अवतार-वाद नहीं, उत्तार-वाद

संसार में यह प्रथा प्रचलित रही है कि जो कोई भी महापुरुष यहां पैदा हुआ, उसे ईश्वर का पूर्णावतार या वंशावतार कह दिया गया है। भगवान् महावीर ने अपने उपदेशों में कभी अपने आपको ईश्वर का पूर्ण या आंशिक अवतार नहीं कहा, प्रत्युत अवतार वाले ईश्वर का निराकरण ही किया है। उन्होंने कहा- ईश्वर तो आत्मा की शुद्ध अवस्था का नाम है। एक बार आत्मा के शुद्ध हो जाने पर फिर उसकी संसार में अवतार लेने वाली अशुद्ध दशा नहीं हो सकती। जैसे धान्य के छिलके से अलग हुए चावल का पुनः उत्पन्न होना असम्भव है, उसी प्रकार कर्म मल से रहित हुए शुद्ध जीव का संसार में मनुष्यादि के रूप से जन्म लेकर अशुद्ध दशा को प्राप्त करना भी असंभव है। जैन धर्म अवतारवादी नहीं, प्रत्युत उत्तारवादी है। ईश्वर का मनुष्य के रूप में अवतरण तो उसके हास या अवनति का द्योतक है, विकास का नहीं, क्योंकि अवतार का अर्थ है नीचे उतरना। किन्तु उत्तार का अर्थ है- ऊपर चढ़ना, अर्थात् आत्म-विकास करना। अवतारवादी परम्परा में ईश्वर या परमात्मा नीचे उतरता है, मनुष्य बनकर फिर सर्व साधारण संसारी पुरुषों के समान राग-द्वेष मयी हीन प्रवृत्ति करने लगता है। उत्तारवादी परम्परा में मनुष्य अपना विकास करते हुए ऊपर चढ़कर ईश्वर, भगवान् या परमात्मा बनता है। जैन धर्म ने पूर्ण रूप से विकसित आत्मा को ही भगवान् या परमात्मा कहा है, सांसारिक प्रपंच करने वाले व्यक्ति को नहीं।

भगवान् महावीर ने स्वयं ही बतलाया कि सर्व साधारण के समान मैं भी अनादि से संसार में जन्म-मरण के चक्कर लगाता हुआ आ रहा था। इस युग के आदि में आदि महापुरुष ऋषभदेव को पौत्र और आदि सम्राट का पुत्र था। किन्तु अभिमान के वश मैं होकर मैंने अपनी उस मानव पर्याय दुरुपयोग किया और फिर उत्थान पतन की अनेक अवस्थाओं को प्राप्त हुआ। पुनः अनेक भवों से उत्तरोत्तर आत्म-विकास करते हुए आज इस अवस्था को प्राप्त कर सका हूं। अतः मेरे समान ही सभी प्राणी अपना विकास करते हुए मेरे जैसे बन सकते हैं। यही कारण है कि जैन धर्म ने जगत् का कर्ता धर्ता ईश्वर को नहीं माना है, किन्तु उद्धर्ता पुरुष को ही ईश्वर माना है। जैन धर्म का कर्मवाद सिद्धान्त यही उपदेश देता है कि - आत्मा ही अपने सुख-दुःख का कर्ता और भोक्ता है। सुमार्ग पर चलने वाला आत्मा अपना मित्र है और कुमार्ग पर चलने वाला आत्मा अपना शत्रु है।

भगवान् महावीर के जन्म समय भारत की स्थिति

भगवान् महावीर के जन्म से पूर्व अर्थात् आज से अठ्ठाई हजार वर्ष के पहिले भारत वर्ष की धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। लोग धर्म के नाम पर अधार्मिक कार्यों में रात दिन संलग्न रहते थे। पशु-यज्ञ अपनी चर्म सीमा पर पहुंच चुके थे। मूक और निरपराध पशुओं का स्वर्ग प्राप्ति की कामना से बलिदान दिया जा रहा था। प्रतिदिन हजारों पशुओं के सर धड़ से अलग कर दिये जाते थे और उन सिरों की ही आहुतियां दी जाती थीं। कहीं-कहीं पर नर-बलि की अंध स्वार्थ और पाप पूर्ण प्रथा का भी तान्डव नृत्य दिखाई पड़ता था। लोग अपने भौतिक स्वार्थ की पूर्ति करने में आध्यात्मिक आदर्श का सर्वथा त्याग कर चुके थे। जो लोग पहिले संयम सत्य का उपदेश देते थे और सादगी के रक्षक माने जाते थे वे लोग ही अब सांसारिक भोग विलासमय जीवन यापन करने लगे थे। उनके सत्य के उपदेश ने अब स्वछन्दता और स्वार्थ का जामा पहन लिया था।

उस समय ज्ञान और संयम का वातावरण मानो विलुप्त सा हो गया था। ज्ञान की कोई चर्चा भी नहीं करता था। चारों ओर समाज में दुष्कर्मों की खासी धूम मच गई थी और वह दिन पर दिन अधिकाधिक जोर पकड़ती जा रही थी। छल कपट और बाह्याडम्बर ने भी समाज में पैर पसार रखे थे। अज्ञानान्धकार के कारण देश के सभी भागों में दुःख दर्द और रोग शोकों की बाढ़ सी आ गई थी। मनुष्य समाज ही नहीं, पशु समाज तक भी उस समय बड़े संकट में था। जहां भी जाओ और जिधर भी देखो सर्वत्र वायु मण्डल में उनके सिसकने और कराहने की आर्त आवाज गूंजती सुनायी पड़ती थी। कोई भी व्यक्ति इस सिसक और कराह से खाली न था। जो ब्राह्मण वर्ग किसी समय अहिंसा और जीव दया का पूर्ण रूप से उपासक था वही उस समय हिंसा का पक्का पोषक बन गया था।

उस समय ब्राह्मणों का बोल बाला था। सारी धार्मिक सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की बागडोर उन्हीं के हाथों में थी। उन्होंने यह प्रसिद्ध कर रखा था कि-

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वमेव स्वयम्भुवा ।

यज्ञस्य भूतयै सर्वस्य तस्माद् यज्ञे वधो अवधः ॥

अर्थात् स्वयंभू (ब्रह्म) ने स्वयं ही यज्ञ के लिए पशुओं को रचा है। इसलिये यज्ञ में पशुओं का वध करना पाप-कारक नहीं है। वे लोग खुले शब्दों में यह कहने लगे थे कि 'वेदकी हिंसा हिंसा न भवति' अर्थात् वेद-विधान से की गई हिंसा हिंसा नहीं है, अपितु स्वर्ग प्राप्ति

का कारण होने से पुण्यकारी है। उनकी इस युक्ति का लोगों पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि लोग यज्ञों में केवल बकरों का ही होम नहीं करते थे, वरन भैंसा, घोड़ा और गाय तक का होम करने लगे थे। यही कारण है कि वेदों में अश्वमेघ, गौमेघ आदि नाम वाले यज्ञों का विधान आज भी देखने में आता है। धर्म के नाम पर हिंसा का यह तान्डव नृत्य अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया था जिसके फल स्वरूप नरमेघ-यज्ञ तक होने लगे थे जिनमें कि हम यौवन सम्पन्न मनुष्यों तक को यज्ञादि की आहुति बना दिया जाता था। इस विषय के उल्लेख अनेक ग्रन्थों में पाये जाते हैं। गीता- रहस्य जैसे ग्रन्थ के लेखक लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने अपने एक भाषण में कहा था कि “पूर्व काल में यज्ञ के लिये असंख्य पशु हिंसा होती थी, इसके प्रमाण मेघदूत-काव्य आदि अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं।”

भगवान् महावीर ने इस हिंसा को दूर करने के लिये महान प्रयत्न किया और उसी का यह सुफल है कि भारत वर्ष से याज्ञिकी हिंसा सदा के लिये बन्द हो गई। स्वयं लोकमान्य तिलक ने स्वीकार किया है कि इस घोर हिंसा का ब्राह्मण धर्म से विदाई ले जाने का श्रेय जैन धर्म के ही हिस्से में है।

भगवान् महावीर के पूर्व सारे भारत की सामाजिक स्थिति अत्यन्त दयनीय हो रही थी। ब्राह्मण सारी समाज में सर्व श्रेष्ठ समझा जाता था। उसके लिए ब्राह्मण-ग्रन्थों में कहा गया था कि -

दुःशीलोऽपि द्विजः पूज्यो न शूद्रो विजितेन्द्रियः। (पारासर स्मृति 8।32।)

अर्थात् दुःशील ब्राह्मण भी पूज्य है और जितेन्द्रिय शूद्र भी पूज्य नहीं है। तथा ब्राह्मण विद्वान् हो या मूर्ख वह महान् देवता है और सर्वथा पूज्य है। यथा-

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणौ देवतं महत्। (मनु स्मृति 9।317।)

श्रोत्रिय ब्राह्मण के लिए यहां तक विधान किया गया था कि श्राद्ध के समय उसके लिए महान बैल को भी मार कर उसका मांस श्रोत्रिय ब्राह्मण को खिलावे। यथा-

महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत् । (याज्ञवल्क्यस्मृति:- आचाराध्यायः शलोक 109)

उस समय ब्राह्मणों ने यहां तक कानून बना दिये थे कि शूद्र को ज्ञान नहीं देना चाहिये, न यज्ञ का उच्छिष्ट और हवन से बचा हुआ भाग, और न उसे धर्म का उपदेश ही

देना चाहिये। यदि कोई शूद्र को धर्मोपदेश और व्रत का उपदेश देता है, तो वह शूद्र के साथ असंवृत नामक अन्धकारमय नरक में जाता है। यथा-

न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्।

न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत्॥

यश्चास्योपदिशेद्धर्मं यश्चास्य व्रतमादिशेत्।

सो असंवृतं तमोघोरं सह तेन प्रपद्यते॥ (वशिष्ठ स्मृति 18।12-13)

शूद्रों के लिए वेद आदि धर्म ग्रन्थों के पढ़ने का अधिकार तो था ही नहीं, प्रत्युत ब्राह्मणों ने यहां तक व्यवस्था कर रखी थी कि जिस गांव में शूद्र निवास करता हो वहां वेद का पाठ भी न किया जावे। यदि वेदध्वनि शूद्र के कानों में पड़ जाय तो उसके कानों में गर्म शीशा और लाख भर दी जाय और वेद वाक्य का उच्चारण करने पर उसकी जिह्वा का छेद कर दिया जाय और वेद मंत्र को याद कर लेने पर उसके शरीर के दो टुकड़े कर दिये जावें। यथा-

अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपु - जतुभ्यां श्रोत्र-प्रतिपूरणमुदाहरणे

जिह्वाच्छेदो धारणे शरीर-भेदः।

टीका- अथ हेति वाक्यालंकारे। उपश्रुत्य बुद्धिपूर्वकभक्षरग्रहण मुपश्रवणम्। अस्य शूद्रस्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपु-जतुभ्यां त्रपुणा (शीसकेन) जतुना च द्रवीकृतेन श्रोते प्रतिपूरयितव्ये। सचेद् द्विजातिभिः सह वेदाक्षराण्युदाहरेदुच्चरेत्, जिह्वा छेद्या। धारणे सति यदाअन्यत्र गतोअपि स्वयमुच्चारयितुं शवनोति, ततः परश्वादिना शरीरमस्य भेद्यम्।

(गौतम धर्म सूत्र, अ03, सू04 टीका पृ0 89-90 पूना संस्करण) वर्ष 1931

उस समय शूद्रों को नीच, अधम एवं अस्पृश्य समझकर उनकी छाया तक से परहेज किया जाता था। आचार के स्थान पर जन्मगत जातीय श्रेष्ठता का ही बोल-बाला था। पगपग पर कुरुढियां, कुप्रथाएं और कुरीतियां ही दृष्टिगोचर होती थीं। सर्वत्र स्वार्थ लोलुपता, कामुकता और विलासिता का ही बाहुल्य था। यज्ञों में होने वाली पशु हिंसा ने मनुष्यों के हृदय निर्दयी और कठोर बना दिये थे।

बौद्धों के 'चित्तसमभूत जातक' में लिखा है कि एक समय ब्राह्मण और वैश्य कुलीन दो स्त्रियां नगर के एक महा द्वार से निकल रही थीं, मार्ग में उन्हें दो चाण्डाल मिले। चांडालों के देखने को उन्होंने अपशकुन समझा अतः घर आने पर उन्होंने शुद्ध होने के लिए अपनी आंखों को धोया, घर के लोगों से उन चांडालों को खूब पिटवाया और उनकी दुर्गति कराई। मातंग जातक और सद्धर्मजातक बौद्ध ग्रन्थों से भी अछूतों के प्रति किये जाने वाले घणित व्यवहार का पता चलता है।

ब्राह्मणों ने जाति व्यवस्था को जन्म के आधार पर प्रतिष्ठित कर रखा था। अतएव वे अपने को सर्व श्रेष्ठ मानते थे। भरत चक्रवर्ती ने उस युग के आदि में जब ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की तब उनकी धार्मिक प्रवृत्तियों को देखकर ही उन्हें उत्तम कहा था। किन्तु धीरे-धीरे उनकी गुणकृत महत्वा ने जाति या जन्म का स्थान ले लिया और उन्होंने अपने को धर्म का अधिकारी ही नहीं, अपितु ठेकेदार तक होने की घोषणा कर दी थी। इस प्रकार की उस समय धार्मिक व्यवस्था थी।

आर्थिक व्यवस्था की दृष्टि से उस समय का समाज साधारणतः सुखी था। किन्तु दासी-दास की बड़ी ही भयानक प्रथा प्रचलित थी। जब कभी कोई राजा किसी दूसरे राज्य पर आक्रमण कर उसे जीतता थातो वहां से अगणित स्त्री-पुरुषों को बन्दी बनाकर अपने राज्य में ले आता था और उन्हें नगर के चौराहों पर खड़े करके बेचा जाता था। खरीददार उन्हें नाम मात्र का वस्त्र और भोजन देकर रात दिन घर का काम कराया करता था। वे दासी-दास अत्यन्त दयनीय अवस्था में अपना जीवन यापन करते थे। दास-दासी की यह प्रथा अभी कुछ दिन पूर्व तक यहां के रजवाड़ों में चलती रही है।

इस प्रकार की धार्मिक सामाजिक एवं आर्थिक विषम परिस्थितियों के समय भगवान् महावीर ने जन्म लिया। बाल्यकाल के व्यतीत होते ही उन्होंने अपनी दृष्टि चारों ओर दौड़ायी और तात्कालिक समाज का अच्छी तरह अध्ययन करके इस निर्णय पर पहुंचे कि मैं अपना जीवन लोगों के उद्धार में ही लगाऊंगा और उन्हें उनके महान कष्टों से विमुक्त करूंगा। फलस्वरूप उन्होंने विवाह करने और राज्य सम्भालने से इन्कार कर दिया और स्वयं प्रवृजित होकर एक लम्बे समय तक कठोर साधना की। पुनः केवल्य प्राप्ति के पश्चात् अपने लक्ष्यानुसार जीवन पर्यन्त उन्होंने जगत को सुमार्ग दिखाकर उसका कल्याण किया, दुःख संत्रस्त जीवों का दुःखों से विमोचन किया और स्वर्ग-मुक्ति का मार्ग दिखाकर उसकी ओर उन्हें अग्रेसर किया।

भगवान् महावीर के पूर्व भव

यह पहिले बतलाया जा चुका है कि जैन धर्म के अनुसार प्रत्येक आत्मा अपने पुरुषार्थ के द्वारा परमात्मा बन सकता है। यह प्राणी अपने शुभ और अशुभ भावों के द्वारा कैसे-कैसे कर्म उपार्जित करता है और उनके फलस्वरूप किस प्रकार सुगति और दुर्गति जाकर सुख और दुःख भोगता है इसका सजीव वर्णन हमें स्वयं भगवान् महावीर के पूर्व भवों में दृष्टिगोचर होता है। तथा उनके पूर्व भवों से यह भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन्होंने कहां से और किस भव से अपना आत्म विकास प्रारम्भ किया। इसलिए भगवान् महावीर के वर्तमान भव सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन करने के पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि पाठकों को भगवान् महावीर के पूर्व भवों का दिग्दर्शन कराया जाय।

भगवान् महावीर का शास्त्रों में उपलब्ध भिल्लराज के भव से लेकर अन्तिम भव तक का जीवन काल उत्थान -पतन की अनेक विस्मय-कारक करुण कहानियों से भरा हुआ है। वर्तमान कालिक समस्त तीर्थंकरों में से केवल भगवान् महावीर के ही सब से अधिक पूर्व भवों का वर्णन जैन शास्त्रों में देखने को मिलता है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों में ही सम्प्रदायों के शास्त्रों में उनके पूर्व भव का श्री गणेश भिल्लराज के भव से ही पाया जाता है। संक्षेप में पूर्व भवों का यह कथानक इस प्रकार है।

भगवान् ऋषभदेव के पौत्र और भरत चक्रवर्ती के पुत्र मरीचिकुमार होने से दो भव पूर्व भगवान् महावीर का जीव इसी जम्बू द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तर किनारे पर पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी के समीपवर्ती वन में पुरुरवा नाम का भील था। एक बार जब वह वन में अपनी स्त्री के साथ घूम रहा था तब गन्तव्य मार्ग भूल जाने के कारण एक दिगम्बर मुनिराज उस वन में विचर रहे थे उन्हें दूर से आता हुआ देखकर पुरुरवा भील ने हरिण समझकर मारने के लिए ज्यों ही धनुषबाण संभाला कि उसकी स्त्री ने यह कहकर उसे रोक दिया कि ये तो वन के देवता घूम रहे हैं, इन्हें मत मारो। भील ने जब समीप जाकर देखा तब उसका भ्रम दूर हुआ और अपनी भूल पर पश्चाताप करते हुए उसने भक्ति पूर्वक नमस्कार कर उनसे आत्म-कल्याण का उपाय पूछा। मुनिराज ने उसे मद्य, मांस और मधु सेवन के त्याग रूप व्रत का उपदेश दिया। जिसे उसने जीवन पर्यन्त पालन किया। आयु के समाप्त होने पर वह सौधर्म स्वर्ग में एक सागरोपम की आयु का धारक देव हुआ। वहां के दिव्य सुखों को भोग कर वह इसी भरत क्षेत्र की अयोध्या नगरी में भगवान्

ऋषभदेव का पौत्र और आदि चक्रवर्ती भरत महाराज का पुत्र हुआ। जिसका नाम मरीचि रखा गया।

जब भगवान् ऋषभदेव संसार, देह और भोगों से विरक्त होकर दीक्षित हुए तब अन्य चार हजार महापुरुषों के साथ मरीचि ने भी भगवान् की भक्तिवश जिन दीक्षा को धारण कर लिया। भगवान् ऋषभदेव ने दीक्षा लेने के साथ ही छह मास के उपवास की प्रतिज्ञा लेकर मौन धारण कर लिया। उनके साथ दीक्षित हुए सभी लोग उनका अनुकरण करते हुए कुछ दिन तक तो भूख-प्यास की बाधा सहन करते रहे। किन्तु जब उनसे भूख प्यास का कष्ट नहीं सहा गया तब वे लोग वन के फल फूल खाने लगे और नदी का जल पीने लगे। वन देवताओं ने उन लोगों से कहा कि दिगम्बर वेश धारण करने वाले मुनियों का यह मार्ग नहीं है। यदि तुम लोग मुनि धर्म के कठिन मार्ग पर नहीं चल सकते तो वापिस घर चले जाओ, अथवा अन्य वेश धारण कर लो पर दिगम्बर वेश में रहकर ऐसी उन्मार्ग प्रवृत्ति करना ठीक नहीं है। वे लोग भरत चक्रवर्ती के भय से अपने घर तो नहीं गये किन्तु नाना वेशों को धारण करके वन में रहते हुए और कन्द-मूल आदि खाते हुए अपना जीवन यापन करने लगे।

जब भगवान् ऋषभदेव को केवलज्ञान प्राप्त हो गया तब उन्होंने उन भ्रष्ट हुए तपस्वियों को संबोधित कर मुनि-मार्ग पर चलने का उपदेश दिया। जिससे अनेक तपस्वियों ने पुनः दीक्षा धारण कर ली। किन्तु तब तक मरीचि अपने अनेक शिष्य बनाकर उनका मुखिया बन चुका था। अतः उसने जिन-दीक्षा को अंगीकार नहीं किया और जब उसे भरत के प्रश्न करने पर भगवान् ऋषभदेव की दिव्य ध्वनि से यह ज्ञात हुआ कि मैं ही आगे चलकर इस युग का अन्तिम तार्थकर और आदि नारायण होने वाला हूँ। तब तो वह अभिमान से उन्मत्त होकर और भी अधिक स्वच्छन्दता से विचरने लगा। तथा स्व-मन-घडन्त तत्वों का उपदेश देकर एक नये ही मत का प्रचार करने लगा, जो कि आगे जाकर कपिल शिष्य के नाम पर कापिल या सांख्य-मत के नाम से संसार में आज तक प्रसिद्ध है। मरीचि का यह भव भगवान् महावीर के ज्ञात पूर्व भवों की दृष्टि से तीसरा भव है।

यद्यपि मरीचि जीवन भर उन्मार्ग का प्रवर्तन करता रहा तथापि कुतप के प्रभाव से मर कर वह पांचवें ब्रह्म-स्वर्ग में जाकर देव उत्पन्न हुआ। यह भगवान् महावीर का चौथा भव है। वहां से आकर यह पांचवें भव में इसी भरत क्षेत्र की अयोध्या नगरी में कपिल नामक ब्राह्मण की काली नामक की स्त्री से जटिल नाम का पुत्र हुआ। पूर्व भव के दृढ संस्कारों से इस भव में भी वह अपने पूर्व प्रचारित कपिल मत का ही साधु बनकर तपस्या करते हुए

उसका प्रचार करता रहा और छठे भव में पुनः सौधर्म-स्वर्ग में उत्पन्न होकर देव पद पाया। वहां से चय कर सातवें भव में इसी भरत क्षेत्र के स्थूणागार नामक नगर में भारद्वाज नामक ब्राह्मण की पुष्पदत्ता स्त्री से पुष्पमित्र नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। और पूर्व संस्कारों के वश से परिव्राजक बनकर उसी मिथ्यामत का प्रचार करता रहा। जीवन के अन्त में मरकर आठवें भव में पुनः सौधर्म-स्वर्ग का देव हुआ। नवें भव में वहां से चय कर इसी भरत क्षेत्र के सूतिका नामक ग्राम में अग्निभूति नामक ब्राह्मण की गौतमी नाम की स्त्री से अग्निसह नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। इस भव में भी उसने उसी कपिल मत का प्रचार किया और मरकर दसवें भव में सनतकुमार-स्वर्ग का देव हुआ। ग्यारह वें भव में वह पुनः स्वर्ग से आकर भरत क्षेत्र के मन्दिर नामक ग्राम के गौतम ब्राह्मण की कौशिकी नामकी ब्राह्मणी से अग्निमित्र नामका पुत्र हुआ। यहां पर भी उसने वही पुरानी परिव्राजक की दीक्षा धारण कर उसी कपिल मत का प्रचार किया और जीवन के अन्त में मरकर बारहवें भव में महेन्द्र-स्वर्ग का देव हुआ। वहां से चय कर तेरहवें भव में इसी भरत क्षेत्र के मन्दिर नामक नगर में शालंकायन ब्राह्मण की मन्दिरा नाम की स्त्री से भारद्वाज नाम का पुत्र हुआ। इस भव में भी उसने परिव्राजक बन कर उसी कपिल मत का प्रचार किया और जीवन के अन्त में मरकर चौदहवें भव में पुनः महेन्द्र-स्वर्ग का देव हुआ।

इस प्रकार मरीचि का जीव लगातार आगे पांचों मनुष्य भवों में अपने पूर्व दृढ संस्कारों से प्रेरित होकर उत्तरोत्तर मिथ्यात्व का प्रचार करते हुए दुर्मोर्च दर्शन मोहनीय कर्म के साथ सभी पाप कर्मों का तीव्र बन्ध करता रहा, जिसके फलस्वरूप चौदहवें भव वाले स्वर्ग से चय कर मनुष्य हो तिर्यच योनि के असंख्यात भवों में लगभग कुछ कम एक कोडाकोड़ी सागरोप काल तक परिभ्रमण करता रहा और अगणित दुःख भोगता रहा। अतः इन भवों की गणना भ0 महावीर के प्रमुख भवों में नहीं की गई है।

तिर्यग् योनि में असंख्यातकाल तक परिभ्रमण करने के पश्चात् कर्मभार के हल्के होने पर मरीचि का जीव गणनीय पन्द्रहवें भव में इसी भरत क्षेत्र के मगध देशान्तर्गत राजगृह नगर के शांडिल्य नामक ब्राह्मण की पारासरी नाम की स्त्री से स्थावर नाम का पुत्र हुआ। इस भव में भी तापसी बनकर और मिथ्या मत का प्रचार करते हुए मरण कर वह सोलहवें भव में महेन्द्र-स्वर्ग का देव हुआ। यहां से चय कर सत्रहवें भव में इसी भरत क्षेत्र के मगध देशस्थ राजगृह नगर में विश्वभूति राजा की जैनी नामक स्त्री से विपुल पराक्रम का धारक विश्वनन्दी नाम का पुत्र हुआ। इसी राजा विश्वभूति का विशातभूति नामक एक छोटा भाई

था, उसकी लक्ष्मणा स्त्री से विशाखनन्दी नामक एक मूर्ख पुत्र उत्पन्न हुआ। किसी निमित्त से विरक्त होकर राजा विश्वभूति ने अपना राज्य छोटे भाई को और युवराज पद अपने पुत्र विश्वनन्दी को देकर जिन दीक्षा धारण कर ली।

तदन्तर किसी समय युवराज विश्वनन्दी नन्दन वन के समान मनोहर अपने उद्यान में अपनी स्त्रियों के साथ क्रीडा कर रहा था । उसे देखकर ईर्ष्या से संतप्त हुए विशाखनन्दी ने अपने पिता के पास जाकर कहा कि उक्त उद्यान मुझे दिया जाय। अन्यथा मैं घर छोड़कर चला जाऊंगा। पुत्र मोह से प्रेरित होकर राजा ने उसे देने का आश्वासन दिया और एक षडयन्त्र रचकर विश्वनन्दी को एक शत्रु राजा को जीतने के लिये बाहर भेज दिया और वह उद्यान अपने पुत्र को दे दिया। विश्वनन्दी जब शत्रु को जीतकर वापिस आया और उक्त षडयन्त्र का उसे पता चला तो वह आग-बबूला हो गया और विशाखनन्दी को मारने के लिये उद्यत हुआ। भय के मारे अपने प्राण बचाने के लिये विशाखनन्दी उद्यान के एक कवीट (कैथ) के पेड़ पर चढ़ गया। विश्वनन्दी ने हिला-हिलाकर उस कैथ के पेड़ को जड़ से उखाड़ डाला और विशाखनन्दी को मारने के लिये ज्यों ही उद्यत हुआ कि विशाखनन्दी वहां से भागा और एक पाषाण-स्तम्भ के पीछे छिप गया। विश्वनन्दी ने जब उसे भी उखाड़ फेंका तब विशाखनन्दी अपने प्राण बचाने के लिये वहां से भी भागा। उसे भागता हुआ देखकर विश्वनन्दी को करुणा के साथ विरक्ति भाव जाग्रत हुआ और वह राज भवन में न जाकर तथा वन में जाकर समभूत गुरु के पास जिन-दीक्षा धारण कर मुनि बन गया। दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् विश्वनन्दी उग्र तप करते हुए विचरने लगे। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए किसी समय से गोचरी के लिये मथुरा नगरी में ज्यों ही प्रविष्ट हुए कि एक सद्यः प्रसूता गाय ने धक्का देकर विश्वनन्दी मुनि को गिरा दिया। उन्हें गिरता हुआ देखकर अचानक सामने आये हुए विशाखनन्दी ने व्यंग-पूर्वक कहा “तुम्हारा वह पेड़ और खम्भे को उखाड़ने वाला पराक्रम अब कहां गया। उसका यह व्यंग-वचन-वाण मुनि के हृदय में प्रविष्ट हो गया और निदान किया यदि मेरी तपस्या का कुछ फल हो तो मैं इसे अगले भव में माऊं। “अन्त में निदान सहित संन्यास धारण कर मुनि का जीव अठारहवें भव में महाशुक्र-स्वर्ग में देव हुआ। आयु के पूर्ण होने पर वहां से आकर वह इसी भरत क्षेत्र में सुरम्य देश के पोदनपुर नगर में प्रजापति महाराज की मृगावती रानी से त्रिपृष्ठ नाम का पुत्र हुआ। विश्वनन्दी के काका विशाखभूति का जीव भी महाशुक्र-स्वर्ग में देव हुआ था। वह भी वहां से चय कर इन्हीं

प्रजापति महाराज की जयवती रानी से विजय नाम का पुत्र हुआ। इनमें विजय बलदेव हुए और त्रिपृष्ठ नारायण बने।

उधर विशाखनन्दी का जीव मुनि की हंसी उड़ाने के महा पाप से मरकर अनेक कुगतियों में घूमता हुआ पूर्व भव में मनुष्य होकर तपस्या के प्रभाव से स्वर्ग में जाकर देव हुआ और फिर वह इसी भरत क्षेत्र के रत्नपुर नामक नगर में अश्वग्रीव नामका प्रतिनारायण हुआ। इसने अपने बाहुबल से भरत क्षेत्र के तीनों खण्ड स्वाधीन कर लिये। बड़े बड़े शूर वीर और पराक्रमी राजाओं तक को युद्ध में जीत कर उसने उन्हें अपने वश में कर लिया था। त्रिपृष्ठ के पिता भी इसी के अधिकार में एक माण्डलिक राजा थे। एक बार अश्वग्रीव प्रतिनारायण ने एक ज्योतिषी से पूछा- क्या इस जगत में कोई मेरा शत्रु पैदा हो चुका है? यदि नहीं हुआ है तो आगे होगा? क्या वह मुझे मारकर मेरा राज्य हथिया लेगा? ज्योतिषी ने योग, लग्न, मुहूर्त आदि को देखकर बताया कि महाराज आप मुझे अभय प्रदान करें तो मैं जो कुछ यथार्थ बात है उसे निःसंकोच कहूँ। अश्वग्रीव के अभय दान देने पर ज्योतिषी ने बताया कि आपका शत्रु पैदा हो चुका है और जो आपके राज्य की सीमा के पश्चिम भाग में रहने वाले उपद्रवी सिंह को मारेगा उसी के हाथ से आपका भी मरण होगा और वही आपके राज्य का स्वामी बनेगा। ज्योतिषी को अश्वग्रीव ने विसर्जित किया और स्वयं चिन्तातुर रहने लगा।

कुछ समय के पश्चात् अश्वग्रीव को अपने राज्य की पश्चिम दिशा के सीमान्त प्रदेश से समाचार मिला कि वहां एक सिंह ने बड़ा ही उपद्रव मचा रखा है। यह समाचार पाकर अश्वग्रीव ने अपने अधीनस्थ राजाओं के पास आदेश भेजा कि वे लोग बारी-बारी से वहां जाकर सिंह से प्रजा की रक्षा करें। राजा लोग एक-एक कर वहां जाने लगे और सिंह से प्रजा की रक्षा करने लगे। परन्तु कोई भी राजा उस सिंह को मार नहीं सका। क्रमशः त्रिपृष्ठ के पिता प्रजापति महाराज की बारी आई और वे सीमान्त प्रदेश पर जाने की तैयारी करने लगे। यह देखकर त्रिपृष्ठ और विजय दोनों भाईयों ने जाकर अपने पिता से कहा- हम लोगों के रहते हुए आपका जाना उचित नहीं है। हम लोग जाकर सिंह से सीमांत प्रदेश के लोगों की रक्षा करेंगे। पिता के बहुत कुछ मना करने पर भी वे अनुज्ञा लेकर सीमांत प्रदेश को चल पड़े। जब वे सेना के साथ वहां पहुंचे तो लोगों से उन्होंने सिंह के रहने के स्थान का पता पूछा। लोगों के द्वारा स्थान का पता बताये जाने पर दोनों भाई रथ में बैठकर उसी ओर चल दिये। रास्ते में त्रिपृष्ठ ने रथ के सारथी से पूछा- क्या सिंह के पास भी कोई सवारी और

सैनिक लोग हैं? उत्तर में सारथी ने कहा- कुमार सिंह के पास सवारी और सैनिक कहां सम्भव है? वह तो वन में विचरने वाला एक भयानक क्रूर पशु है। सारथी की यह बात सुनकर त्रिपृष्ठ ने अपने भाई विजय से कहा- भाई अपन लोग क्षत्रिय हैं, जब अपना शत्रु सिंह पैदल विचरण करता है और कोई सेना आदि भी उसके पास नहीं है तब अपन को सवारी पर चढ़कर सैनिकों के साथ उस पर धावा बोलना उचित नहीं है। यह बात क्षत्रिय धर्म के बिल्कुल विपरीत है। अतः अपने को भी सैनिक और सवारी यहीं छोड़ कर पैदल ही उस पर आक्रमण करना चाहिये। विजय ने भी उसकी बात का अनुमोदन किया और दोनों भाई पैदल ही आगे बढ़े। कुछ दूर आगे जाने पर त्रिपृष्ठ ने अपने बड़े भाई से पूछा क्या सिंह के पास कोई अस्त्र-शस्त्र भी हैं? भाई ने कहा- कुमार, उसके पास एक भी अस्त्र-शस्त्र नहीं है। वह तो वन में रहने वाला एक हिंसक पशु है। यह सुनकर त्रिपृष्ठ बोला- भाई, तब तो हम लोगों को भी शस्त्र यहं छोड़ देना चाहिए । क्यों कि निःशस्त्र शत्रु पर शस्त्रों से आक्रमण करना क्षात्र-धर्म के विरुद्ध है। भाई की अनुज्ञा पाकर उन्होंने सब शस्त्रा-शस्त्र वहीं छोड़ दिये और खाली हाथ आगे बढ़े। कुछ दूर आगे जाने पर त्रिपृष्ठ ने फिर पूछा- भाई, क्या उसके साथ कोई संगी-साथी भी है? विजय ने उत्तर दिया- कुमार, वह सिंह तो अकेला ही रहता है। यह सुनकर त्रिपृष्ठ ने कहा- तो भाई आप भी यहीं रह जाएं। मैं अकेला ही उसे जीतने के लिए जाऊंगा । जब सिंह अकेला ही वन में रहता है और उसका पुरुषार्थ ही एक मात्र सहायक है तब फिर मेरे लिए तुम्हारी सहायता की भी आवश्यकता नहीं है। मैं अकेले सिंह पर किसी दूसरे के साथ आक्रमण करना धर्म के विरुद्ध समझता हूं। यह कहकर त्रिपृष्ठ आगे अकेला ही बढ़ता गया और सिंह के स्थान पर जा पहुंचा। वहां जाकर उसने देखा कि सिंह अपनी कन्दरा में सोया हुआ पड़ा है। त्रिपृष्ठ चाहता तो सिंह को सोती दशा में बिना प्रयास के ही मार सकता था। परन्तु उसने ऐसा करना क्षत्रिय-धर्म के विपरीत समझा और जोर से ललकार लगाकर सिंह को सोते से जगाया। जागते ही सिंह क्रोधित होकर त्रिपृष्ठ के ऊपर झपटा। त्रिपृष्ठ ने साहसपूर्वक छलांग मारकर सिंह के दोनों जबड़े अपने दोनों हाथों से पकड़ लिए और जीर्ण-वस्त्र के समान उसके मुख को अनायास ही चीर डाला। सिंह तड़फड़ाता हुआ भूमि पर गिर पड़ा और कुछ देर में मर गया।

इस प्रकार सिंह का काम तमाम करके त्रिपृष्ठ वापिस लौटा और अपने भाई के पास आकर सारा वृत्तांत कहा। भाई ने उसे अपने बाहूपाश में बांध लिया और रथ में बैठकर सेना के साथ वे दोनों वापिस अपने नगर में चले आये ।

अश्वग्रीव ने जब त्रिपृष्ठकुमार के अद्भुत शौर्य की यह बात सुनी तो वह ईर्ष्या से जल उठा। वह मन ही मन त्रिपृष्ठ को मारने का उपाय सोचने लगा। इसी समय विजयार्द्ध पर्वत के दक्षिण भाग में अवस्थित रथनूपुर चक्रवाल नामक नगर के विद्याधर राजा ज्वलनजाटि ने अपनी सर्वांग सुन्दरी सुभद्रा नाम की पुत्री का विवाह त्रिपृष्ठकुमार के साथ कर दिया। उसके सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर अश्वग्रीव ने त्रिपृष्ठ के पिता के राज्य पर बड़ी भारी सेना लेकर आक्रमण कर दिया। दोनों ओर से घमासान युद्ध हुआ और अन्त में त्रिपृष्ठ ने अश्वग्रीव को मार गिराया। पुनः सुदर्शन चक्र लेकर तीन खण्डों को जीता और प्रथम नारायण के रूप से त्रिखण्ड पृथ्वी का एकछत्र राज्य सुख भोगने लगा। एक दिन त्रिपृष्ठ के राजमहल में कुछ संगीतज्ञ आये और अपने मधुर संगीत की स्वर-लहरी से उन्होंने राज-सभा को मुग्ध कर दिया। त्रिपृष्ठ ने उनके संगीत से प्रसन्न होकर उन्हें बहुत पारितोषिक दिया और रात्रि के समय शयनागार में आकर संगीत सुनाने की आज्ञा दी। रात्रि को जब त्रिपृष्ठ शैय्या पर लेटे तो संगीतज्ञों ने अपना मधुर संगीत प्रारम्भ किया। त्रिपृष्ठ ने सोते समय शैय्यापालक से कहा- जब मुझे नींद आ जाय तो गाना बन्द करवा देना। त्रिपृष्ठ कुछ ही समय के बाद सो गये। संगीत की सुरीली तान में तल्लीन हो जाने के कारण शैय्यापालक गायकों को विदा करना भूल गया। यहां तक कि उन्हें गाते-गाते प्रातःकाल हो गया। त्रिपृष्ठ की निद्रा भंग हुई और उन्होंने अभी तक गायकों को गाते हुए देखा। तब वे क्रोधित होकर शैय्यापाल से बोले- तूने अभी तक गाना क्यों नहीं बन्द करवाया? शय्यापालक बोला स्वामिन् मैं संगीत के स्वर में इतना मोहित हो गया कि मुझे आपकी आज्ञा की सुध भी नहीं रही। शय्यापालक की बात को सुनकर उन्होंने राजपुरुषों को हुक्म दिया कि इस शय्यापालक के दोनों कानों में गर्म-गर्म शीसा डाल दिया जाय। राजा के आदेश से उसके कानों में गर्म-गर्म शीसा डाला गया और वह मछली के समान तड़फते हुए मर गया। इस दुष्कृत्य से त्रिपृष्ठ नारायण ने घोरतिघोर असाता-वेदनी कर्म का उपार्जन किया। जिसका बदला उन्हें आगे भगवान् महावीर के भव में चुकाना पड़ा।

कुछ समय पश्चात् ग्यारहवें तीर्थकर श्री श्रेयांसनाथ धर्म देशना देते हुए पोदनपुर पधारे। वहां पर भी आपकी दिव्य देशना हुई। लोग उससे प्रभावित हुए और अनेकों ने मुनिव्रत और अनेकों ने श्रावकव्रत अंगीकार किये। किन्तु नरक आयु का बन्ध हो जाने से त्रिपृष्ठ नारायण कोई भी व्रत नहीं ग्रहण कर सका। त्रिपृष्ठ के बड़े भाई विजय ने मुनि

बनकर कठोर तपश्चरण किया और मोक्ष पधारे। त्रिपृष्ठ मरण कर सातवें नरक में गया। यह महावीर का बीसवां भव है।

इक्कीसवें भव में नर्क से निकलकर महावीर का जीव सिंह हुआ और हिंसा-जनित पापकर्म के फल से पुनः बाईसवें भव में प्रथम नर्क का नारकी उत्पन्न हुआ। वहां से निकलकर तेईसवें भव में फिर भी सिंह हुआ। इस सिंह के भव में जब वह किसी दिन एक हिरण को पकड़कर खा रहा था तब भाग्यवश दो चारण मुनि आकाश मार्ग से विहार करते हुए वहां उतरे और उसे संबोधित करते हुए कहा- हे भव्य, तूने जो त्रिपृष्ठ नारायण के भव में राज्याशक्ति से घोर पाप उपार्जन किया उसके फल से नर्कों में घोर यातनायें सहन की हैं और तब भी तू इस मृग जैसे दीन प्राणियों को मार-मारकर घोर पाप उपार्जन कर रहा है। उन्होंने कहा-

जग्गु जग्गु रे केत्तउ सोवहि, तउ पुण्णे मुणि आयउ जोवहि।

एवक जि कोडाकोडी सायर, गयउ भमंते कालु जि भायर।।

हे भाई जाग-जाग। कितने समय तक और सोवेगा। पूरा एक कोडाकोडी सागर प्रमाण काल तुझे परिभ्रमण करते हुए हो गया है। आज तेरे पुण्य से हम मुनि युगल आये हैं सो देख और आत्म हित में लग। मुनि-राज के ये उद्बोधक वचन सुनकर सिंह को जातिस्मरण हो गया और वह अपने पूर्व भवों को याद करके हिरण को छोड़कर आंखों से आंसू बहाते हुए निश्चल खड़ा हो गया। उन चारण मुनियों ने उसे निकट भव्य और अन्तिम तीर्थकर होने वाला देखकर धर्म का उपदेश दिया। जिसे सिंह ने शान्ति पूर्वक सुना और प्रबुद्ध होकर उनकी प्रदक्षिणा दे उनके चरणों में अपना सिर रखकर बैठ गया। मुनि राज ने उसे पशु मारने और मांस खाने का त्याग कराया और उसके योग्य श्रावक व्रतों का उपदेश दिया। एवं उसे सम्यक्त्व ग्रहण करा कर मुनि राज विहार कर गये। चारण मुनियों के चले जाने पर सिंह की प्रवृत्ति एकदम बदल गई। उसने जीवों का मारना और मांस खाना छोड़ दिया। अन्य आहार का मिलना सम्भव नहीं था अतः वह निराहार रहकर दिन बिताने लगा। अन्त में संन्यास-पूर्वक प्राण छोड़कर प्रथम स्वर्ग का देव हुआ। यह भगवान् महावीर का चौबीसवां भव है। तेईसवें भव तक उनका उत्तरोत्तर पतन होता गया और मुनि-समागम के पश्चात् उनके उत्थान का श्री गणेश हुआ।

सौधर्म से चय कर वह देव यातकी-खण्ड द्वीप के पूर्व मेरु के विदेह क्षेत्रस्थ मंगलावती देश के विजयार्द्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी के कनकप्रभ नगर में राजा कनकपुंख रानी कनकमाला के कनकोज्ज्वल नाम का पुत्र हुआ। किसी समय वह मेरु पर्वत की वन्दना को गया। वहां पर उसने एक मुनि राज के धर्म का उपदेश सुना और संसार से विरक्त होकर मुनि बन गया। अन्त में समाधि-पूर्वक प्राण त्याग किये। यह महावीर का गणनीय पच्चीसवां भव है। छब्बीसवें भव में वह लान्तब स्वर्ग का देव हुआ। वहां से चय कर इसी जम्बू द्वीप के कौशल देशान्तर्गत साकेत नगर के राजा वज्रसेन की रानी शीलवती के हरिषेण नाम का पुत्र हुआ। यह महावीर का गणनीय सत्ताईसवां भव है। हरिषेण राजाचिरकाल तक राज्य-सुख भोग कर और किसी निमित्त से विरक्त होकर मुनि बन गया और आयु के अन्त में मर कर महाशुक्र नाम के स्वर्ग में देव उत्पन्न हुआ। यह अट्ठाईसवां गणनीय भव है। सोलह सागरोपम काल तक देव-सुखों को भोग कर वह वहां से चय कर घात की खण्ड द्वीप के पूर्व दिशा संबंधी विदेह क्षेत्र के पूर्व भाग में स्थित पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी में राजा सुमित्र और रानी मनोरमा के प्रियमित्र ने चक्रवर्ती का पद प्राप्त कर समस्त प्रकार के भोगों का उपभोग किया। अन्त में क्षेमंत्कर जिनेन्द्र देव के मुखारविन्द से धर्मोपदेश सुनकर वह संसार से विरक्त हो गया और अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य का भार देकर एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गया पुनः यथा विधि संयम धर्म का पालन कर और आयु के अन्त में मरण कर तीसवें भव में सहस्त्रार स्वर्ग में सूर्यप्रभ नामका देव हुआ। वहां पर उसने अठारह सागरोपम काल तक अनेक प्रकार के दिव्य भोगों को भोगा।

सहस्त्रार स्वर्ग का वह देव वहां से चय कर इकतीसवें भव में इसी जम्बू द्वीप के छत्रपुर नगर के राजा नन्दिवर्धन और रानी वीरमती के नन्दन नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। दीर्घ काल तक राज्य सुख भोग कर उसने एक बार त्रोटिल मुनि राज के पास धर्म का स्वरूप सुना और जिन दीक्षा धारण कर ली। इसी समय उन्होंने निम्न लिखित षोडश कारण भावनाओं का चिन्तन किया और तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया।

षोडश कारण भावना चिन्तन

- 1- दर्शनविशुद्धि- वे मुनिराज अपने प्राप्त सम्यग्दर्शन को उत्तरोत्तर निर्मल करने लगे। उन्होंने सम्यक्त्व के निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सित, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन आठ अंगों को धारण किया, तज्जनित दोषों का परिहार किया। देवमूढता, लोकमूढता और गुरुमूढता का त्याग किया। ज्ञान, कुल,

जाति, बल, सम्पत्ति, तपश्चरण, रूप और ऐश्वर्य इन आठ मर्दों का त्याग किया।
कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और इनके सेवकों की उपासना का सर्वथा त्याग किया और
निरन्तर अपने शुद्ध सत्चिद् और आनन्दरूप आत्मा का चिन्तन करते रहे।

- 2- विनय सम्पन्नता- वे अति विनयवान होकर सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की आराधना करते और उनके धारकों की बड़ी विनय और भक्ति से सेवा-सुश्रूषा करके उनकी उपासना में निरत रहते थे।
- 3- निरतिचार- शीलव्रत- वे अपने धारण किये हुए मूल गुणों और उत्तरगुणों का अतिचार रहित पालन करते और कभी कदाचित कोई दोष लग जाता तो उसे गुरु के पास जाकर और प्रायश्चित लेकर तत्काल उसे शुद्ध कर लेते थे। वे अपने व्रत और शीलों को उत्तरोत्तर निर्मल बनाते रहते थे।
- 4- अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग- वे निरन्तर तत्त्वों का अभ्यास करते और खाते-पीते, चलते-फिरते एवं सोते-जागते हर समय अपने आत्म-सम्बेदन में संलग्न रहते थे। इससे उनका सांसारिक पदार्थों से राग-द्वेष उत्तरोत्तर मन्द होता गया, उदासीनता और वीतरागता बढ़ती गई। जिसके फल स्वरूप उनको ग्यारह अंग चौदह पूर्व का ज्ञान हो गया।
- 5- अभीक्ष्ण सम्बेग- वे संसार, देह और भोगों की क्षण-विनश्वरता, असारता और विकरालता का चिन्तन करते रहते थे। इसके फल स्वरूप उनकी प्रवृत्ति सांसारिक विषय-भोगों से बिल्कुल दूर हो गई।
- 6- शक्तितस्त्याग - वे अपनी शक्ति प्रमाण निरन्तर सर्व प्राणियों को अभयदान देते और नवीन शिष्य-मुनियों एवं भव्य-जीवों को ज्ञानदान देते थे। वे सदा प्राणी-मात्र के प्रति मैत्री-भाव रखते थे दुःखी प्राणियों को देखकर उनके हृदय में करुणा का सागर उमड़ पड़ता था और उन्हें देखकर वे सोचा करते थे कि कैसे इन सब प्राणियों का दुःख दूर होवे, कब और कैसे ये प्राणी सुखी हों और आनन्द-पूर्वक रहें। त्रैलोक्य के जीवों की उद्धार भावना उनके हृदय में हिलोरें लेती रहती थीं।
- 7- शक्तितस्तप- वे अपनी शक्ति प्रमाण कभी उपवास करते, कभी ऊनोदर रहते, कभी नीरस भोजन करते, कभी ग्रीष्म-काल में पर्वत की शिखर पर खड़े होकर सूर्य की आतापना लेते, कभी शीत-काल में रात्रि के समय चौराहों पर खड़े होकर शीत की भयंकर वेदना सहते और कभी वर्षा-काल में वृक्ष के नीचे खड़े होकर वर्षा-जनित कष्ट सहन करते थे । इस प्रकार बाहरी तपों को तपते हुए वे प्रायश्चित्, विनय और रोगी

साधु-जनों की वैयावृत्य करते और स्वाध्याय ध्यान में संलग्न रहकर कायोत्सर्ग करते थे।

- 8- साधु समाधि- वे अपने चित्त को सदा निराकुल समाधि में अवस्थित रखते और समीपवर्ती साधुओं को भी यथा शक्ति समाधि पहुंचाते रहते थे।
- 9- वैयावृत्करण- नन्दनमुनि आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान (रोगी मुनि) गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ मुनियों की वैयावृत्य करने में सदा तत्पर रहते थे । अपने से पीछे दीक्षित हुए और अल्प वय वाले साधु की भी वे निःशंकोच भाव से बड़े भक्ति भाव से वैयावृत्य करने में आनन्द का अनुभव करते थे। उनके मल-मूत्रादि साफ करने में कभी किसी प्रकार की घृणा का भाव मन में नहीं आने देते थे।
- 10- अर्हद्भक्ति- वे नित्य अर्हन्तदेव की भक्ति में लवलीन रहा करते थे। मैं कब कर्मों का नाश कर अर्हन्त पद को प्राप्त करूं और उनके समान जगत के जीवों को सन्मार्ग का उपदेश देता हुआ विचरूं? यह भावना उनके मन में निरन्तर बनी रहती थी।
- 11- आचार्य भक्ति- वे आचार्य को अपने सर्व श्रेष्ठ हितैषी मान कर उनकी सेवा-उपासना करते रहते थे। उनके संकेत को समझ कर सदा उसे सम्पन्न करने में सावधान रहते थे।
- 12- बहुश्रुत-भक्ति- द्वादशांग श्रुत केवेत्ता उपाध्यायों की वे बड़ी भक्ति करते थे। ज्ञान के समान और कोई वस्तु सुख का कारण नहीं है। जो ज्ञानरूपी अज्जनशलाका से अज्ञानान्धकारावृत सांसारिक प्राणियों के नेत्रों को खोलते हैं यथार्थ में वे ही परमगुरु जगत के उद्धारक हैं । इस प्रकार की भावना से वे बहु-ज्ञानियों की बहुत विनय करते थे ।
- 13- प्रवचन भक्ति- जिनोपदिष्ट वाणी ही जगत की सच्ची हितकारणी माता है। इस भावना के साथ वे निरन्तर प्रवचन रूप परमागम की निरन्तर भक्ति करते रहते थे।
- 14- आवश्यकापरिहाणि- वे अपने दैवसिक सामायिक, स्तवन, वन्दन, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग रूप छहो आवश्यकों का बिना किसी विघ्न वाधा के निरन्तर पालन करते रहते थे।
- 15- मार्ग-प्रभावना- वे सन्मार्ग की प्रभावना करने में सदा उद्यत रहते थे। उनके हृदय में जैन मार्ग के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा और भक्ति थी। वे जैन मार्ग को ही संसार के

दुःखी प्राणियों का उद्धारक और सुख प्रदायक मानते थे। इसी कारण वे उसकी प्रभावना कर जैन शासन का माहात्म्य प्रकाशित करने में सदा संलग्न रहते थे।

- 16- प्रवचनवात्सल्य- उनका सच्चे देव, शास्त्र, गुरु और धर्म के प्रति अत्यधिक वात्सल्य था। वे अपने सधर्मी साधुजनों के प्रति भी अनुपम प्रेमभाव रखते थे। गुणी जनों को देखकर उनके हृदय में प्रेम की गंगा उमड़ने लगती थी। उनके इस वात्सल्य गुण के कारण वन में रहने वाले हिंसक पशु भी अपना वैर-भाव भूलकर उनके समीप आ बैठते थे।

इस प्रकार उन्होंने अपने पवित्र भावनाओं से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया और जीवन के अन्त में समाधि-पूर्वक प्राण छोड़कर बत्तीसवें भव में अच्युत-स्वर्ग के इन्द्र उत्पन्न हुए। बाईस सागरोपम-काल तक वहां पर उन्होंने स्वर्गीय सुखों का अनुभव किया और वहां से ही अवतरित होकर तेतीसवें भव में भगवान् महावीर बने।

इस प्रकार दिगम्बर परम्परा में भगवान् महावीर के तेतीस भवों का उल्लेख मिलता है। श्वेताम्बर परम्परा में ४० महावीर के सत्ताईस ही भवों का वर्णन देखने को मिलता है। उनमें प्रारम्भ के बाईस भव कुछ नाम परिवर्तनादि के साथ वे ही हैं जो कि दिगम्बर परम्परा में बतलाये गये हैं। तेईस से लेकर अट्ठाईसवें तक के भवों का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। यहां पर स्पष्ट जानकारी के लिए दोनों परम्पराओं के अनुसार भगवान् महावीर के भव दिये जाते हैं।

दिगम्बर-मान्यतानुसार-

- 1- पुरुरवाभील
- 2- सौधर्म देव
- 3- मरीचिकुमार
- 4- ब्रह्म स्वर्ग का देव
- 5- जटिल ब्राह्मण
- 6- सौधर्म स्वर्ग का देव
- 7- पुष्यमित्र ब्राह्मण
- 8- सौधर्म स्वर्ग का देव
- 9- अग्निसह ब्राह्मण
- 10- सनत्कुमार देव

श्वेताम्बर-मान्यतानुसार-

- 1- नयसार भिल्लराज
- 2- सौधर्म देव
- 3- मरीचिकुमार
- 4- ब्रह्म स्वर्ग का देव
- 5- कौशिक ब्राह्मण
- 6- ईशान स्वर्ग का देव
- 7- पुष्यमित्र ब्राह्मण
- 8- सौधर्म स्वर्ग का देव
- 9- अग्न्युद्योत ब्राह्मण
- 10- ईशान देव

11-	अग्निमित्र ब्राह्मण	11-	अग्निभूति ब्राह्मण
12-	माहेन्द्र स्वर्ग का देव	12-	सनत्कुमार स्वर्ग का देव
13-	भारद्वज ब्राह्मण	13-	भारद्वज ब्राह्मण
14-	माहेन्द्र स्वर्ग का देव	14-	माहेन्द्र स्वर्ग का देव
	त्रस-स्थावर यौनि के असंख्य भव		अन्य अनेक भव
15-	स्थावर ब्राह्मण	15-	स्थावर ब्राह्मण
16-	माहेन्द्र स्वर्ग का देव	16-	ब्रह्म स्वर्ग का देव
17-	विश्वनन्दी (मुनि पद में निदान)	17-	विश्वभूति (मुनि पद में निदान)
18-	महाशुक्र स्वर्ग का देव	18-	महाशुक्र स्वर्ग का देव
19-	त्रिपृष्ठ नारायण	19-	त्रिपृष्ठ वासुदेव
20-	सातवें नरक का नारकी	20-	सातवें नरक का नारकी
21-	सिंह	21-	सिंह
22-	प्रथम नरक का नारकी	22-	प्रथम नरक का नारकी
23-	सिंह (चारण मुनि द्वारा संबोधन	-	
24-	प्रथम स्वर्ग का देव	-	
25-	कनकोज्ज्वल राजा	-	
26-	लान्तव स्वर्ग का देव	-	
27-	हरिषेण राजा	-	
28-	महाशुक्र स्वर्ग का देव	-	
29-	प्रियमित्र चक्रवर्ती	23-	पोट्ठिल या प्रियमित्र चक्री
30-	सहस्रार स्वर्ग का देव	24-	महाशुक्र स्वर्ग का देव
31-	नन्द राजा (तीर्थकर प्रकृति का बन्ध)	25-	नन्द राजा (तीर्थकर का बन्ध)
32-	अच्युत स्वर्ग का इन्द्र	26-	प्राणत स्वर्ग का देव
33-	भ0 महावीर	27-	भ0 महावीर

दोनों परम्पराओं के अनुसार भगवान् महावीर के पूर्व भवों में छह भवों का अन्तर कैसे पड़ा इस प्रश्न के समाधानार्थ दोनों परम्पराओं के आगमों की छानबीन करने पर जो निष्कर्ष निकला वह इस प्रकार है-

भ० महावीर दोनों परम्पराओं के अनुसार बाईसवें भव में प्रथम नरक के नारकी थे। श्वे० परम्परा के अनुसार वहां से निकलकर पोट्ठिल या प्रियमित्र चक्रवर्ती हुए। दि० परम्परा के अनुसार नरक से निकल कर चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव नहीं हो सकते हैं। छक्खण्डागमसुत्त की गति-आगति चूलिका में स्पष्ट रूप से कहा है-

तिसु उवरिमासु पुढवीसु णेरइया णिरयादो उवट्ठिद-समाणाकदि गदीओ आगच्छंति ? (सूत्र 217) दुवे गदीओ आगच्छंति-तिरिक्खगदिमणुसगदिं चेव (सूत्र 218) । मणुसेसु उववण्णल्लया मणुस्सा केइ मेक्कारस उप्पाएंति- केइ मामिणिबीहियणाणमुप्पाएंति, केइं सुदणाणमुप्पाएंति, केहमोक्षिणमुप्पाएंति, केइं मणपज्जवणाणमुप्पाएंति, केइं केवलणाणमुप्पाएंति, केइं सम्मामिच्छत्तमुप्पाएंति, केइं सम्मत्तमुप्पाएंति, केइं संजमासंजममुप्पाएंति, केइं संजमनुप्पाएंति । णो बलदेवत्तं णां वासुदेवत्तमुप्पाएंति, णो चक्कवट्ठित्तमुप्पाएंति । केइं तित्थयरत्तमुप्पाएंति, केइ मंतयडा होदूण सिज्फंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वाणयंति सव्वदुक्खाणंमंतं परिविजाणंति । (सूत्र 220)

उक्त सूत्रों का अर्थ इस प्रकार है- प्रश्न- ऊपर की तीन पृथवियों के नारकी वहां से निकल कर कितनी गतियों में आते हैं? उत्तर - दो गतियों में आते हैं- त्रियंच गति में और मनुष्य गति में। मनुष्य गति में मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य ग्यारह पदों को उत्पन्न करते हैं- कोई आभिनिबोधिक-ज्ञान उत्पन्न करते हैं, कोई श्रुत-ज्ञान उत्पन्न करते हैं, कोई अवधिज्ञान उत्पन्न करते हैं, कोई मनःपर्यय-ज्ञान उत्पन्न करते हैं, कोई सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं, कोई सम्यग्मिथ्यात्व उत्पन्न करते हैं, कोई संजमासंयम उत्पन्न करते हैं और कोई संयम उत्पन्न करते हैं। किन्तु वे जीव न बलदेव को उत्पन्न करते हैं, न वासुदेव को और न चक्रवर्तित्व को उत्पन्न करते हैं। कोई तीर्थकर उत्पन्न होते हैं, कोई अन्तकृत होकर सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं और सर्व दुःखों के अन्त होने का अनुभव करते हैं। (षट्खण्डागम पु० 6 पृ० 492)

इस आगम प्रमाण के अनुसार नरक से निकला हुआ जीव चक्रवर्ती नहीं हो सकता और न बलदेव वासुदेव ही। किन्तु वे तीनों पदवीधारी जीव स्वर्ग से ही आकर उत्पन्न होते हैं। अतएव दिगम्बर परम्परा के अनुसार बाईसवें भव के बाद भगवान् महावीर का जीव सिंह पर्याय में उत्पन्न हुआ और उस भव में चारण मुनियों के द्वारा प्रबोध को प्राप्त होकर उत्तरोत्तर आत्म-विकास करते हुए उन्तीसवें भव में चक्रवर्ती हुआ है। यह कथन युक्तिसंगत है।

श्वेतबर परम्परा में प्रथम नरक से निकलकर एक दम चक्रवर्ती होने का वर्णन आश्चर्यजनक है। जब कि उससे भी पूर्व भवों में वह सिंह था और उससे भी पूर्व बीसवें भव में वह सप्तम नरक का नारकी था? तब कहां से उसने चक्रवर्ती होने के योग्य पुण्य का उपार्जन कर लिया? श्वेताम्बर परम्परा में सिंह को किसी भी साधु द्वारा संबोधे जाने का भी उल्लेख नहीं मिलता है। यदि वह सम्बोधित कर सन्मार्ग की ओर लगाया गया होता तो उसके नरक जाने का अवसर ही नहीं आता। श्वे० आगमों की छानबीन करने पर भगवती सूत्र के बारहवें शतक के नवें उद्देश्य के अनुसार प्रथम नरक का नारकी वहां से निकलकर चक्रवर्ती हो सकता है। उसका आधार इस प्रकार है -

(प्र०)- के नरदेवा?

(उ०)- गोयमा, जे रायाओ चाउरंतचक्कवट्टी उप्पण्णसम्मत्त-रयणप्पहाणा नवनिहिपहणो समिद्धकोसा बत्तीसं रायवरसहस्साणुयातमग्गा सागर-वरमेहलाहिवहणो मणुस्सिंदा से णरदेवा ।

(प्र०)- णरदेवा णं भंते कओहिंतो उववज्जंति ? किं० णेरहए० पुच्छा ।

(उ०)- गोयमा, णेरहएहिंतो वि उववज्जंति, णो तिरि० णो मणु० देवेहिंतो वि उववज्जंति ।

(प्र०)- जछ नेरहएहिंतो उववज्जंति, किं रयणप्पहपुढविणेरइएहिंतो उववज्जंति, जाव अहे सत्तमपुटविणेरिएहिंतो उववज्जंति ?

(उ०)-गोयमा, रयणप्पहापुटविणेरहएहिंतो उववज्जंति, णो सक्का जाव नौ अहे सत्तम-पुढविणेरइएहिंतो उववज्जंति । (भगवती सूत्र, भा० ३, पृ० २८९)

इसका अर्थ इस प्रकार है-

प्रश्न- नरदेव कौन कहलाते हैं?

उत्तर- हे गौतम, जो राजा चातुरंत चक्रवर्ती है, जिन्हें चक्र रत्न प्राप्त हुआ है। जो सम्यग्मत्त्व रत्न प्रधान हैं, जो नवनिधियों के स्वामी हैं, जिनका कोष (खजाना) समृद्ध है, बत्तीस हजार राजा जिनके पीछे चलते हैं और जो समुद्र रूप मेखला के अधिपति हैं वे मनुष्यों के इन्द्र नरदेव कहलाते हैं।

प्रश्न- भगवन्, ये नर देव कहां से आकर उत्पन्न होते हैं?

उत्तर- गौतम, वे नर देव नरक से भी आकर उत्पन्न होते हैं और देवगति से भी आकर के उत्पन्न होते हैं। किन्तु तिर्यक्गति और मनुष्य गति से आकर उत्पन्न नहीं होते हैं।

प्रश्न- भगवन्, यदि नरक से आकर उत्पन्न होते हैं तो क्या रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकीयों से आकर उत्पन्न होते हैं?

उत्तर- गौतम, रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकीयों से आकर उत्पन्न होते हैं। शेष नीचे की छह पृथ्वियों के नारकीयों से आकर नहीं उत्पन्न होते हैं।

भगवती सूत्र के उक्त आधार पर नरक से निकला जीव चक्रवर्ती हो सकता है, ऐसी श्वे० मान्यता भले ही प्रमाणित हो जाय, किन्तु जब नारायण और प्रतिनारायण जैसे अर्द्ध चक्रियों की उत्पत्ति देव गति से ही बतलाई गयी है। तब पूर्ण चक्रवर्ती सम्राट की उत्पत्ति नरक से निकलने वाले जीव के कैसे सम्भव है?

ज्ञात होता है कि श्वे० परम्परा के आचार्यों ने अपने आगम की मान्यतानुसार ही महावीर स्वामी के उक्त भवों का निर्धारण किया है। यहां इतनी बात ध्यान देने के योग्य है कि षट्खण्डागम के पुस्तकारूढ होने के भी लगभग तीन सौ वर्ष बाद भगवती सूत्र आदि श्वे० आगम तीसरी वाचना के पश्चात् पुस्तकारूढ हुए हैं। अतः षट्खण्डागम का प्राचीन होना स्वयं सिद्ध है। इस संदर्भ में एक बात और भी ज्ञातव्य है कि दि० परम्परा भी षट्खण्डागम की उल्लिखित गति-आगति चूचका की उत्पत्ति व्याख्या प्रज्ञप्ति अंग से ही मानती है। जब कि श्वे० परम्परा भगवती सूत्र को व्याख्या प्रज्ञप्ति नाम से कहती है। ऐसा प्रतीत होता है कि षट्खण्डागम - प्रस्तोता के गुरु धरसेनाचार्य के पश्चात् श्रुतज्ञान की धारा और भी क्षीण होती गई और श्वे० परम्परा में लिपिबद्ध होने तक वह बहुत कुछ विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गई। यही कारण है कि अनेक आचार्यों के स्मरणों के आधार पर श्वे० आगमों का अन्तिम संस्करण सम्पन्न हुआ अतः कितने ही स्थल त्रुटित रह गये हैं।

सिद्धांत ग्रन्थों में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का उत्कृष्ट काल खंड छ्यासठ सागरोपम बतलाया गया है। सिंह के जिस भव में चारण मुनियों ने उसे सम्बोधन करके सम्यक्त्व को ग्रहण कराया, वह बराबर महावीर के अन्तिम भव तक बना रहा। अर्थात् लगातार दस भव तक रहा और इस प्रकार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति पूरी करके वह क्षायिक सम्यक्त्व के रूप से परिणत हो उसी भव से उन्हें मुक्ति-प्राप्ति का कारण बना।

पूर्व भवों के इस वर्णन से यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि आध्यात्मिक विकास की पराकाष्ठा पर पहुंचना किसी एक ही भव की साधना का परिणाम नहीं है। किन्तु उसके लिए लगातार अनेक भवों में साधना करनी पड़ती है।

भगवान् महावीर का गर्भावतरण

जब सौधर्मेन्द्र ने अवधिज्ञान से जाना कि पन्द्रह मास के पश्चात् भगवान् महावीर का जन्म जम्बू द्वीपस्थ भरत क्षेत्र के कुण्डग्राम के नरेश सिद्धार्थ के यहां होगा तब उसने कुबेर को आज्ञा देकर उस नगर को सुन्दर और सुसज्जित कराया। भगवान् महावीर के स्वर्ग से अवतरित होने के छह मास पूर्व से देवों ने आकाश से प्रति दिन रत्नों की वर्षा आरम्भ कर दी। यह रत्न वर्षा भगवान् के जन्म होने तक लगातार पन्द्रह मास तक होती रही। भगवान् महावीर के गर्भ में आने के छह मास पूर्व ही इन्द्र की आज्ञा से पद्म आदि सरोवरों में निवास करने वाली श्री, ह्री, घृति, कीर्ति आदि छप्पन कुमारिका देवियां कुण्डग्राम आकर भगवान् की होने वाली माता प्रियकारणी त्रिशला देवी की सेवा करने लगीं। इनमें से श्रीदेवी ने माता के शरीर की शोभा बढ़ाई, ह्रीदेवी ने लज्जा को, धृतिदेवी ने धैर्य को, कीर्तिदेवी ने यश को बुद्धिदेवी ने निर्मल ज्ञान को और लक्ष्मीदेवी ने विभूति को बढ़ाया।

उसी समय अधोलोक वासिनी भोगंकरा, भोगवती, सुभोगा, भोगमालिनी, तोयंधरा, विचित्रा, पुष्पमाला और आनन्दिता नामक आठ देवियों ने राजमहल के स्वच्छ करने का कार्य प्रारम्भ किया। मेरुपर्वत से आने वाली मेघंकरा, मेघवती, सुमेधा, मेघमालिनी, सुवत्सा, वत्समित्रा, वारिषेणा और बलाहिकादेवी ने राजमहल के भीतर जल छिड़काव का कार्य सम्भाला। रुचकगिरि की पूर्व दिशा से आने वाली नन्दा, नन्दोत्तरा, आनन्दा, नन्दिवर्द्धना, विजया, वैजयन्ती, जया और अपराजिता नामक आठ देवियों ने और हाथ में दर्पण लेकर त्रिशला देवी की सेवा करना प्रारम्भ किया। दक्षिणरुचकगिरि से आने वाली समाहारा, सप्रदत्ता, सुप्रबुद्धा, यशोधरा, लक्ष्मीवती, शेषवती, चित्रगुप्ता और बसुन्धरा नामक आठ देवियों ने अपने हाथों में कलश धारण कर माता की सेवा करना प्रारम्भ किया। पश्चिमरुचकगिरि से आने वाली इलादेवी, सुलादेवी, पृथिवीदेवी, पद्मावती, एकनासा, नवमिका, भद्रा और सीता देवी ने हाथों में छत्र धारण कर माता की सेवा करना प्रारम्भ किया। उत्तररुचकगिरि से आने वाली अलम्बूसा, मित्रकेशी, पुण्डरीका, वारुणी, हासा, सुप्रभा, धी और ह्री इन आठ देवियों ने चंवर धारण कर माता की सेवा करना प्रारम्भ किया। रुचकगिरि की विदिशाओं से आने वाली रुचका, रुचकामा, रुचकान्ता, रुचकप्रभा, विजया, वैजयन्ती, जयन्ती और अपराजिता इन आठ देवियों ने माता के गर्भशोधनादि का कार्य किया।

ये कुमारिका देवियां कभी माता के आगे अष्टमंगल द्रव्य धारण कर चलती तो उनमें से कोई स्नान कराती, कोई वस्त्राभूषण पहनाती, कोई भोजन कराती और कोई ताम्बूल देती।

माता के सोने का समय होने पर कोई शय्या सजाती तो कोई पैर दबाने का कार्य करती और कोई पंखा हिलाकर उनको शीतल हवा पहुंचाती। ये सभी कुमारिका देवियां रात-दिन माता की ऐसी सावधानी पूर्वक सार-सम्भाल करतीं कि माता को कभी किसी प्रकार के कष्ट का कोई अनुभव नहीं होता था। जब माता चलती तब कितनी ही देवियां उनके वस्त्रों को कुछ ऊपर उठाकर चलतीं और जब माता बैठती तो आसन लाकर रख देती थीं। कितनी ही देवियां अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र धारण कर माता की अंग-रक्षा करती थीं। ये देवियां कभी जल-क्रीड़ा से, कभी वन-क्रीड़ा से, कभी कथा-गोष्ठी से, कभी संगीत-गोष्ठी से, कभी वादित्र-गोष्ठी से और कभी नृत्य-गोष्ठी से माता का मनोरन्जन करती थीं। माता के सोते समय ये नाना प्रकार के मधुर ध्वनि वाले बाजों को बजाकर उन्हें सुलाती और प्रातःकाल माता को जगाने के लिए उत्तम बाजों के साथ मनोहर मंगल गीत गाती थीं। इस प्रकार आनन्द के साथ त्रिशलादेवी का समय बीतने लगा।

कुछ लोग इसे आलंकारिक या काल्पनिक समझते हैं। किन्तु वे इस सब इन्द्र-आयोजित कार्य का महत्व नहीं समझते। बात यह है कि इन्द्र विचारता है कि माता की जिस कुक्षि में तीर्थंकर जैसे महापुरुष का जन्म होने वाला है उस कुक्षि में यदि कोई रोग होगा तो उत्पन्न होने वाले पुत्र पर उसका अवश्य प्रभाव पड़ेगा। इसी प्रकार यदि माता के आस-पास का वातावरण गन्दा या हल्का होगा तो उसका भी प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर पड़े बिना नहीं रहेगा। यही विचारकर इन्द्र उपर्युक्त व्यवस्था करता है। आज की भाषा में उक्त द्रवियों को लेडी डॉक्टर्स या नर्सेज कह सकते हैं। यतः बाहरी वातावरण का गर्भस्थ बालक पर प्रभाव पड़ता है। अतः वे कुमारिकादेवियां भगवान् के जन्म होने के पूर्व माता के चारों ओर का वातावरण ऐसा सुन्दर और नयन-मनहारी बनाती हैं कि जिससे माता के मन में किसी भी प्रकार का क्षोभ या संक्लेश न उत्पन्न होने पावे। इसी सब सावधानी का यह सुफल होता है कि उस माता के गर्भ से उत्पन्न होने वाला बालक अतुल बली, तीन ज्ञान का धारक और महा प्रतिभाशाली होता है।

साधारणतः यह नियम है कि किसी भी महापुरुष के जन्म लेने के पूर्व उसकी माता को कुछ विशिष्ट स्वप्न आते हैं जो कि किसी महापुरुष के जन्म लेने की सूचना देते हैं। स्वप्न-शास्त्र में तीस विशिष्ट स्वप्न माने गये हैं। जैन शास्त्रों के उल्लेखानुसार तीर्थंकर की माता उनमें से सोलह, चक्रवर्ती की माता चौदह, वासुदेव की माता सात, और बलदेव की माता चार स्वप्न देखती हैं ।

एक दिन जब त्रिशलादेवी अपनी उज्ज्वल कोमल शय्या पर सो रही थी तब उसने रात्रि के अन्तिम पहर में तीर्थकर देव के जन्म को सूचित करने वाले उत्तम सोलह सपने देखे। सबसे पहले उसने गम्भीर गर्जना करता हुआ ऐरावत हाथी देखा। दूसरे स्वप्न में धवल वर्ण का एक हृष्ट-पुष्ट बैल देखा। तीसरे स्वप्न में श्वेत वर्ण का लालकेसर वाला सिंह देखा। चौथे स्वप्न में दो हाथियों के द्वारा स्वर्ण कलशों से स्नान करती हुई लक्ष्मी को देखा। पांचवें स्वप्न में सुगन्धित फूलों की दो मनोहर मालाएं देखीं। छठे स्वप्न में तारामंडल से युक्त पूर्ण चन्द्र-मण्डल देखा। सातवें स्वप्न में उदयाचल से उदित होते हुए सूर्य को देखा। आठवें स्वप्न में कमलों से जिन के मुख ढंके हुए हैं ऐसे दो जल से भरे हुए स्वर्ण कलश देखे। नवें स्वप्न में श्वेत कमलों से शोभित सरोवर में जल-क्रीड़ा करती हुई दो मछलियां देखीं। दसवें स्वप्न में कमलों से शोभित एक सुन्दर सरोवर देखा। ग्यारहवें स्वप्न में क्षोभ को प्राप्त और वेला का उल्लंघन करता हुआ समुद्र देखा। बारहवें स्वप्न में एक स्वर्णमयी रत्न जटित सिंहासन देखा। तेरहवें स्वप्न में श्रेष्ठ रत्नों से प्रकाशमान देव विमान देखा। चौदहवें स्वप्न में भूतल से निकलता हुआ नागेन्द्र का भवन देखा। पन्द्रहवें स्वप्न में प्रकाशमान रत्नों की राशि देखी और सोलहवें स्वप्न में धधकती हुई निर्धूम अग्नि देखी।

यहां यह ज्ञातव्य है कि श्वे० परम्परा में तीर्थकर की माता के चौदह ही स्वप्नों के देखने का उल्लेख मिलता है। उक्त सोलह स्वप्नों में से बारहवें सिंहासन और चौदहवें में नाग विमान का उल्लेख नहीं मिलता है तथा मत्स्य- युगल के स्थान पर ध्वजा देखने का उल्लेख मिलता है। तदनुसार दोनों परम्पराओं की स्वप्नावली इस प्रकार है-

दिगम्बर परम्परा	श्वेताम्बर परम्परा
1- गज	1- गज
2- वृषभ	2- वृषभ
3- सिंह	3- सिंह
4- लक्ष्मी	4- श्री अभिषेक
5- माला युगल	5- दाभ (माला)
6- चन्द्र	6- चन्द्र
7- सूर्य	7- सूर्य
8- कलश-युगल	8- कलश
9- मीन-युगल	9- ध्वजा

10-	सागर	10-	सागर
11-	सरोवर	11-	पद्मसर
12-	सिंहासन		0
13-	देव विमान	12-	विमान
14-	नाग विमान		0
15-	रत्नराशि	13-	रत्न उच्चय
16-	निर्धूम अग्नि	14-	अग्नि

दोनों परम्पराओं में तेरह स्वप्न तो एक से ही हैं किन्तु दि० परम्परा में जहां मीन (झण) का उल्लेख है वहां श्वे० परम्परा में ध्वज (झय) का उल्लेख है। ज्ञात होता है कि किसी समय प्राकृत झस के स्थान पर झय, या झय के स्थान पर झस पाठ के मिलने से यह मतभेद हो गया है। श्वे० परम्परा में दो स्वप्न कम और दि० परम्परा में दो स्वप्न अधिक माने जाने का कोई स्पष्ट कारण ज्ञात नहीं होता। श्वे० आगमें में जो स्वप्न सूचक गाथा उपलब्ध होती है उसमें पन्द्रह स्वप्नों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। वह गाथा इस प्रकार है-

गय- 1 वसह- 2 सीह- 3 अभिसेय-4 दाम-5 ससि-6 दिणयरं-7 झयं-8 कुम्भं-9 पउभसर-10 सागर-11 विमाण-12 भवण-13 रयणुच्चय-14 सिंह च-15 ॥

स्वप्नों की यह मान्यता भेद कहीं न कहीं किसी भूल का परिणाम अवश्य है। जो उत्तर काल में दोनों परम्पराओं में चौदह और सोलह स्वप्न की संख्या के रूप में प्रचलित हो गया है। यहां यह भी विचारणीय है कि चक्रवर्ती से तीर्थकर का पद दोनों ही परम्पराओं में बहुत ही उच्च माना गया है, ऐसी स्थिति में चक्रवर्ती के गर्भागम काल में दिखाई देने वाले चौदह स्वप्नों से तीर्थकर की माता को दिखाने वाले स्वप्नों की संख्या अधिक होनी ही चाहिये। जैसे कि बलदेव की माता को दिखाने वाले चार स्वप्नों की अपेक्षा वासुदेव की माता को सात स्वप्न दिखाई देते हैं।

उक्त स्वप्न को देखने के पश्चात् ही बन्दीजनों के मंगलगान सुनने से त्रिशलादेवी की नींद खुल गई। स्वप्नों का स्मरण कर वह आनन्द से गदगद हो गई और प्रातःकालीन क्रियाओं से निवृत्त होकर मांगलिक वस्त्राभूषण पहन कर अपने पति के पास राज-सभा में पहुंची। सिद्धार्थ महाराज ने उसे आदर के साथ राज सिंहासन पर बैठाया और आने का कारण पूछा। तब त्रिशलादेवी ने विनय एवं लज्जा से अवनत होकर कहा- हे देव, आज रात्रि

के पिछले पहर में मैंने आश्चर्य-जनक सोलह स्वप्न देखे हैं। ऐसा कहकर उसने यथा-क्रम से सब स्वप्नों को कह सुनाया। और कहा कि स्वप्नों के अन्त में ऐरावत गज को मैंने अपने मुख में प्रवेश करते हुए देखा है सो हे महाराज, इन स्वप्नों का फल कहिए। तब सिद्धार्थ राजा ने अवधिज्ञान के द्वारा उन स्वप्नों का फल जानकर इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया-

हे कल्याण-भागिनी, प्रिय रानी तुम्हारा यह होने वाला पुत्र संसार में गजराज के समान समुन्नत महात्मा, धवल धुरन्दर (बैल) के समान धर्म-धुरा का धारक, सिंह के समान पराक्रमी, लक्ष्मी के समान निरन्तर अखण्ड उत्सवों से मंडित, माला-युगल के समान सुमनों- (पुष्पों और सज्जनों) का स्थल, चन्द्र के समान सब के चित्त का आल्हादक सूर्य के समान संसार में मोक्षमार्ग का दर्शक, कलश-युगल के समान जगत में मंगलकारक, मीन-युगल के समान विनोद परिपूर्ण, समुद्र के समान लोक एवं धर्म की मर्यादा का परिपालक, सरोवर के समान संसार-ताप-संतप्त प्राणियों के दुःखों का शमन कारक, सिंहासन के समान गौरवशाली, देव विमान के समान देवसमूह से पूजित, नागलोक के समान सुगीत तीर्थ, रत्नराशि के समान पवित्र गुणों से संयुक्त और अग्नि के समान कर्म रूप ईंधन का दाहक , शिवगामी पुत्र होगा। हे देवी, तुमने स्वप्नों के अंत में जो मुख में प्रवेश करता हुआ ऐरावत गजराज देखा है वह सूचित करता है कि आज तुम्हारे गर्भ में तीर्थकर देव ने अवतार लिया है।

स्वप्न देखने के अन्तिम समय में ही भगवान् महावीर के उस अच्युत स्वर्ग निवासी और तीर्थकर प्रकृति का बन्ध करने वाले नन्दनमुनि के जीव ने देवलोक से चय कर आषाढ शुक्ला षष्ठी के दिन उत्तराक्षाढ नक्षत्र के समय आज से 2572 वर्ष पूर्व त्रिशलादेवी के गर्भ में प्रवेश किया। प्राणनाथ के मुख से ऐसी मंगलमय वाणी को सुनकर त्रिशलादेवी के हर्ष का पार नहीं रहा। वह पति को नमस्कार कर सखियों के साथ अपने राज-भवन में चली आईं।

भ0 महावीर के गर्भावतरण के होते ही कल्पवासी देवों के विमानों में अपने आप ही घंटे बजने लगे। ज्योतिषी देवों के विमानों में सिंहनाद होने लगा, भवनवासी देवों के भवनों में शंख-ध्वनि होने लगी और व्यन्तर देवों के आवासों में नगाड़े बजने लगे। तभी सौधर्म इन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ। उसने अवधिज्ञान से जाना कि आज अन्तिम तीर्थकर का गर्भावतरण हुआ है। तब उसने तुरन्त चारों निकायों के देवों को सपरिवार कुण्डग्राम चलने का आदेश दिया और स्वयं ऐरावत हाथी पर बैठकर सदल-बल कुण्डग्राम आया। यहां आकर इन्द्राणियों ने देवियों के साथ त्रिशला माता का और सौधर्मन्द्र ने देवों के साथ सिद्धार्थ राजा का बड़े ठाट-वाट से अभिषेक किया। उन्हें नवीन स्वर्गीय दिव्य वस्त्राभूषण पहनाये और

गर्भस्थ भगवान् की सब देव-देवियों ने मिलकर पूजा की। तत्पश्चात् भगवान् की और उनके माता-पिता की जय बोलते हुए वे सब अपने-अपने स्थान को वापिस चले गये।

इन्द्र की आज्ञानुसार कुबेर गर्भावतरण के छह मास पूर्व से ही प्रतिदिन प्रातः मध्याह्न और सायंकाल स्वर्ण रत्नादिक की वर्षा कर रहा था। वह बराबर भगवान् के जन्म होने तक करता रहा। छप्पनकुमारिका देवियां भी पूर्व के समान ही त्रिशलादेवी की सेवा में संलग्न रहीं। हां इतनी बात अब विशेष होने लगी कि जब उन देवियों ने जाना कि भगवान् गर्भ में आ गये हैं तो वे त्रिशला माता से नाना प्रकार के बुद्धिवर्धक प्रश्न और पहेलियां पूछने लगीं। जिससे माता की बुद्धि का उत्तरोत्तर विकास होने लगा। यतः मति, श्रुत और अवधि ज्ञान के धारक भगवान् गर्भ में विराजमान थे अतः उनके प्रभाव से माता कठिन से भी कठिन प्रश्न का उत्तर सहज भाव से दे देती थीं।

भगवान् के गर्भ में रहते समय त्रिशला-माता को किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नहीं हुआ। उनके उदर की त्रिबली का भी भंग नहीं हुआ और न उनके स्तनों के चूचक ही काले पड़े। इस प्रकार देवियों के साथ मनोविनोद करते हुए माता ने बड़े आनन्द के साथ गर्भ-काल व्यतीत किया और नगर निवासी लोग भी रत्न वर्षा से खूब धन समृद्ध होकर सुख-शांति से समय बिताने लगे।

यहां यह ज्ञातव्य है कि श्वे० परम्परा के अनुसार भ० महावीर ब्राह्मण कुण्डग्राम के कोडाल-गोत्रिय ऋषभदत्त ब्राह्मण की जालंधर गोत्रिया पत्नी देवानन्दा की कुक्षि में अवतरित हुए। वे जिस रात्रि को गर्भ में आये उसी रात्रि के अन्तिम प्रहर में देवानन्दा ने पूर्वोक्त चौदह स्वप्न देखे। उसने वे स्वप्न अपने पति से कहे। उसके पति ने स्वप्नों का फल इस प्रकार कहा-

हे देवानुप्रिये, तुमने जो उदार, कल्याणरूप, शिवरूप, मंगलमय और शोभायुक्त स्वप्नों को देखा है सो ये स्वप्न आरोग्यदायक, कल्याणकारक और मंगलकारी हैं। तुम्हें लक्ष्मी का, भोग का, और सुख का लाभ होगा। नौ मास और साढ़े सात दिवस-रात्रि बीतने पर तुम पुत्र को जन्म दोगी।

तत्पश्चात् देवानन्दा के गर्भ बढ़ने लगा और 82 दिन तक भ० महावीर उसी के गर्भ में रहे। तब अचानक इन्द्र के मन में विचार आया कि तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि शलाका-पुरुष शूद्र, अधम, तुच्छ, निर्धन, कृपण, भिक्षुक या ब्राह्मण कुल में जन्म नहीं लेते।

वरन राजन्यकुल में जातृ वंश में , क्षत्रिय वंश में, इक्ष्वाकु वंश में और हरिवंश में ही जन्म लेते हैं। अतः उसने हिरण्यगर्भेसी देव को गर्भ परिवर्तन की आज्ञा दी और कहा कि तुम इसी समय भरत क्षेत्र के ब्राह्मण कुण्डग्राम में जाओ और वहां देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में से भावी तीर्थंकर महावीर को निकालकर क्षत्रियकुण्ड के राजवंशी सिद्धार्थ राजा की क्षत्रियाणी त्रिशलादेवी के गर्भ में जाकर रख दो। तथा त्रिशलादेवी के गर्भ में जो लड़की है उसे वहां से निकालकर देवानन्दा के गर्भ में ले जाकर रख दो। इन्द्र की आज्ञानुसार हिरण्यगर्भेसी देव ने देवानन्दा के गर्भ से निकालकर भ0 महावीर को त्रिशलादेवी के गर्भ में रख दिया और उसके गर्भ से कन्या को निकाल कर देवानन्दा के गर्भ में रख दिया। जिस रात्रि को यह गर्भापहरण किया गया और भ0 महावीर त्रिशला के गर्भ में पहुंचे उसी आसोज कृष्णा त्रयोदशी की रात्रि के अन्तिम पहर में त्रिशला ने चौदह स्वप्न देखे। प्रातः काल उसने जाकर अपने पति सिद्धार्थ राजा से सब स्वप्न कहे। उन्होंने स्वप्नशास्त्र के कुशल विद्वानों को बुलाकर उन स्वप्नों का फल पूछा और स्वप्नशास्त्रवेत्ताओं ने आकर कहा कि इन महास्वप्नों के फल से तुम्हारे तीन लोक का स्वामी और धर्म-तीर्थ का प्रवर्तक पुत्र होगा।

श्वेताम्बरीय समवायांग, भगवती और कल्पसूत्र में गर्भापहरण की इस घटना का उल्लेख है। इस गर्भापहरण पर अनेक प्रश्न उठते हैं जिनका कि कोई समुचित समाधान प्राप्त नहीं होता है। प्रथम तो यह बात बड़ी अटपटी लगती है कि पहले देवानन्दा ब्राह्मणी उन्हीं स्वप्नों को देखती है और उनका फल उसे बताया जाता है कि तेरे एक भाग्यशाली पुत्र होगा। पीछे 82 दिन के बाद त्रिशला उन्हीं स्वप्नों को देखती है। स्वप्नशास्त्रवेत्ता जिन स्वप्नों का फल अवश्यंभावी और उत्तम बतलाते हैं वह देवानन्दा को कहां प्राप्त हुआ? दूसरे 82 दिन तक इन्द्र कहां सोता रहा? जो बात उसे इतने दिनों के बाद याद आई वह गर्भावतरण के समय ही क्यों याद नहीं आई ?

तीसरी यह बात भी अटपटी है कि गर्भकल्याणक कहीं अन्यत्र हो और जन्म कल्याणक कहीं अन्यत्र हो। गर्भकल्याणक के समय इन्द्रादिक देव ऋषभदत्त ब्राह्मण और देवानन्दा ब्राह्मणी की पूजा करें और जन्म कल्याणक के समय वे ही सिद्धार्थ राजा और त्रिशला रानी की पूजा करें।

चौथे यह बात भी विचारणीय है कि गर्भ-शोदनादि किसी और का किया जाय और भगवान् का जन्म किसी और के गर्भ से होवे ।

पांचमें कुबेर द्वारा रत्नस्वर्ण की वृष्टि प्रारम्भ में आठ मास बईस दिन तक किसी और के घर पर हो, पीछे छह मास और आठ दिन तक किसी और के यहां हो। तथा छप्पनकुमारिका देवियां भी इसी प्रकार प्रारम्भ में किसी और की सेवा करें और पीछे किसी और की? इन सब असंगतियों को ध्यान में रखकर ही श्वेताम्बर शास्त्रकारों ने ऐसा प्रतीत होता है कि गर्भकल्याणक के समय इन्द्रादिक के द्वारा की जाने वाली पूजादि का कुबेर के द्वारा की जाने वाली रत्न वर्षा का और कुमारिका देवियों के द्वारा की जाने वाली गर्भशोधनादि क्रियाओं का वर्णन छोड़ दिया है। श्वे० शास्त्रों में दि० परम्परा के अनुसार पूर्व वर्णित गर्भकल्याणक सम्बन्धी क्रियाओं का कोई भी उल्लेख नहीं मिलता है। रत्न वर्षा और कुमारिका देवियों का आगमन भी तीर्थकरों के जन्म समय ही बतलाया गया है।

ऊपर कही गयी कुछ असंगत बातों से भी अधिक अनुचित बात तो यह है कि भले ही ब्राह्मण के याचक कुल से गर्भापहरण करके क्षत्रियाणी के गर्भ में भ० महावीर को रख दिया गया हो, पर वस्तुतः उनके शरीर का निर्माण तो ब्राह्मण- ब्राह्मणी के रज और वीर्य से ही प्रारम्भ हुआ कह लायगा । यह बात तो तीर्थकर जैसे महा पुरुष के लिए अत्यन्त ही अपमानजनक है।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि जब भ० महावीर त्रिशला के गर्भ में थे तब उनके मन में यह विचार आया कि मेरे हिलने-डुलने से माता कुछ कष्ट का अनुभव करती है। अतः उन्होंने हिलना-डुलना बन्द कर दिया। गर्भस्थ जीव की हलन-चलनादि क्रियाओं को बन्द देखकर माता बहुत घबराई। उसके मन में शंका होने लगी कि कहीं किसी ने मेरे गर्भ का अपहरण तो नहीं कर लिया है, अथवा वह गल तो नहीं गया है। इस चिन्ता से वह उदास और व्याकुल रहने लगी। उसकी उदासी से राज-भवन का सारा आमोद-प्रमोद एवं मंगलमय वातावरण शोक और चिन्ता में परिणत हो गया। जब गर्भस्थ महावीर ने अवधि ज्ञान के द्वारा मां की यह चिन्तित अवस्था और राजभवन की विषादमयी स्थिति देखी तो उन्होंने पुनः अपने अंगोपांगों को हिलाना डुलाना प्रारम्भ कर दिया। जिससे माता का मन पुनः प्रसन्नता से नाच उठा और राज-भवन में हर्ष का वातावरण छा गया। मां के इस प्रबल स्नेह भाव को देखकर महावीर ने गर्भ-काल में ही यह अभिग्रह धारण किया कि जब तक माता-पिता जीवित रहेंगे तब तक मैं जिन-दीक्षा नहीं ग्रहण करूंगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय ब्राह्मणों का प्रभाव बहुत अधिक था और जैनों के साथ उनका भयंकर संघर्ष चल रहा था। अतएव ब्राह्मणों को नीचा दिखाने के लिए यह

गर्भापहरण की कथा कल्पित की गई है। यद्यपि आज का शल्य-चिकित्सा-विज्ञान गर्भ-परिवर्तन के कार्य प्रत्यक्ष करता हुआ दिखाई दे रहा है। तथापि तीर्थंकर जैसे महापुरुष का किसी अन्य स्त्री के गर्भ में आना और फिर किसी अन्य स्त्री के उदर से जन्म लेना एक अपमान जनक एवं अशोभनीय कार्य है।

भगवान् महावीर का जन्मोत्सव

उत्तम दोहिलों के साथ मंगलमय वातावरण में गर्भकाल पूर्ण होने पर नौ मास और साढ़े सात दिन बीतने पर चैत शुक्ला त्रयोदशी की मध्य रात्रि के समय उत्तराफाल्गुणी नक्षत्र में त्रिशला माता ने सुख पूर्वक पुत्र रत्न को जन्म दिया। भगवान् के जन्म काल में सभी ग्रह उच्च स्थान में आये हुए थे। समस्त दिशाएँ परम सौम्य, प्रकाश-पूर्ण और अत्यन्त मनोहर प्रतीत हो रही थीं। धन-धान्य की समृद्धि एवं सुख सामग्री की अभिवृद्धि के कारण जन-जीवन अति आनन्दमय था।

भगवान् के जन्म होते ही गर्भावतरण के समान ही कल्पवासी देवों के यहां अपने आप घंटे बजने लगे, ज्योतिषी देवों के यहां सिंहनाद होने लगा, भवन-वासी देवों के यहां शंख बजने लगे और व्यंतर देवों के यहां नगाड़े बजने लगे। सौधर्म इन्द्र का आसन कम्पित हुआ। तब उसने अवधि-ज्ञान से भगवान् का जन्म जानकर और अपने आसन से उठकर कुण्डग्राम की ओर सात पग चलकर भ0 महावीर को परोक्ष नमस्कार किया और तभी सर्व देवों को अपने-अपने परिवार के साथ सज-धज कर भगवान् का जन्म महोत्सव मनाने के लिए कुण्डग्राम चलने का आदेश दिया। इन्द्र ने अपने नियोगी अभियोग देव को विशाल ऐरावत हाथी के रूप में तैयार होने की आज्ञा दी। वह भी अपनी विक्रिया के द्वारा एक लाख योजन विशालकाय वाला ऐरावत हाथी का रूप बना कर इन्द्र के सम्मुख आया। शास्त्रों में उस ऐरावत हाथी का वर्णन इस प्रकार किया गया है-

उस विशालकाय ऐरावत हाथी को सौ मुख थे। प्रत्येक मुख में आठ-आठ दन्त थे, प्रत्येक दन्त पर एक-एक जल-पूर्ण सरोवर था, प्रत्येक सरोवर में एक सौ पच्चीस , एक सौ पच्चीस कमलनी शोभित हो रही थीं। प्रत्येक कमलनी पर पच्चीस-पच्चीस कमल खिल रहे थे। प्रत्येक कमल में एक सौ आठ-एक सौ आठ पत्र थे। और प्रत्येक पत्र पर एक-एक देवांगना नृत्य कर रही थीं। इस प्रकार सर्व कमल पत्रों पर $(100 \times 8 \times 125 \times 25 \times 108 = 270000000)$ सत्ताईस करोड़ अप्सराएं नव रसों से परिपूर्ण हाव-भाव और विलास के साथ नृत्य कर रही थीं।

ऐसे अद्भुत विक्रिया वाले ऐरावत हाथी पर सौधर्मन्द्र अपने परिवार के साथ बैठकर असंख्य देवी-देवताओं के साथ स्वर्ग से चला। आते हुए मार्ग में नन्दीश्वर द्वीप आया। वहां पर उसने सर्व देवों के साथ अकृत्रिम चैत्यालयों की पूजा की। जब पूजा करके वह जम्बू द्वीप की ओर चलने को उद्यत हुआ तभी उसे याद आया कि सारा जम्बू द्वीप ही एक

लाख योजन विस्तृत है और फिर उसमें भरत क्षेत्र पांच सौ छब्बीस और 6/19 योजन प्रमाण ही चौड़ा है और फिर उसमें कुण्डग्राम तो बहुत ही छोटा है। तब मेरा यह इतना विशाल ऐरावत हाथी कहां समायगा। अतः उसने ऐरावत गज को अपना शरीर संकुचित करने के लिये संकेत किया। नन्दीश्वर द्वीप से जैसे ही ऐरावत चला वैसे ही वह अपने शरीर को इतना संकुचित कर लिया कि वह सिद्धार्थ राजा के राज-भवन के आंगन में आकर खड़ा हो गया।

उस समय इन्द्राणी ने गुप्त रूप से प्रसूति-ग्रह में प्रवेश किया। त्रिशला माता को अस्वापिनी विद्या से सुला दिया और भगवान् को नमस्कार कर उन्हें अपने हाथों में उठा लिया। माता को पुत्र वियोग का कष्ट न हो इसलिये एक मायामय बालक को माता के समीप सुला दिया। इस प्रकार इन्द्राणी ने भगवान् को प्रसूति ग्रह से लाकर शकेन्द्र को सौंप दिया। वह भगवान् के अतिशय सुन्दर शरीर को देखकर जब सन्तुष्ट नहीं हुआ तब उसने अपने पांच सौ चार मुख बनाकर हजार आठ नेत्रों से भगवान् को देखा। फिर भी उसके रूप-दर्शन की अभिलाषा शान्त नहीं हुई।

सौधर्मेन्द्र भगवान् को अपनी गोद में लेकर ऐरावत हाथी पर बैठा। ईशानेन्द्र ने भगवान् के सिर पर छत्र लगाया। सानतकुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के इन्द्रों ने आजू-बाजू में खड़े होकर चंवर ढोलना प्रारम्भ किया। ऐरावत हाथी सुमेरु पर्वत की ओर चला, उसके पीछे चारों जाति के देवगण अपने-अपने वाहनों पर सवार होकर चले। कितने ही देव घोड़ों पर, कितने ही बैलों पर, कितने ही हंसों पर, कितने ही मयूरों पर और कितने ही सारस आदि नाना प्रकार के वाहनों पर बैठकर ऐरावत हाथी के पीछे-पीछे जयजयकार शब्द बोलते हुए चले। अनेक देवियां मंगल-गान करती हुई चलीं और अनेक देवियां नाना प्रकार के मनोहर नृत्य करती हुई सुमेरु पर्वत की ओर बढ़ रही थीं।

इस प्रकार चतुर्विध देव परिवार के साथ इन्द्र ने सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देते हुए निन्यानवे हजार योजन ऊपर अवस्थित पाण्डुक-वन में प्रवेश किया। पाण्डुक-वन की चारों दिशाओं में चार शिलाएं हैं। उनमें से भरत क्षेत्र के तीर्थकरों का अभिषेक दक्षिण दिशा की पाण्डुक-शिला पर किया जाता है। ऐरावत क्षेत्र के तीर्थकरों का अभिषेक उत्तर दिशा की पाण्डुक-शिला पर किया जाता है। पूर्व विदेह के तीर्थकरों का पूर्व दिशा की पाण्डुक-शिला पर और पश्चिम विदेह के तीर्थकरों का पश्चिम की पाण्डुक-शिला पर अभिषेक किया जाता है। तदनुसार सौधर्मेन्द्र सब देवों के साथ दक्षिण दिशा की पाण्डुक-शिला पर पहुंचा। उस शिला पर मध्य में स्थित उन्नत सिंहासन पर भगवान् को बैठाया और दोनों ओर के पाद-पीठों पर

क्रमशः सौधर्मेन्द्र और ईशानेन्द्र खड़े हो गये। इस समय सौधर्मेन्द्र ने सुव्यवस्था के लिये आठों दिग्पाल देवों को आठों दिशाओं में खड़े होने का आदेश देकर कहा- हे दिग्पालो, तुम लोग सावधान होकर अपनी-अपनी दिशा का संरक्षण करो और इस मध्यवर्ती क्षेत्र में किसी को भी प्रवेश मत करने दो। पुनः उसने देवों को क्षीर-सागर से जल भर कर लाने का आदेश दिया। आदेश पाते ही देवताओं ने सुमेरु की शिकर से लेकर क्षीर-सागर तक सीढ़ियां बनाई और जल से भरे हुए कलशों को हाथों हाथ ऊपर पहुंचाया। सौधर्मेन्द्र और ईशानेन्द्र ने एक साथ भगवान् के मस्तक पर जलधारा छोड़ते हुए उनका अभिषेक किया।

इस स्थल पर दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रन्थों में एक उल्लेख मिलता है कि अभिषेक करने के पूर्व सौधर्मेन्द्र के मन में यह शंका उत्पन्न हुई कि नवजात भगवान् का यहपुष्प सा कोमल लघु शरीर अभिषेक कलशों के जल-प्रपात को किस प्रकार सहन कर सकेगा? भगवान् ने इन्द्र के मन की यह शंका जान ली और उसका निवारण करने के लिए अपने वाम-पाद के अंगुष्ठ से सुमेरु को दबा दिया। इसके परिणाम स्वरूप सुमेरु पर्वत के उत्तुंग शिखर और वृक्षादि झंझावात से झकोरे गये के समान एक दम प्रकम्पित हो उठे। यह देखकर पहले तो इन्द्र घबराया। किन्तु तत्काल ही अवधि ज्ञान से उसने जान लिया कि भगवान् ने मेरी शंका के समाधानार्थ ही अपने वाम-पाद के अंगुष्ठ से सुमेरु को दबाया है। तब उसने तुरन्त हाथ जोड़ कर अति विनय-युक्त हो भगवान् से क्षमायाचना की। भगवान् ने अपना अंगूठा यथा-पूर्व कर लिया। और सर्व उपद्रव शांत हो गया।

अभिषेक के समय अनेक देव उच्च स्वर से भगवान् का गुणगान करते रहे और देवियां मंगल गीत गाती रहीं। अनेक देव-देवियां आनन्द से झूमते हुए नाना प्रकार के बाजे बजाते रहे और जयजयकार शब्द करते रहे। अभिषेक के पश्चात् इन्द्र ने भगवान् की स्तुति कर और प्रदक्षिणा देकर पूजा की। पुनः इन्द्र ने वज्रमयी सूची से छेद करके भगवान् के दोनों कानों में कुण्डल पहनाये और इन्द्राणी ने भगवान् के शरीर को सुकोमल वस्त्र से पोंछकर उन्हें वस्त्राभूषण पहनाये। भगवान् के मस्तक पर केशर का तिलक लगाया। कल्प वृक्षों के पुष्पों की मालाओं से गूँथा हुआ रत्नमय मुकुट मस्तक पर पहनाया और आंखों में अंजन आदि लगाया।

भगवान् को नमस्कार करते समय उनके दाहिने चरण के अंगूठे में इन्द्र को सिंह का चिन्ह दिखाई दिया। अतः उसने खड़े होकर सिंह से अंकित ध्वजा फहराते हुए भगवान् का यह नाम घोषित किया।

इस प्रकार भगवान् का अभिषेक सम्पन्न करके इन्द्र ने सबको वापिस कुण्डग्राम चलने का संकेत किया और सर्व देवी-देवता आनन्द उत्सव मनाते हुए कुण्डग्राम लौटे। इन्द्र ने महाराज सिद्धार्थ के भवन में प्रवेश किया और राजभवन में सिंहासन पर विराजमान सिद्धार्थ को नमस्कार कर भगवान् के जन्म कल्याणक के शुभ समाचार सुनाये। इन्द्राणी ने प्रसूति ग्रह में जाकर और माता की निद्रा को दूर कर भगवान् को सोंप दिया। पुनः इन्द्र-इन्द्राणी दिव्य वस्त्राभूषण से भगवान् के माता-पिता की पूजा की और आनन्द नाटक कर तथा भगवान् की सेवा में अनेक देव-बालकों को छोड़कर अपने स्थान चले गये।

महाराज सिद्धार्थ ने भी पुत्र-जन्म का महान् उत्सव मनाया। राज्य के बन्दियों को कारागार से छोड़ दिया, याचकों एवं सेवकों को मुक्त हस्त से खूब दान दिया और इस प्रकार दस दिन तक सारे नगर में बहुत आनन्द का वातावरण छाया रहा।

दसवें दिन महाराज सिद्धार्थ ने अपने मित्रों बन्धुओं एवं राजन्य लोगों को आमन्त्रित कर स्वादिष्ट खान-पान से उनका खूब सत्कार किया। और कहा- जब से यह शिशु हमारे कुल में आया है तब से हमारे भण्डार में धन-धान्य, बल वाहन, और हिरण्य सुवर्ण की अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। अतः मेरी सम्मति में इनका “श्री वर्द्धमान” नाम रखना उपयुक्त होगा। उपस्थित लोगों ने इसका अनुमोदन किया और त्रिशलानन्दन का नाम श्री वर्द्धमान रखा गया।

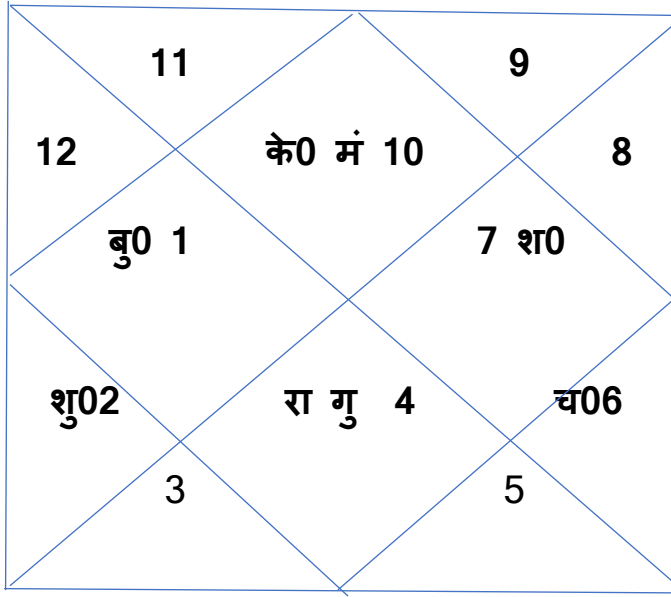
भगवान् महावीर की जन्म-कुण्डली

श्वे० कल्पसूत्र की टीका के अनुसार भगवान् के जन्म-काल में भू ग्रहों की स्थिति इस प्रकार थी-

मे० सूर्यः १० । वृ० सोमः ३ । मृ० मंगलः २८ । क० बुधः १५ ।

क० गुरुः ५ । मी० शुक्रः २७ । तु० शनिः २० ।

तदनुसार भ० महावीर की जन्म कुण्डली इस प्रकार है -



भगवान् महावीर का बाल्य-काल

भ० महावीर का लालन-पालन राज-पुत्रोचित सुसन्मान के साथ हुआ । उनकी सेवा-सुश्रुषा के लिए इन्द्र ने तो देवकुमारों को नियुक्त किया ही था, किन्तु महाराज सिद्धार्थ ने भी परम दक्ष धाइयों और सेवकों को भी नियुक्त किया जो अपना-अपना कार्य यथा समय विधिवत् करते रहते थे।

बालक महावीर क्रमशः बढने लगे और धीरे-धीरे चलने-फिरने के योग्य हो गये। तब वे देवकुमारों के साथ नाना प्रकार की कुतुहल पूर्ण मनोहर क्रीड़ाएं करते और दर्शकों का खूब मनोरंजन किया करते थे। जब वे कुछ और बढे हुए तब राज उद्यान में जाकर नाना प्रकार की क्रीड़ाएं करने लगे। एक बार जब वे अपने साथियों के साथ उद्यान में आमल की क्रीड़ा कर रहे थे उस समय एक संगभक देव ने आकर उनके धीर-वीर पने की परीक्षा के लिए उस वृक्ष के तने को भयंकर सर्प का रूप धारण कर लपेट लिया जिस पर कि महावीर और उनके साथी बालक चढे हुए थे। सांप को देखते ही सभी साथी बालक भय के मारे डालियों से इधर उधर कूद कर भाग खड़े हुए। किन्तु बालक महावीर निर्भय होकर उसके मस्तक पर पैर रखते हुए वृक्ष से नीचे उतरे और उसे हाथ से पकड़कर दूर फेंक आये। यह देखकर महावीर की जय बोलते हुए सब बालक पुनः एकत्रित हो गये।

तत्पश्चात् बालकों ने घुड़सवारी का खेल खेलना प्रारम्भ किया। इस खेल में हारने वाला बालक घोड़ा बनता और जीतने वाला सवार बनकर उसकी पीठ पर बैठता और उसे इधर उधर दौड़ाता था। अब वह देव सर्प का रूप छोड़कर और एक बालक का रूप धारण कर उनके खेल में आ मिला। देव के खेल में हार जाने पर उसे घोड़ा बनने का अवसर आया। यतः महावीर विजयी हुए थे। अतः वे ही उस पर सवार हुए। उनके सवार होते ही वह देव उन्हें ले भागा और दौड़ते हुए ही उसने विक्रिया से अपने शरीर को उत्तरोत्तर बढाना शुरू कर दिया। महावीर उस देव की चालाकी को समझ गये। अतः उन्होंने उसकी पीठ पर जोर से मुक्का मारा। जिससे उस छद्मवेषी देव का गर्व खर्व हो गया। उसने अपना रूप संकुचित किया। वीर कुमार नीचे उतरे और उस छद्मवेषी ने अपना यथार्थ रूप प्रकट कर उनसे क्षमा मांगी और उनका नाम महावीर रखकर उनकी स्तुति की। और अपने स्थान को चला गया। तब से भगवान् का महावीर यह नाम सर्वत्र प्रचलित हो गया।

भगवान् महावीर के शरीर में जन्म से ही दस अतिशय थे-

- 1- उनका शरीर तपाये हुए सोने के समान अत्यन्त सुन्दर था।
- 2- उनके शरीर से कमल के समान सुगन्ध निकलती थी।
- 3- अति परिश्रम करने पर भी शरीर में पसीना नहीं आता था।
- 4- आहार करने पर भी निहार नहीं होता था क्यों कि उनकी पाचन शक्ति इतनी बड़ी हुई थी कि मुक्त आहार रस-रक्त आदि धातुओं में परिणत हो जाता था।
- 5- वे सबसे हितमित और प्रिय वचन बोलते थे।
- 6- उनके शरीर में अतुल बल था।
- 7- उनके शरीर में रक्त का रंग धवल था।
- 8 -उनके शरीर में एक हजार आठ उत्तम लक्षण (चिन्ह) थे।
- 9 उनका शरीर सम चतुरस्त्र संस्थान वाला था और
- 10 उनका अस्थि-बन्धन वज्र वृषभ नाराच संहनन वाला था।

ऊपर दस अतिशयों में भगवान् का एक अतिशय अतुल बल बतलाया गया है। उनके बल की उपमा देते हुए शास्त्रों में कहा गया है कि एक बैल में बारह योद्धाओं का बल होता है। एक बैल से दस गुना बल एक घोड़े में होता है। घोड़े से बारह गुना बल एक भैंसे में होता है। भैंसे से पन्द्रह गुना बल एक हाथी में होता है। पांच सौ हाथियों के बराबर बल एक सिंह में होता है। दो हजार सिंहों का बल एक अष्टापद में होता है। दस लाख अष्टापदों का बल एक बलदेव में होता है। बलदेव से दुगुना बल एक वासुदेव में होता है। वासुदेव से दुगुना बल एक चक्रवर्ती में होता है। चक्रवर्ती से लाख गुना बल एक नागेन्द्र में होता है। नागेन्द्र से करोड़ गुना बल एक इन्द्र में होता है। और इन्द्र से भी अनन्त गुना अधिक बल तीर्थकर की एक एक कनिष्ठा अंगुली में होता है। इस उल्लेख से पाठक सहज में ही समझ सकेंगे कि तीर्थकर कितने अपार बल के स्वामी होते हैं।

महावीर का विद्यालय-प्रवेश

दिगम्बर शास्त्रों की मान्यता के अनुसार यतः तीर्थंकर जन्म से ही तीन ज्ञान के धारक होते हैं। अतः वे किसी गुरु के समीप विद्या या कलाओं का अध्ययन नहीं करते हैं। वे जन्म से ही सब विधाओं और कलाओं के पारगामी होते हैं। किन्तु श्वेताम्बर शास्त्रों में उनके विद्यालय प्रवेश के उल्लेख मिलते हैं। वहां बताया गया है कि जब महावीर आठ वर्ष के हो गये तब उनके पिता ने विद्याध्ययन के लिए उन्हें एक विद्यालय में भेजा। अध्यापक जो कुछ उन्हें याद करने के लिये देते, उससे अधिक पाठ महावीर उन्हें तुरन्त सुना देते। आश्चर्य चकित होकर अध्यापक ने प्रतिदिन नवीन-नवीन विषय पढ़ाये, जिन्हें उन्होंने तत्काल ही सर्व पठित विषयों को ज्यों का त्यों ही नहीं सुनाया, अपितु अध्यापक को भी अज्ञात ऐसी विशेषताओं के साथ सुना दिया। वस्तुतः भगवान् तो जन्म से ही सर्व विधाओं और कलाओं के ज्ञाता थे पर भगवान् के पिता को यह पता नहीं था। कुछ दिनों के पश्चात् अध्यापक महावीर को लेकर सिद्धार्थ राजा के पास पहुंचा और उनसे निवेदन किया- महाराज, ये राजकुमार तो इतने प्रखर बुद्धि और अनुपम ज्ञानी है कि इनके सामने मैं स्वयं भी नगण्य हूं। सिद्धार्थ महाराज यह सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और अध्यापक को यथोचित पारितोषिक देकर विदा किया।

श्वे० ग्रन्थों में यह भी उल्लेख मिलता है कि जब महावीर को विद्यालय में भेजा गया तब इन्द्र को बड़ा आश्चर्य हुआ कि तीन ज्ञानधारी महावीर को यह अल्प ज्ञानी अध्यापक क्या पढ़ायेगा? तब वह स्वयं वृद्ध ब्राह्मण का रूप बनाकर विद्यालय में आया और महावीर से उसने अनेक जटिल प्रश्न पूछे। महावीर के द्वारा दिये गये युक्तिपूर्ण उत्तरों को सुनकर अध्यापक और उपस्थित सभी जन समुदाय अति चकित हुआ। जब राजा सिद्धार्थ को यह समाचार मिला तो वे आनन्द से गदगद होकर बोले हमें पता नहीं था कि हमारा कुमार इस प्रकार “गुरुणाम् गुरुः” है।

विद्यालय से वापिस आने पर उनके ज्ञान की महत्ता के समाचार चारों ओर फैल गये। अब उनके साथी उनसे प्रतिदिन नवीन-नवीन शंकाओं का समाधान पाते और उत्तरोत्तर नवीन ज्ञान का उपार्जन कर महावीर के प्रति अपनी असीम श्रद्धा और भक्ति प्रदर्शित करने लगे।

महावीर के सम्मुख विवाह-प्रस्ताव

जब महावीर ने कुमार अवस्था से यौवन अवस्था में पदार्पण किया तो चारों ओर से उनके विवाह के लिए प्रस्ताव आने लगे। कहा जाता है कि राजा सिद्धार्थ की महारानी प्रियंकारिणी और उनकी बहन यशोदया जो कि कलिंग देश के महाराज जितशत्रु को ब्याही थी- एक साथ ही गर्भवती हुई। दोनों साले-बहनोई महाराजाओं में यह तय हुआ कि एक के गर्भ से कन्या और दूसरे के गर्भ से पुत्र उत्पन्न हो तो उनका परस्पर में विवाह कर देंगे। यथा समय सिद्धार्थ के यहां महावीर ने जन्म लिया और जितशत्रु के यहां कन्या ने जन्म लिया। जिसका नाम यशोदा रखा गया। जब महावीर के विवाह के प्रस्ताव आने लगे तब भगवान् महावीर की वर्षगांठ के शुभ अवसर पर जितशत्रु अपनी कन्या को लेकर राज-परिवार के साथ कुण्डग्राम आये और महाराज सिद्धार्थ को पूर्व प्रतिज्ञा की याद दिलाकर यशोदा के साथ महावीर के विवाह का प्रस्ताव उपस्थित किया।

महाराज सिद्धार्थ और रानी त्रिशला बहुत दिनों से महावीर के विवाह करने की बात सोच ही रहे थे। जब महाराज जितशत्रु ने उक्त प्रस्ताव रखा (1) तब वे दोनों यशोदा के रूप-लावण्य और चातुर्य आदि गुणों को देखकर उसे अपनी पुत्र-वधु बनाने के लिए उत्सुक हो गये। उन्होंने अपने हृदय की बात महावीर के सम्मुख रखी। माता-पिता के इस प्रस्ताव को महावीर ने बड़ी युक्तियों के साथ अस्वीकार कर दिया।

(1)- भवान्न किं श्रेणिक वेत्ति भूपतिं नृपेन्द्रसिद्धार्थकनीयसीपतिम् ।

इमं प्रसिद्धं जितशत्रुभाख्यया प्रतापवन्तं जितशत्रुमण्डलम् ॥

जिनेन्द्रवीरस्य समुद्भवोत्सवे तदागता कुण्डपुरंसुहृत्परः ।

सुपूजितः कुण्डपुरस्य भूभृता नृपोयमाखण्डलतुल्यविक्रमः ॥

यशोदयायां सुतया यशोदया पवित्रया वीरविवाहमंगलम् ।

अनेककन्यापरिवाररूहत्समीक्षितुं तुंगमनोरथं तदा ॥

(हरिवंश पुराण सर्ग 66 श्लोक 6-8)

विवाह का प्रस्ताव सामने रखते हुए सिद्धार्थ राजा ने कहा- कुमार तुम्हें विवाह की स्वीकृति देनी चाहिए। ऋषभ आदि तीर्थंकरों ने भी पहले विवाह करके गृहस्थ धर्म का पालन किया और सांसारिक सुखों का उपभोग किया है। जीवन के अन्तिम अवस्था में उन्होंने संसार

से विरक्त होकर वीर संयमी जीवन अंगीकार कर अपने अभीष्ट पद की प्राप्ति की है। इसलिए तुम्हें भी विवाह की स्वीकृति देना चाहिए। उत्तर में महावीर ने कहा- तात् उन महापुरुषों का आयुष्य भारी था। इसलिए उन्होंने जो उचित समझा किया। किन्तु आज मनुष्यों का आयुष्य अति अल्प है और मेरे सामने जो अनेक महान कर्तव्य कार्य विद्यमान हैं उन्हें देखते हुए मैं जीवन के इन अमूल्य क्षणों को सांसारिक गृहस्थी के जाल में फंसकर व्यर्थ नष्ट नहीं करना चाहता। एक ओर जब असंख्य निरीह पशु धर्म के नाम पर बलिदान किये जा रहे हैं या यज्ञों में होमे जा रहे हों। तब क्या उस समय मेरा स्त्री के साथ भोगों में आसक्त होकर रहना उचित है? आप ही बतलाइये एक ओर स्त्री का मोह और दूसरी ओर यह सारा जगत दुःखी हो तो मैं किसे अपना स्नेह प्रदान करूं। एक ओर धूर्तों के द्वारा संसार के प्राणी नाना प्रकार के माया जाल में फंसाये जा रहे हों तब क्या मैं प्रिया के साथ प्रेमालाप में संलग्न रहूं? मेरी आत्मा ऐसा करने के लिए साक्षी नहीं देती है। संसार में जितने भी पराधीन करने वाले बन्धन हैं उनमें स्त्री बन्धन भी सबसे बड़ा बन्धन है। स्त्री के आश्रय से ये सब इन्द्रियां उन्मत्त हो जाती हैं और फिर वे बुद्धिमानों को भी कुमार्ग पर चलने के लिए विवश कर देती हैं। जो एक बार इन्द्रियों का दास हो जाता है वह फिर जगत का ही दास हो जाता है। मैं अनादिकाल से इन इन्द्रियों का दास होकर चौरासी लाख योनियों में नाना प्रकार के दुःखों को सहता आ रहा हूं। अब तो इन इन्द्रियों का दास नहीं बनना चाहता हूं। अब तो मैं अपना जीवन संसार में फैली हुई हिंसा को दूर करने और अज्ञान, पाखण्ड एवं मूढ़ताओं के दूर करने में ही लगाऊंगा।

अपभ्रंश के महा कवि रयघू ने अपने वर्द्धमान चरित्र में विवाह को अस्वीकार करने का वर्णन इन शब्दों में किया है -

तं णिसुणेप्पिणु अवहि-विलोयणु, पडिउत्तरु भासह मल-मोयणु ।

ताय ताय जं तुम्ह पउत्तं, मण्णमि तं णिरु होए ण जुत्तं ॥

चउ गई पह व विहिय संसारं, मोख- महापह तुं घियदारं ।

दुत्तर दुग्गई पारावारं, कवणु ताय बुहु वंछह दारं ॥

सव्वत्थ वि अयणेण विछण्णं, संधि बंध विसमहिं विच्छिण्णं ।

सव्वत्थ जि किमिउलसंपुण्णं, सव्वत्थ जि णव दारहिं जुण्णं ॥

सव्वकाल पयडिय णिरु मुत्तं, सव्वकाल वस-भंस-लिलितं ।

सव्वकाल लालारस-गिल्लं, सव्वत्थ जि रूहिरोह जलुल्लं ॥

सव्वकाल बहुमल कयकबुसं, सव्वकाल धारिय जि पुरीसं ।

सव्वकाल बहुकुच्छियगंधं, सव्वकाल अत्तावलिबंबं ॥

सव्वकाल मह भुक्खारीणं (सव्वकाल पाणिय-आहिणं) ।

एरिस अंगं सेयंताणं, होईण मोक्खु दुःखु धुव ताणं ॥

घत्ता- पर संभउ पवहिय संभउ, सण-खण बाहासय-सहिउ ।

आरम्भे महरुउ इंदिय-सुहु धुउ, को णरु सेवइ गुण अहिउ ॥

संसारि भमंतइं जाइं जाइं, गिण्हयइं णमेल्लिय ताइं ताइं ।

केत्तियइं गणेसमि आसि वंस, णिच्च जि जगि लद्ध संस ॥

केत्तियइं भणमि कुल-संतइंउ, जणणी-जण्णइ पिय सामिणीउ ।

पूरेमि मणोरह कासु कासु, तं णिसुणिमि णिउ मेल्लिवि उसासु ॥

होएवि विलक्खउ मोणि धक्कु, जाए णउ पडिउत्तरु असक्कु ।

पिता के अनुराग भरे वचनों को सुनकर अवधि विलोचन भगवान् ने कर्म मल मोचन करने वाले इन शब्दों में उत्तर दिया- हे तात, जो तुमने कहा वह युक्त नहीं है। यह दार-परिग्रह चतुर्गति रूप संसार मार्ग का बढ़ाने वाला है और मोक्ष के महान पंथ का रोकने वाला है। यह संसार रूप सागर दुस्तर दुर्गति रूप है, इसका कोई आदि अंत नहीं है। कौन बुद्धिमान इसमें डूबना चाहेगा? यह सर्वत्र अज्ञान से विस्तीर्ण है और विषम-संद्वि-बंधों से व्याप्त है । यह मानव-देह कृमि-कुल से भरा हुआ है, नौ द्वारों से निरन्तर मल-श्राव होता रहता है, सदा ही मल-मूत्र प्रकट होता है, सदा ही वसा और मांस से लिप्त रहता है, सदा ही मुख से लार बहती रहती है और सर्वांग रक्त-पुंज से प्रवाहित रहता है। सदा ही यह नाना प्रकार के मलों से कलुषित रहता है, सदा ही विष्टा को धारण किये रहता है। इससे सदा ही दुर्गन्ध आती रहती है और सदा ही यह आंतों की आवली से बंधा हुआ है। सदा ही यह भूख-प्यास से पीड़ित रहता है। ऐसे अनेक आपदामय शरीर का सेवन करने वालों को कभी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। हां, उनकी दुःखों की प्राप्ति तो निश्चय से होती ही है। माता के रज

और पिता के वीर्य से उत्पन्न होने वाले, मल-मूत्रादि को प्रवाहित करने वाले, क्षण-क्षण में सैकड़ों वाधाओं से व्याप्त और प्रारम्भ में मधुर दिखने वाले और अंत में महा दुःख देने वाले इस इन्द्रिय सुख को कौन गुणी पुरुष सेवन करना चाहेगा ? संसार में परिभ्रमण करते हुए इस जीव ने अनन्त जन्म जाति और वंशों को ग्रहण कर करके छोड़ा है। जगत में कौन सा वंश सदा नित्य रहा है और कौन से कुल की सन्तान, माता-पिता और प्रिय जन नित्य बने रहे हैं? मनुष्य किस-किस के मनोरथों को पूरा कर सका है? इसलिए इस दार-परिग्रह को स्वीकार नहीं करना ही अच्छा है। महावीर का यह उत्तर सुनकर और दीर्घ निःस्वास छोड़कर सिद्धार्थ राय प्रत्युत्तर देने में असमर्थ हो गये।

किन्तु श्वेताम्बरीय मान्यता है कि महावीर का विवाह यशोदा के साथ हुआ और उनसे एक लड़की भी उत्पन्न हुई, जिसका नाम प्रियदर्शना रखा गया। एवं उसका विवाह महावीर की बहन सुदर्शना के पुत्र जमाली से हुआ।

दिगम्बर परम्परा में पांच तीर्थंकर बालब्रह्मचारी और कुमारकाल में दीक्षित हुए माने गये हैं- 1- वासुपूज्य, 2- मल्लिनाथ, 3- अरिष्टनेमि, 4- पार्श्वनाथ और 5- महावीर

श्वेताम्बर परम्परा में भी इन पांचों को कुमार श्रमण और अविवाहित माना गया है, जिसका प्रमाण आवश्यक निर्युक्ति की निम्न लिखित गाथाएं हैं -

वीरं अरिष्टनेमिं पासं मल्लिं च वासुपूज्यं च ।

एते मोक्षं जिणे अवसेसा आसि रायाणो ॥221॥

रायकुलेसु वि जाया विशुद्धवंसेसु खत्तियकुलेसु ।

न य इत्थियाभिसेया कुमार-वासम्मि पव्वइया ॥222॥

आगमोदय समिति से प्रकाशित आवश्यक निर्युक्ति में इत्थियाभिसेया ही पाठ है जिसके कि सम्पादक सागरानन्दसूरि हैं। टीकाकारों ने इसके स्थान पर “इच्छियाभिसेया” पाठ मानकर “इप्सिताभिषेकाः” अर्थ किया है और उसके आधार पर श्वेताम्बर विद्वान् कहते हैं कि इन दोनों गाथाओं में उक्त पांचों तीर्थंकरों के बिना राज्य-सुख भोगे ही कुमार-काल में दीक्षा लेने का उल्लेख है। विवाह से उनका संबंध नहीं है। यदि ऐसा है तो वे विद्वान् उन प्रमाणों को प्रकट करें जिनमें कि चार तीर्थंकरों का बालब्रह्मचारी रहना बतलाया गया है। वास्तव में ये दोनों ही गाथाएं पांचों ही तीर्थंकरों के बाल-ब्रह्मचारी और कुमार- दीक्षित पने

का प्रतिपादन करती हैं। किन्तु पीछे से जब महावीर के विवाह की बात स्वीकार कर ली गई तब उक्त गाथा-पठित “इत्तियाभिसेया” पाठ को “इच्छियाभिसेया” मानकर “ईप्सिताभिषेकाः” अर्थ किया जाने लगा।

श्री कल्याणविजयजी अपने द्वारा लिखित श्रमण भगवान् महावीर नामक पुस्तक में महावीर के विवाह के बारे में संदिग्ध हैं। उन्होंने लिखा है कि कल्पसूत्र के पूर्ववर्ती किसी सूत्र में महावीर के गृहस्थाश्रम का अथवा उनकी भार्या यशोदा का वर्णन हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। (श्रमण भ० महावीर पृ० 12)

दूसरी एक बात खास तौर से विचारणीय है कि जब महावीर घर त्याग कर दीक्षित होने के लिए चले तो श्वे० शास्त्रों में कहीं भी तो यशोदा के साथ महावीर के मिलने और संसार के छोड़ने की बात का उल्लेख होना चाहिए था। नेमिनाथ के प्रव्रजित हो जाने पर राजुल के दीक्षित होने का जैसा उल्लेख मिलता है वैसा उल्लेख यशोदा के दीक्षित होने या न होने आदि का कहीं पर भी दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके विपरीत दि० ग्रन्थों में स्पष्ट उल्लेख है कि महावीर के द्वारा विवाह-प्रस्ताव अस्वीकार कर दिये जाने पर यशोदा और उसके पिता को बहुत आघात पहुंचा और वे दोनों ही दीक्षित होकर तप करने चले गये। जितारि तो कलिंग (वर्तमान उड़ीसा) देशस्थित उदयगिरि पर्वत से मुक्ति को प्राप्त हुए और यशोदा जिस पर्वत पर दीर्घ काल तक तपस्या करके स्वर्ग को गई वह पर्वत ही “कुमारी पर्वत” के नाम से प्रसिद्ध हुआ। खारवेल के शिला लेख में इस कुमारी पर्वत का उल्लेख है ।(1)

(1) तेरसमे च वसेसुपवत विजय चके कुमारी पर्वत अरहयते।

(खारवेल शिला लेख पंक्ति 14)

माता- पिता का स्वर्गवास

दि० परम्परा के ग्रन्थों में कहीं भी यह उल्लेख दृष्टगोचर नहीं होता कि भ० महावीर के माता-पिता का कब स्वर्गवास हुआ? किन्तु श्वे० ग्रन्थों में स्पष्ट उल्लेख है कि जब महावीर की आयु 28 वर्ष की थी तब उनका स्वर्गवास हो गया। वहां यह भी बतलाया गया है कि महावीर के माता-पिता भ० पार्श्वनाथ के श्रमणोपासक थे। बहुत वर्षों तक श्रावक धर्म का परिपालन कर जब उन्होंने अपना अन्तिम समय निकट समझा तो आत्म-शुद्धि के लिए अरिहंत सिद्ध एवं आत्मा की साक्षी से कृत पापों का प्रायश्चित्त किया, और दर्भासन पर बैठकर चतुर्विध आहार का त्याग कर संथारा धारण किया। आयु के अन्त में मरण कर वे

अच्युत कल्प में देवरूप से उत्पन्न हुए। आगे वे स्वर्ग से च्युत हो महाविदेह में उत्पन्न होंगे और वहां से सिद्धि प्राप्त करेंगे।

श्वे0 ग्रन्थों में यह भी उल्लेख मिलता है कि जब महावीर के माता-पिता का स्वर्गवास हो गया तो वे अपने गर्भ-काल-गत अभिग्रह को पूर्ण हुआ देखकर संसार से विरक्त हो गये और दीक्षा लेने के लिए उद्यत हुए। किन्तु उनके बड़े भाई नन्दीवर्द्धन ने आग्रह किया कि इस समय माता-पिता का स्वर्गवास होने से मैं वैसे ही अत्यन्त दुःखी हूँ और यदि आप इस समय दीक्षा लेंगे तो मेरे दुःख का पारावार नहीं रहेगा। इसलिए आप इस समय कम से कम दो वर्ष तो और घर में रहिये। भ्रात-स्नेह से पूरित होकर महावीर ने उनका यह आग्रह स्वीकार कर लिया। इस बीच वे श्रावकोचित व्रत क्रियाओं में संलग्न हो गये। वे प्रायः मौन धारण किये रहते, इधर- उधर घूमते हुए दुःखी जनों के दुःख कारणों पर विचार करते रहते और उनके उद्धार की भावना भाते रहते थे। याचक जनों को मुक्त हस्त से किमिच्छिक (क्या चाहते हो यह पूछकर भरपूर) दान देते और आत्म चिन्तन में संलग्न रहते थे।

श्वे0 ग्रन्थों में यह उल्लेख मिलता है कि अन्य तीर्थकरों के समान महावीर ने भी गृह-त्याग के एक वर्ष पूर्व से वर्षीदान देना प्रारम्भ किया। वे प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान करते रहते। इस प्रकार वर्ष भर में उन्होंने तीन अरब अठ्यासी करोड़ और अस्सी लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान दिया।

भगवान् महावीर का निष्क्रमण कल्याणक

दि० परम्परा के ग्रन्थों में भ० महावीर के गर्भ-कालीन अभिग्रह का ही उल्लेख मिलता है और न 28 वर्ष की आयु में उनके माता-पिता के स्वर्गवास का ही। इसके विपरीत यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि जब महावीर जब तीन वर्ष के हुए तब उन्हें एक दिन एकान्त में आत्म चिन्तन करते हुए पूर्व भव का जाति-स्मरण हो गया। वे अपने पूर्व भव की उत्थान-पतन वाली लोमहर्षक घटनाओं को जानकर संसार से उदासीन हो गये। उनके हृदय में वैराग्य उमड़ आया और वे अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओं का चिन्तन करने लगे। महावीर ने अपने दीक्षा लेने का भाव माता-पिता पर प्रकट किया। जिसे सुनकर उन्हें कष्ट का अनुभव हुआ। तब महावीर ने अत्यन्त प्रिय शब्दों में माता-पिता को सम्बोधित करते हुए कहा - हे तात, हे मात, संसार में ऐसा कौन सा जीव है जिसका सब के साथ अनन्त बार माता, पिता, भाई, पुत्र, मित्र, स्त्री, स्वजन आदि का सम्बन्ध न हुआ हो। संसार में जिनका संयोग होता है उनका वियोग अवश्य ही होता है। यहां कभी कोई अमर नहीं रहा। यह जीव अपने सुख और दुःख को अकेला ही सहन करता है। कोई भी कुटुम्बी किसी भी अपने स्वजन का दुःख दर्द रंतमात्र भी बांट नहीं सकता। मोह वश यह प्राणी यह मेरा पुत्र है मैं इसका पिता हूं इस प्रकार के संकल्प से दुःखी होता रहता है। यह अकेला ही संसार में परिभ्रमण करता है, साथ में न कोई बन्धुजन ही जाता है और न धन सम्पदा ही। सायंकाल के समय जैसे पक्षीगण नाना दिशाओं से आकर एक वृक्ष पर बसेरा लेते हैं और प्रातः काल होते ही सब अपनी-अपनी दिशा में बढ़ जाते हैं। इसी प्रकार से कुटुम्बीजन भी नाना योनियों से आकर यहां एकत्रित हुए हैं और आयु के अन्त में मरकर सब अपने-अपने कर्मानुसार नाना योनियों में जन्म लेते रहते हैं। इसलिए आपको मेरे दीक्षा लेने का कोई दुःख नहीं मानना चाहिए किन्तु यह हर्ष मानना चाहिए कि आपका पुत्र एक उत्तम ध्येय को सम्पन्न करने के लिए प्रव्रजित हो रहा है। इस प्रकार उन्होंने संसार की दशा का वर्णन कर माता-पिता के दुःख को शांत किया और उनसे प्रव्रजित होने की अनुज्ञा प्राप्त की।

भगवान् महावीर के हृदय में वैराग्य के उत्पन्न होते ही लोकान्तिक देवों के आसन कम्पायमान हुए। उन्होंने अवधिज्ञान से महावीर के विरक्त होने की बात जानी और वे तत्काल कुण्डग्राम आये और भगवान् को नमस्कार करके उनके वैराग्य का समर्थन करते हुए बोले - स्वामिन् आपने, यह बहुत उत्तम विचार किया है। यह सारा संसार नाना प्रकार की मिथ्या धारणाओं से विमोहित हो रहा है और नाना यातनाओं से पीड़ित हो रहा है। इस समय

संसार को सन्मार्ग दिखाने की और जीवों को उनके दुःखों से छुड़ाकर सुखी बनाने की अत्यन्त आवश्यकता है। हे भगवन्, आप दीक्षा ग्रहण कर सर्व जीवों के हितार्थ धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन करने का जो विचार कर रहे हैं वह बहुत उत्तम है। इस प्रकार वे लोकान्तिक देव भगवान् के वैराग्य का समर्थन करके अपने स्थान को चले गये।

इसी समय चारों जाति के देवों ने यहां घंटा आदि के बजने से भगवान् के विरक्त होने की बात को जाना और वे सब इन्द्र के आदेशानुसार कुण्डग्राम उपस्थित हुए। उन्होंने यहां आकर भगवान् के दीक्षाभिषेक की तैयारी की। इन्द्र ने उनका क्षीरसागर के जल से अभिषेक किया और दिव्य वस्त्राभूषण पहिनाए। अभिषेक के पश्चात् भ० महावीर प्रव्रज्या लेने के लिए जैसे ही सात कदम आगे चले वैसे ही इन्द्र ने उन्हें स्वर्ण-रत्नमणी पालकी पर बैठा लिया और अपने कन्धों पर उठाकर वन की ओर ले चले। समस्त देव समूह जयजयकार करता हुआ पालकी के पीछे-पीछे चला। पालकी के आगे अनेकाधिपति देव अपनी-अपनी सेनाओं के साथ चले। सब से आगे देवगण अनेक प्रकार के बाजे बजाते हुए चले और उनके पीछे अनेक देवियां अष्ट मंगल द्रव्य लेकर के चलीं।

इस प्रकार विशाल जन समूह से घिरे हुए भ० महावीर कुण्डग्राम के मध्य भाग से होते हुए ज्ञातृखण्ड उद्यान में आये और अशोक वृक्ष के नीचे पालकी से उतरे। वहां पर उन्होंने मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी के दिन उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में सन्ध्या के समय यावज्जीवन सर्व पापों का परित्याग कर, और पंचमुष्टी केश लुंच कर संयम को धारण किया। सर्व देव और मनुष्य समुदाय ने भगवान् के इस अमिनिष्क्रमण कल्याणक की पूजा की और तत्पश्चात् वे सर्व अपने-अपने स्थान को चले गये। भगवान् तीस दिन का उपवास ग्रहण कर ध्यानावस्थित हो गये। उन्हें उसी समय मनःपर्यय-ज्ञान प्राप्त हुआ जिससे वे दूसरे जीवों के मन के अभिप्राय को जानने लगे।

भ० महावीर का छद्मस्थ या तपस्या-काल

तीन दिन के उपवास के पश्चात् भ० महावीर पारणा के लिए विहार करते हुए कूल ग्राम पहुंचे। वहां के राजा ने भक्ति पूर्वक उन्हें आहार कराया। देवों ने हर्ष से रत्न और पुष्पादि की वर्षा की।

भ० महावीर ने तीस वर्ष की अवस्था में मार्गशीर्ष दशवीं के दिन जिन-दीक्षा ली और उग्र तपश्चरण में संलग्न हो गये। दि० ग्रन्थों में उनके इस जीवन काल की घटनाओं का बहुत कम उल्लेख पाया जाता है। किन्तु श्वे० ग्रन्थों में इस 12 वर्ष के छद्मस्थ और तपश्चरण काल का विस्तृत विवरण मिलता है। यहां पर उपयोगी जानकर उसे दिया जाता है।

प्रथम वर्ष

भ० महावीर ने ज्ञातृखण्डवन में दीक्षा लेने के बाद आगे को विहार किया। एक मुहुर्त दिन के शेष रहने पर वे कर्मर गांव जा पहुंचे और कायोत्सर्ग धारण कर ध्यान में संलग्न हो गये। इसी समय कोई ग्वाला जंगल से अपने बैलों को लेकर लौट रहा था। वह उन्हें चरने के लिए भ० महावीर के पास छोड़कर गायें दुहने के लिए घर चला गया। बैल घास चरते हुए जंगल में दूर निकल गये। ग्वाला ने घर से वापिस आकर देखा कि मैं जहां बैल छोड़ गया था, वे वहां नहीं हैं, तब उसने भगवान् से पूछा कि मेरे बैल कहां गये? जब भगवान् की ओर से कोई उत्तर नहीं मिला, तो वह समझा कि इन्हें मालूम नहीं हैं, अतः उन्हें ढूँढ़ने के लिए जंगल की ओर चल दिया। रात भर वह ढूँढ़ता रहा, पर बैल उसे नहीं मिले। प्रातः काल लौटने पर उसने बैलों को भगवान् के पास बैठा हुआ पाया। ग्वाला ने क्रोधित होकर कहा- बैलों की जानकारी होते हुए भी आपने मुझे नहीं बतलाया? और यह कहकर हाथ में ली हुई रस्सी से उन्हें मारने को झपटा। तभी किसी भद्र पुरुष ने आकर ग्वाले को रोका कि अरे, यह क्या कर रहा है? क्या तुझे मालूम नहीं, कि कल ही जिन्होंने दीक्षा ली है ये वे ही सिद्धार्थ राजा के पुत्र महावीर हैं, यह सुनकर ग्वाला नत-मस्तक होकर चला गया।

दूसरे दिन महावीर ने कर्मर गांव से विहार किया और कोल्लाग-सन्निवेश पहुंचे। वहां पारणा करके वे मोराक-सन्निवेश की ओर चल दिये। मार्ग में उन्हें एक तापसाश्रम मिला। उसके कुलपति ने उनसे ठहरने और अग्रिम वर्षा-वास करने की प्रार्थना की। भगवान् उसकी बात को सुनते हुए आगे चल दिये। इस प्रकार अनेक नगर, गांव और वनादिक में लगभग 7 मास परिभ्रमण के पश्चात् वर्षा काल प्रारम्भ हो गया। जब महावीर ने अस्थि ग्राम

में चातुर्मास बिताने के लिए ग्राम के बाहर अवस्थित शूलपाणि यज्ञ के मन्दिर में ठहरने का विचार किया, तब लोगों ने कहा- यहां रहने वाला यज्ञ महा दुष्ट है, जो कोई भी भूला भटका इस मन्दिर में आ ठहर जाता है उसे यह यज्ञ मार डालता है। यह सुनकर भी महावीर ठहर गये और कायोत्सर्ग धारण करके ध्यान में तल्लीन हो गये। महावीर को अपने मन्दिर में ठहरा हुआ देखकर यज्ञ ने रात भर नाना प्रकार के रूप बना-बनाकर असह्य असंख्य यातनाएं दीं, पर महावीर पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। अंत में हताश होकर वह भगवान् के चरणों में पड़ गया, अपने दुष्कृत्य के लिए क्षमा मांगी और उनके गुण-गान करके अन्तर्हित हो गया। कहा जाता है कि उपसर्ग के दूर होने पर महावीर को रात्रि के अन्तिम मुहूर्त में कुछ क्षणों के लिए नींद आई और तभी उन्होंने कुछ स्वप्न भी देखे। इसके पश्चात् तो वे सारे जीवन भर जागृत ही रहे और पूरे छद्मस्थकाल के 12 वर्षों में एक क्षण को भी नहीं सोये।

अपने इस प्रथम चतुर्मास में भगवान् ने 15-15 दिन के आठ अर्धमासी उपवास किये और पारणा के लिए केवल आठ बार उठे।

कहा जाता है कि भगवान् महावीर अपर नाम वर्धमान के द्वारा इस असह्य उपसर्ग को जीतने और शूलपाणि यज्ञ का सदा के लिए शांत हो जाने के कारण ही अस्थि - ग्राम का नाम “वर्धमान नगर” रख दिया गया, जो कि आज ‘वर्दवान’ नाम से पश्चिमी बंगाल का एक प्रसिद्ध नगर है।

द्वितीय वर्ष

प्रथम चतुर्मास समाप्त करके महावीर ने अस्थिग्राम से विहार किया और मोराक सन्निवेश पहुंचे। वहां कुछ दिन ठहर कर वाचाल की ओर विहार किया। आगे बढ़ने पर लोगों ने उनसे कहा- आर्य, यह मार्ग ठीक नहीं है, इसमें एक भयानक भुजंग रहता है, अतः आप इधर से न जाकर अन्य मार्ग से जावें। महावीर ने उन लोगों की बात सुनकर भी उस पर कुछ ध्यान नहीं दिया और वे उसी मार्ग से चलकर एक यज्ञ-मन्दिर में जाकर ध्यानारूढ हो गये। वहां रहने वाला सांप जब इधर उधर घूमकर अपने स्थान को वापिस लौट रहा था, तो उसकी दृष्टि ध्यानारूढ महावीर पर ज्यों ही पड़ी त्यों ही वह क्रोधित होकर फुंकार करते हुए महावीर की ओर बढ़ा और उसने महावीर के पांव में काट खाया। पांव से रक्त के स्थान पर दूध की धारा बह निकली। यह विचित्र बात देखकर पहले तो वह स्तब्ध रह गया। पर जब उसने दो बार और भी काटा। मगर तब भी विष का कोई असर न देखकर सर्प का रोष शान्त

हो गया। तब भ० महावीर ने उसके पूर्व भव का नाम लेते हुए कहा- चाण्डकौशिक शान्त होओ। अपना नाम सुनते ही उसे जातिस्मरण हो गया और सदा के लिए उसने जीवों को काटना छोड़ दिया।

भ० महावीर यहां से विहार करते हुए क्रमशः श्वेताम्बी नगरी पहुंचे। यहां राजा प्रदेशी ने भगवान् की अगवानी की और अत्यन्त भक्ति से उनके चरणों की वन्दना की। वहां से भगवान् ने सुरभिपुर की ओर विहार किया। आगे जाने पर उन्हें गंगा नदी मिली। उसे पार करने के लिए महावीर को नाव पर बैठना पड़ा। नाव जब नदी के मध्य में पहुंची तब एक भयंकर तूफान आया, नाव भंवर में पड़कर चक्कर काटने लगी। यात्री प्राण रक्षा के लिए त्राहि-त्राहि करने लगे। पर महावीर नाव के एक कोने में सुमेरुवत् ध्यानस्थ रहे। अन्त में भगवान् के पुण्य से कुछ देर बाद तूफान शान्त हो गया और नाव किनारे जा लगी। सब यात्रियों ने अपना-अपना मार्ग पकड़ा और महावीर भी नाव से उतर कर गंगा के किनारे चलते हुए थूणाक पहुंचे। मार्ग में अंकित पद-चिन्हों को देखकर एक सामुद्रिक-वेत्ता आश्चर्य में डूब गया और सोचने लगा कि ये पद-चिन्ह तो किसी चक्रवर्ती के होना चाहिए। अतः वह पद-चिन्हों को देखता हुआ वहां पहुंचा, जहां पर भगवान् अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ खड़े थे। उनके सर्वांग में ही चक्रवर्ती के चिन्ह देखकर वह बड़ी चिन्ता में पड़ा कि सभी राज-चिन्हों से विभूषित यह पुरुष साधु बनकर जंगलों में क्यों घूम रहा है? जब उसे किसी भद्र पुरुष से ज्ञात हुआ कि ये तो अपरिमित लक्षण वाले धर्म-चक्रवर्ती भ० महावीर हैं, तब वह उनकी वन्दना कर अपने स्थान को चला गया।

थूणाक-सन्निवेश से विहार करते हुए भ० महावीर नालंदा पहुंचे। वर्षा काल प्रारम्भ हो जाने से उन्होंने वहीं चातुर्मास बिताने का निश्चय किया और एक मास का उपवास अंगीकार कर ध्यान में अवस्थित हो गये। इस चतुर्मास में भंखली-पुत्र गौशाला की भगवान् से भेंट हुई और वह भी चातुर्मास बिताने के विचार से वहीं ठहर गया। एक मास का उपवास पूर्ण होने पर महावीर गोचरी के लिए निकले और वहां से एक विजय सेठ के यहां उनका निरन्तराय आहार हुआ। दान के प्रभाव से पांच आश्चर्यों को देखकर गोशाला ने सोचा- ये कोई चमत्कारी साधु प्रतीत होते हैं, अतः मैं इनका ही शिष्य बनकर इनके साथ रहूंगा। गोचरी से लौटने पर उसने भगवान् से प्रार्थना की कि आप मुझे अपना शिष्य बना लें। किन्तु भगवान् ने कोई उत्तर नहीं दिया और पुनः एक मास के उपवास का नियम करके ध्यानारूढ हो गये। एक मास के बाद पारणा के लिये वे नगर में गये और आनन्द श्रावक के

यहां पारणा हुई। पुनः वापिस आकर एक मास का उपवास लेकर ध्यानारूढ हो गये। तीसरी बार पारणा सुनन्द श्रावक के यहां हुई। पुनः एक मास के उपवास का नियम कर भगवान् ध्यानारूढ हो गये ।

कार्तिकी पूर्णिमा के दिन चौथी पारणा के लिए जाते समय गोशाला ने भगवान् से पूछा कि आज मुझे भिक्षा में क्या मिलेगा? भगवान् ने उत्तर दिया कोदों का वासा भात, खट्टी छाछ और दक्षिणा में एक छोटा रुपया। भगवान् के वचनों को मिथ्या करने के उद्देश्य से वह अनेक धनिकों के घर भिक्षा के लिए गया, किन्तु कहीं पर भी उसे भिक्षा नहीं मिली । अंत में एक लुहार के यहां से वही कोदों का वासा भात, खट्टी छाछ और एक रुपया मिला। इस घटना का गोशाला के मन पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। वह 'नियतिवाद' का पक्का समर्थक हो गया। उसकी यह दृढ़ धारणा हो गई कि जो कुछ जिस समय होने वाला है, वह उस समय होकर ही रहेगा।

चातुर्मास पूर्ण होते ही महावीर ने नालन्दा से विहार किया और कोल्लाग सन्निवेश पहुंचे। नालन्दा से भगवान् ने जब विहार किया, तब गोशाला भिक्षा लेने के लिये गया हुआ था। वापिस आने पर उसे महावीर के जाने का पता चला, तो वह भी ढूंढते-ढूंढते कोल्लाग जा पहुंचा। इसके पश्चात् वह लगातार छह चातुर्मासों तक भगवान् के साथ रहा।

तीसरा वर्ष

कोल्लाग सन्निवेश से भगवान् ने सुवर्णखल की ओर विहार किया। मार्ग में उन्हें कुछ ग्वाले मिले, जो मिट्टी की एक हांडी में खीर पका रहे थे। ग्वालों ने भगवान् से कहा- जरा ठहरिये, इस खीर को खाकर फिर आगे चलेंगे। भगवान् ने कहा - यह खीर पकेगी ही नहीं। बीच में ही हांडी फूट जायगी और सब खीर नीचे लुढ़क जायगी। यह कहकर भगवान् तो आगे चल दिये। किन्तु खीर खाने के लोभ से गोशाला वहीं ठहर गया। हांडी दूध से भरी हुई थी और उसमें चावल भी अधिक डाल दिये गये थे। अतः जब चावल फूले तो हांडी फट गई और सब खीर नीचे लुढ़क गई। ग्वालों की आशा पर पानी फिर गया और गोशाला अपना मुख नीचा किये हुए वहां से चल दिया। अब उसकी यह धारणा और भी दृढ़ हो गई कि 'जो कुछ होने वाला है, वह अन्यथा नहीं हो सकता।'

कोल्लाग सन्निवेश से विहार करते हुए भगवान् ब्राह्मण गांव पहुंचे। यहां पर भगवान् की पारणा तो निरन्तराय हुई। किन्तु गोशाला को गोचरी में वासा भात मिला, जिसे

लेने से उसने इन्कार कर दिया और देने वाली स्त्री से बोला- तुम्हें वासा भात देते लज्जा नहीं आती। यह कहकर और श्राप देकर बिना ही भिक्षा लिए वह वापिस लौट आया।

ब्राह्मण गांव से भगवान् चम्पानगरी गए और तीसरा चातुर्मास यहीं पर व्यतीत किया। इसमें भगवान् ने दो-दो मास के उपवास किये।

चौथा वर्ष

चम्पानगरी से भगवान् ने कालायस सन्निवेश की ओर विहार किया। वहां पहुंचकर उन्होंने एक खण्डहर में ध्यानावस्थित होकर रात्रि बिताई। एकान्त समझकर गांव के मुखिया का व्यभिचारी पुत्र किसी दासी को लेकर वहां व्यभिचार करने के लिए आया और व्यभिचार करके वापिस जाने लगा, तो गोशाला ने स्त्री का हाथ पकड़ लिया। यह देखकर उस मनुष्य ने उस गोशाला की खूब पिटाई कर दी। दूसरे दिन भगवान् ने प्रस्थान किया और पत्रकालय पहुंचे। भगवान् वहां किसी एकान्त स्थान में ध्यानरूढ़ हो गये। दुर्भाग्य से पूर्व दिन जैसी घटना यहां भी घटी और यहां पर भी गोशाला पीटा गया।

पत्रकालय से भगवान् ने कुमारक सन्निवेश की ओर विहार किया। वहां पर चम्पक रमणीय उद्यान में पार्श्वस्थ साधुओं को देखा, जो वस्त्र और पात्रादिक रखे हुए थे। गोशाला ने पूछा- आप किस प्रकार के साधु हैं? उन्होंने उत्तर दिया- हम निर्ग्रन्थ हैं। गोशाला ने कहा- आप कैसे निर्ग्रन्थ हैं, जो इतना परिग्रह रख करके भी अपने आपको निर्ग्रन्थ बतलाते हैं। ज्ञात होता है कि अपनी आजीविका चलाने के लिए आप लोगों ने ढोंग रच रखा है। सच्चे निर्ग्रन्थ तो हमारे धर्माचार्य हैं, जिनके पास एक भी वस्त्र और पात्र नहीं है और वे ही त्याग और तपस्या की साक्षात मूर्ति हैं। इस प्रकार उन सग्नथी साधुओं की भर्त्सना करके गोशाला वापिस भगवान् के पास आ गया और उनसे सर्व वृत्तान्त कहा।

कुमारक सन्निवेश से चलकर भगवान् चोराक सन्निवेश गये। यहां के पहरेदार चोरों के भय से बड़े सतर्क रहते थे और वे किसी अपरिचित व्यक्ति को गांव में नहीं आने देते थे। जब भगवान् गांव में पहुंचे, तो पहरेदारों ने भगवान् से उनका परिचय पूछा। किन्तु भगवान् ने कोई उत्तर नहीं दिया। पहरेदारों ने उन्हें गुप्तचर समझकर पकड़ लिया और बहुत सताया। जब सोमा और जयन्ती नामक परिव्राजिकाओं से भगवान् का परिचय मिला, तब उन्होंने उन्हें छोड़ा और अपने दुष्कृत्य के लिए क्षमा मांगी।

चोरक से भगवान् ने पृष्ठचम्पा की ओर विहार किया और यहीं पर चौथा चातुर्मास व्यतीत किया। इस चातुर्मास में भगवान् ने पूरे चार मास का उपवास रखा और अनेक योगासनों से तपस्या करते रहे। चातुर्मास समाप्त होते ही नगर के बाहिर पारणा करके भगवान् ने कयंगला सन्निवेश की ओर विहार किया। भूल के लिए क्षमा मांगी।

यहां से भगवान् ने लाड देश की ओर विहार किया। वहां उन्हें ठहरने योग्य स्थान भी नहीं मिलता था, अतः जहां कहीं कंकरीली-पथरीली विषम भूमि पर ठहरना पड़ता था। वहां के लोग भगवान् को मारते और उन पर कुत्ते छोड़ देते थे। वहां आहार भी जब कभी कई-कई दिनों के बाद रुखा-सूखा मिलता था। पर भगवान् ने उस देश में परिभ्रमण करते हुए इन सब कष्टों को बड़ी शान्ति से सहन किया। जब भगवान् वहां से लौट रहे थे, तब सीमा पर मिले हुए दो चोरों ने उन्हें बड़ा कष्ट पहुंचाया।

वहां से आकर भगवान् ने भददिया नगरी में पांचवां चातुर्मास किया। यहां पूरे चार मास का उपवास अंगीकार कर विविध आसनों से ध्यान-स्थित रहे और आत्म चिन्तन करते रहे। चातुर्मास समाप्त होते ही नगर के बाहिर पारणा करके भगवान् ने कदली समागम की ओर विहार किया।

छठा वर्ष

कदली-समागम से भगवान् जम्बूखण्ड गये और वहां से तम्बाय सन्निवेश गये और गांव के बाहिर ध्यान-स्थित हो गये। यहां पार्श्व-सन्तानीय नन्दिषेण आचार्य रात्रि में किसी चौराहे पर ध्यान-स्थित थे, तब वहां के कोट्टपाल के पुत्र ने उन्हें चोर समझकर भाले से मार डाला। गोशाला ने इसकी सूचना नगर में दी और वापिस भगवान् के पास आ गया।

तम्बाय-सन्निवेश से भगवान् कूपिय-सन्निवेश गये। यहां के लोगों ने उन्हें गुप्तचर समझकर पकड़ लिया और खूब पीटा। बाद में उन्हें कैद करके कारागृह में डाल दिया। इस बात की सूचना जब पार्श्वनाथ-सन्तानीय विजया और प्रगल्भा साध्वियों को मिली, तो उन्होंने कारागृह के अधिकारियों से आकर कहा- अरे यह क्या किया? क्या तुम लोग सिद्धार्थ के पुत्र भ0 महावीर को नहीं पहचानते हो? इन्हें शीघ्र मुक्त करो। भगवान् का परिचय पाकर उन्होंने अपने दुष्कृत्य का पश्चाताप किया, भगवान् से क्षमा मांगी और उन्हें कैद से मुक्त कर दिया।

कूपिय-सन्निवेश से भगवान् ने वैशाली की ओर विहार किया। इस समय गोशाला ने भगवान् से कहा- भगवन्, न तो आप मेरी रक्षा करते हैं और न आपके साथ रहने में मुझे कोई सुख है। प्रत्युत कष्ट ही भोगना पड़ते हैं और भोजन की भी चिन्ता बनी रहती है। यह कहकर गोशाला राजगृह की ओर चला गया। भगवान् वैशाली पहुंचकर एक कम्मारशाला में ध्यान-स्थित हो गये। दूसरे दिन जब उसका स्वामी आया और उसने भगवान् को वहां खड़ा देखा तो हथौड़ा लेकर उन्हें मारने के लिए झपटा, तब किसी भद्र पुरुष ने आकर उन्हें बचाया।

वैशाली से विहार कर भगवान् ग्रामक-सन्निवेश आये और गांव के बाहिरी यक्ष मन्दिर में ध्यान-स्थित रहे। वहां से चलकर भगवान् शालीशीर्ष आये और यहां पर भी नगर के बाहिर ही किसी उद्यान में ध्यान-स्थित हो गये। माघ का महीना था, कड़ाके की ठंड पड़ रही थी और भगवान् तो नग्न थे ही। ऐसी अति भयंकर शीत वेदना को सहते समय ही वहां की अधिष्ठात्री कोई व्यन्तरी आई और सन्यासिनी का रूप बनाकर अपनी बिखरी हुई जटाओं में जल भर कर भगवान् के ऊपर छिड़कने लगी और उनके कन्धे पर चढ़कर अपनी जटाओंसे हवा करने लगी। इस भयंकर शीत-वेदना को भगवान् ने रात भर परम शान्ति से सहा। प्रातः होते ही वह अपनी हार मानकर वहां से चली गई और उपसर्ग दूर होने पर भगवान् ने वहां से भद्रदिया नगरी की ओर विहार किया। छठा चातुर्मास भगवान् ने भद्रदिया में ही बिताया। इस चौमासे भर भी भगवान् ने उपवास ही किया और अखण्ड रूप से आत्म-चिन्तन में निरत रहे। इधर गोशाला छह मास तक इधर-उधर घूमकर और अनेक कष्ट सहन कर के भगवान् के पास पुनः आ गया।

चातुर्मास समाप्त होने पर पारणा करके भगवान् ने मगध देश की ओर विहार किया।

सातवां वर्ष

भगवान् शीत और ग्रीष्म ऋतु के पूरे आठ मास तक मगध के अनेक ग्रामों में विचरते रहे। गोशाला भी साथ रहा। वर्षा कल समीप आने पर चातुर्मास के लिए भगवान् आलंभिया पुरी आये। यहां पर भी उन्होंने ने चार मास का उपवास अंगीकार किया और आत्म-चिन्तन में निरत रहे। चौमासा पूर्ण होने पर पारणा करके भगवान् ने कुंडाक-सन्निवेश की ओर विहार किया।

आठवां वर्ष

कुंडक-सन्निवेश में भगवान् वासुदेव के मन्दिर में कुछ समय तक रहे। पुनः वहां से विहार कर मददन्न-सन्निवेश के बलदेव-मन्दिर में ठहरे। पश्चात् वहां से चलकर बहुसालग गांव में पहुंचे और शालवन में ध्यान-स्थित हो गये। यहां पर भी एक व्यन्तरी ने भगवान् के ऊपर घोरातिघोर उपसर्ग किये और अन्त में हार कर वह अपने स्थान को चली गई। उपसर्ग दूर होने पर भगवान् ने भी वहां से विहार किया और लोहार्गला पहुंचे। वहां के पहरेदारों ने इनका परिचय पूछा, कुछ उत्तर न मिलने पर उन्होंने गुप्तचर जानकर उन्हें पकड़ लिया और राजा के पास ले गये। वहां पर भगवान् का पूर्व परिचय उत्पल ज्योतिषी बैठा हुआ था, वह भगवान् को देखते हुए ही उठ खड़ा हुआ और भगवान् को नमस्कार कर राजा से बोला- राजन् ये तो राजा सिद्धार्थ के पुत्र धर्म-चक्रवर्ती तीर्थंकर भगवाने महावीर हैं, गुप्तचर नहीं हैं। तब राजा ने उनके बन्धन खुलवाये और क्षमा मांगकर उनका आदर सत्कार किया।

लोहार्गला से भगवान् ने पुरिमतालपुर की ओर विहार किया और नगर के बाहिरी उद्यान में कुछ समय तक ठहरे। पुरिमताल से भगवान् उन्नाग और गोभूमि होकर राजगृह पहुंचे और वहीं आठवां चातुर्मास किया। उस चौमासे भर भी भगवान् ने उपवास ही रखकर आत्म-चिन्तन किया। चातुर्मास के समाप्त होने पर पारणा करके भगवान् ने वहां से विहार कर दिया।

नवां वर्ष

राजगृह से भगवान् ने पुनः लाढ देश की ओर विहार किया और वहां के वज्र-भूमि, सुम्य-भूमि जैसे अनार्य प्रदेश में पहुंचे। यहां पर ठहरने योग्य स्थान न मिलने से वे कभी किसी वृक्ष के नीचे और कभी किसी खंडहर में ठहरते हुए विचरने लगे। यहां के लोग भगवान् की हंसी उड़ाते, उनपर धूलि और पत्थर फेंकते, गालियां देते और उन पर शिकारी कुत्ते छोड़ते थे। पर इन सारे कष्टों को सहते हुए कभी भी भगवान् के मन में किसी प्रकार का कोई रोष या आवेश नहीं आया।

चातुर्मास आ जाने पर भी भगवान् को ठहरने योग्य कोई स्थान नहीं मिला, अतः पूरा चौमासा उन्होंने वृक्षों के नीचे या खंडहरों में रहकर ही बिताया। चातुर्मास समाप्त होने पर भगवान् ने वहां से विहार कर दिया। यहां यह ज्ञातव्य है कि भगवान् इस अनार्य देश में

छह मास तक विचरण करते रहे, पर एक भी दिन आहार नहीं लिया, अर्थात् छह मास के लगातार उपवास किये।

दशवां वर्ष

अनार्य देश से निकल कर भगवान् ने सिद्धार्थपुर की ओर विहार किया और क्रमशः विचरते हुए वैशाली पहुंचे। एक दिन नगर के बाहिर आप कायोत्सर्ग से ध्यानावस्थित थे कि वहां के लड़कों ने आपको पिशाच समझकर बहुत परेशान किया। जब वहां के राजा को इस बात का पता चला, तो वह भगवान् के पास आया और पहिचान कर उनसे लड़कों के दुष्कृत्यों की क्षमा मांगी और वन्दना की।

वैशाली से भगवान् ने वाणिज्य ग्राम की ओर विहार किया। मार्ग में गण्डकी नदी मिली। भगवान् ने नाव-द्वारा उसे पार किया। नदी के उस पार पहुंचने पर नाविक ने उतराई मांगी। जब कुछ उत्तर या उतराई नहीं मिली, तो उसने भगवान् को रोक लिया। भाग्य से एक परिचित व्यक्ति तभी वहां आया। उसने भगवान् को पहिचान कर नाविक की उतराई दी और भगवान् को मुक्त कराया।

वहां से विहार कर भगवान् वाणिज्यग्राम के बाहर ध्यान में स्थित हो गये। जब वहां के निवासी श्रमणोपासक आनन्द को भगवान् के पधारने का पता चला, तो उसने आकर भगवान् की वन्दना की। वहां से विहार कर भगवान् श्रावस्ती पधारे और दशवां चातुर्मास आपने यहीं पर बिताया।

यहां यह ज्ञातव्य है कि गोशाला ने चातुर्मास के पूर्व ही भगवान् का साथ छोड़ दिया था और तेजोलेश्या की साधना कर स्वयं नियतिवाद का प्रचारक बन गया था।

ग्यारहवां वर्ष

श्रावस्ती से भगवान् ने सानुलद्विय सन्निवेश की ओर विहार किया। इस समय आपने भद्र, महाभद्र और सर्वतोभद्र तपस्याओं को करते हुए सोलह उपवास किये। तप का पारणा भगवान् ने आनन्द उपासक के यहां किया और दृढ भूमि की ओर विहार कर दिया। मार्ग में पैठाल-उद्यान् के चैत्य में जाकर तेला का उपवास ग्रहण कर एक शिला पर ध्यान-स्थित हो गये। एक रात्रि को जब भगवान् ध्यानारूढ थे, तब संगमक देव ने रात भर भयंकर से भयंकर नाना प्रकार के उपसर्ग किये। पर वह भगवान् को ध्यान से विचलित न कर सका। प्रातः काल होने पर वह अन्तर्ध्यान हो गया और भगवान् ने

वालुका की ओर विहार कर दिया। वहां से सुयोग, सुच्छेता, मलय और हस्तिशीर्ष आदि गांवों में विचरते हुए तासलि गांव पहुंचे। मार्ग में वह संगमक देव कुछ न कुछ उपद्रव करता ही रहा, मगर भगवान् निर्विकार रहते हुए सर्वत्र विजय पाते रहे।

तासलि गांव से भगवान्-मोसलि गांव पहुंचे और वहां के उद्यान में कायोत्सर्ग लगाकर ध्यान-स्थित हो गये। यहां संगमक ने उपद्रव करना प्रारम्भ किया और चोर कहकर राज्याधिकारियों से पकड़वा दिया। वहां के राजा आपसे कई प्रश्न पूछे। पर जब कोई उत्तर नहीं मिला, तब उसने क्रोध आकर आपको फांसी लगाने का हुक्म दे दिया। भगवान् के गले में फांसी का फन्दा लगाया गया और ज्यों ही नीचे का तख्ता हटाया गया, त्यों ही फंदा टूट गया। इस प्रकार सात बार फांसी लगाई गई और सातों बार फंदा टूटता गया यह देखकर सभी अधिकारी आश्चर्य-चकित होकर राजा के पास पहुंचे। राजा इस घटना से बड़ा प्रभावित हुआ और उसने भगवान् से क्षमा मांगी और उन्हें बन्धन से मुक्त कर दिया।

मोसलिग्राम से भगवान् सिद्धार्थपुर गये। वहां पर भी भगवान् को चोर समझकर पकड़ लिया गया। किन्तु एक परिचित व्यक्ति ने उन्हें छुड़वा दिया। वहां से भगवान् वज्रग्राम गये। जब वे पारणा के लिए नगर में विचर रहे थे, तो वहां भी संगमक ने आहार में अन्तराय किया। तब भगवान् आहार लिए बिना ही वापिस चले आये। इस प्रवास में पूरे छह मास के पश्चात् भगवान् की पारणा वज्रग्राम में एक वृद्धा के यहां हुई।

वज्रग्राम से भगवान् आलंमिया, सेयविया आदि ग्रामों में विचरते हुए श्रावस्ती पहुंचे और नगरी के बाहरी उद्यान में ध्यान-स्थित हो गये। पुनः वहां से विहार कर कौशाम्बी, वाराणसी, राजगृह, मिथिला आदि नगरों में विहार करते हुए वैशाली पहुंचे और ग्यारहवां चातुर्मास आपने वहीं पर व्यतीत किया और पूरे चातुर्मास भर भगवान् ने उपवास किये।

बारहवां वर्ष

वैशाली से भगवान् ने सुसमारपुर की ओर विहार किया और क्रमशः भोगपुर और नन्दिग्राम होते हुए मेढियग्राम पधारे। यहां पर भी एक गोपालक ने भगवान् को कष्ट देने का प्रयास किया।

मेढियग्राम से भगवान् कौशाम्बी गये और पौष कृष्णा प्रतिपदा के दिन भगवान् ने गोचरी को जाते समय यह अभिग्रह लिया कि “यदि सिर से मुंडित , पैरों में बेड़ी, तीन

दिन की उपासी, पके हुए उड़द के वाकुल सूप के कौने में लेकर द्वार के बीच में खड़ी हुई, दासीपने को प्राप्त हुई किसी राजकुमारी के हाथ से भिक्षा मिलेगी, तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं।“ ऐसे अटपटे अभिग्रह को लेकर भगवान् चार मास तक नगर में गोचरी को जाते रहे। मगर अभिग्रह पूरा नहीं हुआ। सारे नगर में चर्चा फैल गई कि भगवान् भिक्षा के लिए आते तो हैं, परन्तु बिना कुछ लिए ही लौट जाते हैं। वहां के निवासियों और राजा ने भी अभिग्रह जानने के लिए अनेक प्रयत्न किये, पर कोई सफलता नहीं मिली। इस प्रकार पांच दिन कम छह मास बीत गये। इस दिन सदा की भांति भगवान् गोचरी को आये कि अभिग्रह के अनुसार चन्दना को पडिगाहते हुए देखा और अपना अभिग्रह पूरा होता देखकर उसके हाथ से आहार ले लिया। भगवान् के आहार ग्रहण करते ही चन्दना की सब बेडियां खुल गईं और आकाश में जय जय कार ध्वनि गंजने लगी। भगवान् आहार करके इधर वापिस चले आये और उधर राजा शतानिक को जब यह बात ज्ञात हुई, तो वह चन्दना के समीप पहुंचे। चन्दना को देखते ही रानी मृगावती ने उसे पहिचान लिया और बोली- ‘अरे यह तो मेरी बहिन है’ ऐसा कहकर उसे वहां से राज-भवन में ले आई। पुनः उसने अपने पिता के यहां यह समाचार भेजा चेटक वैशाली से चन्दना को अपने घर लिवा ले गये। कालान्तर में यही चन्दना भगवान् के संघ की प्रथम साध्वी हुई।

कौशाम्बी से विहार कर भगवान् सुमंगल, सुच्छता, पालकग्रामों में विचरते हुए चम्पापुरी पहुंचे और चारमास के उपवास का नियम लेकर वहीं चौमासा पूर्ण किया। चातुर्मास के पश्चात् विहार करके जंमियाग्राम गये।

तेरहवां वर्ष

जंमियाग्राम में कुछ दिन रहने के पश्चात् भगवान् वहां से मेढियग्राम होते हुए छम्माणि गये और गांव के बाहिर ही ध्यान में स्थित हो गये। रात के समय कोई गुवाला भगवान् के पास बैल छोड़कर गांव में चला गया और जब वापिस आया तो उसे बैल वहां नहीं मिले। उसने भगवान् से पूछा- देवार्थ, मेरे बैल कहां गये? भगवान् की ओर से कोई उत्तर नहीं मिलने पर क्रोधित होकर उसने कांस की शलाकाएं दोनों कानों में घुसेड़ दीं और पत्थर से ऐसा ठोका कि कान के भीतर वे आपस में मिल गईं। कान से बाहर निकली शलाकाओं को उसने तोड़ दिया, ताकि कोई उनको देख न सके।

श्वे0 शास्त्रों में इस उपसर्ग का कारण यह बतलाया है कि जब महावीर का जीव त्रिपृष्ठ नारायण के भव में था, तब एक दिन रात्रि के समय वह सुख से अपनी शय्या पर लेटे थे और उनके सामने अनेक संगीतज्ञ सुन्दर संगीत-गान कर रहे थे। नारायण ने शय्या-पाल से कहा कि जब मुझे नींद आ जाय, तो इन गायकों को विदा कर देना। संगीत की सुरीली तान के सुनने में वह शय्या-पाल इतना तन्मय हो गया कि नारायण के सो जाने पर भी गायकों को विदा करना भूल गया और सारी रात गायक गाते रहे। नारायण जागे और गायकों को गाते हुए देखकर शय्या-पाल पर आग-बबूला होकर उससे पूछा कि गायकों को अभी तक विदा क्यों नहीं किया? उसने विनम्र होकर उत्तर दिया- महाराज, मैं संगीत सुनने में तन्मय हो गया और आपका आदेश भूल गया। शय्या-पाल के उत्तर से नारायण और भी क्रुद्ध हुए और अधिकारियों को आदेश दिया कि इसके कानों में पिघला हुआ गर्म शीशा भर दिया जाय। बेचारा शय्या-पाल गर्म शीशे के कानों में पड़ते ही छटपटा कर मर गया। उस समय का बद्ध यह निकाचित कर्म महावीर के इस समय उदय में आया और अनेक योनियों में परिभ्रमण के बाद उसी शय्या-पाल का जीव ग्वाला बना और पूर्व भव के बैर से बैलों का निमित्त पाकर उसका रोष इतना बढ़ा कि उसने महावीर के दोनों कानों में शलाकाएं ठोक दीं।

छम्माणि से विहार करते हुए भगवान् मध्यम-पावा पधारे और गोचरी के लिए घूमते हुए सिद्धार्थ वैश्य के घर पहुंचे। आहार करते समय वहां उपस्थित खरक वैद्य ने भांपा कि भगवान् के शरीर में कोई शल्य है। आहार कर भगवान् गांव के बाहिर चले गये और उद्यान में पहुंचकर ध्यानरूढ हो गये । सिद्धार्थ भी वैद्य को लेकर वहां पहुंचा और शरीर की परीक्षा करने पर उसे कान में ठोकी हुई कीलें दिखाई दीं। तब उसने संडासी से पकड़कर दोनों शलाकाएं कानों से खींचकर बाहिर निकाल दीं और कानों में घाव भरने वाली औषधि डाली। पुनः वन्दना करके वे दोनों वापिस गांव में लौट आये।

इस प्रकार भयानक उपसर्ग और परिषह सहन करते हुए, तथा नाना प्रकार के तपश्चरण करते हुए भगवान् ने साढ़े बारह वर्ष व्यतीत किये।

तपस्या विवरण

इस छद्मस्थ काल में भगवान् के द्वारा किये गये तपश्चरण का विवरण इस प्रकार है।

छह मासी अनशन तप	1	पक्षोपवास	72
पांच दिन कम छह मासी तप	1	भद्र प्रतिमा 2 दिन	1
चातुर्मासिक	9	महा भद्रप्रतिमा 4 दिन	1
त्रैमासिक	2	सर्वतोभद्र प्रतिमा 10 दिन	1
अढाई मासिक	2	षष्ठोपवास (बेला)	229
दो मासी	6	अष्टमभक्त (तेला)	12
डेढ़ मासी	2	पारणा के दिन	349
एक मासी	12	दीक्षा का दिन	1

इस उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भ० महावीर ने अपने छद्मस्थ जीवन के इन 12 वर्ष 6 मास 15 दिन के तपश्चरण-काल में केवल 350 दिन ही भोजन किया और शेष दिनों में उन्होंने निर्जल ही उपवास किये हैं।

भ० महावीर के छद्मस्थ काल के तपश्चरण और उपसर्ग आदि का उक्त वर्णन श्वे० आगमों के आधार पर दिया है। उपवास आदि का आधार इस प्रकार है-

जो अ तवो अणुचिन्नो वीर-वरेणं महाणुभावेणं ।

छउमत्थ-कालियाए अहक्कमं कित्तइस्सामि ॥1॥

नव किर चाउम्मासे छ विकर दो मासिए ओवासी ।

वारस य मासियाइं बाबत्तरि अदधसई ॥2॥

इककं फिर छम्मासं दो फिर तेमासिए उवासी अ ।

अइढाइज्जइं दुबे दो चे वर दिवइढमासाइं ॥3॥

भद्दं च महाभद्दं पडिमं ततो अ सव्वओ भरं ।

दो चत्तारि दसेव य दिवसे ठासी यमणुबद्धं ॥4॥

गोअरमभिग्गहजुअं खमणं छम्मासियं च कासी अ ।
 पंच दिवसेहिं ऊणं अव्वहिओ वच्छनयरीए ॥5॥
 दस दो किर महप्पा ठाइ मुणी एगराइयं पडिमं ।
 अट्ठम-भत्तेण जई इविकवकं चरमराई अं ॥6॥
 दो चेव य च्छट्ठसए अउणातीसे उ वासिओ भयवं ।
 न क्याइ निच्चभत्तं चउत्थभत्तं च से आसि ॥7॥
 वारस वासे अहिए छट्ठं भत्तं जहन्नयं आसि ।
 सव्वं च तवोकम्मं अपाणयं आसि वीरस्स ॥8॥
 तिन्नि सए दिवसाणं अउणापन्ने य पारणाकालो ।
 उक्कुडुअ निसिज्जाए ठिय पडिमाणं सए बहुए ॥9॥
 पव्वज्जाए दिवसं पढमं इत्थं तु पक्खिवित्ता णं ।
 संकलियम्मि उ संते जं लद्धं तं निसामेह ॥10॥
 बारस चेव य वासा मासा छच्चेव अद्धमासो य ।
 वीर-वरस्स भगवओ एसो छउमत्थ-परियाओ ॥11॥
 (आवश्यक-निर्युक्ति पृ 100-101)

छद्मस्थ काल के उपर्युक्त तपश्चरण और उत्सर्ग आदि का वर्णन श्वे0 आगमों के आधार पर दिया गया है। दि0 शास्त्रों में एक और उपसर्ग का वर्णन मिलता है। वह इस प्रकार है -

एक समय भगवान् विहार करते हुए उज्जयिनी नगरी पहुंचे और वहां के अतिमुक्तक नामक स्मशान भूमि में रात्रि के समय प्रतिमा योग धारण करके खड़े हो गये। अपनी स्त्री के साथ घूमता हुआ भव नामक रुद्र वहां आया और भगवान् को ध्यानस्थ देखकर आग-बबूला हो गया। उसने रात भर अनेक प्रकार के उपसर्ग किये, भयावने रूप बना कर भगवान् को डराना चाहा, उन्हें ध्यान से विचलित करने के लिए अप्सराओं का नृत्य दिखाया गया। इस प्रकार सारी रात्रि भर उपद्रव करने पर भी जब

भगवान् विचलित नहीं हुए और सुमेरुवत् अडोल-अकम्प बने रहे, तब वह भी भगवान् के चरणों में नत-मस्तक हो गया। उसने अपने दुष्कृत्यों के लिए क्षमा मांगी, नाना प्रकार के स्तोत्रों से उनका गुण-गान किया और 'अतिवीर या महति महावीर' कहकर उनके नाम का जयघोष किया।

भगवान् के जन्माभिषेक के समय इन्द्र ने 'वीर' यह नाम रखा था । महाराज सिद्धार्थ ने उनके जन्मोत्सव के समय 'श्री वर्धमान' यह नाम रखा गया था। संगमक देव ने महावीर के महाबल को देखकर 'महावीर' यह नाम रखा था। भगवान् जब कुमार काल में ही थे तब विजय और संजय नामक दो चारण मुनियों को किसी सूक्ष्म तत्व के विषय में कोई संदेह था उसका कहीं समाधान नहीं हो रहा था। एक बार जब वे आकाश मार्ग से विहार करते हुए जा रहे थे तब भगवान् के दर्शन मात्र से उनका संदेह दूर हो गया। तब उन्होंने भगवान् का 'सन्मति देव' नाम रखा। और उक्त रुद्र ने 'अति वीर' नाम रखा। इस प्रकार भगवान् महावीर के ये सभी नाम आज तक प्रचलित हैं। स्वामी समन्तभद्र और अकलंक देव ने श्रीवर्धमान नाम से ही भगवान् की स्तुति की है।

श्री सिद्धसेनाचार्य को सन्मति यह नाम बहुत प्रिय रहा और इसी से उन्होंने अपने दार्शनिक ग्रन्थ का नाम ही सन्मति-सूत्र रखा। वीर और महावीर नाम से तो सर्व साधारण जन भली भांति परिचित ही हैं।

इस प्रकार नाना देशों में विहार करते हुए ओर नाना प्रकार के परीषद् एवं उपसर्गों को सहते हुए भगवान् महावीर ने अपने साधक जीवन के साठे बारह वर्ष पूर्ण किए।

केवलज्ञान की उत्पत्ति और गणधर-समागम

तेरहवें वर्ष में वैशाख शुक्ला दशमी के दिन जब भगवान् महावीर को जम्भियग्राम के बाहर ऋजुबालुका नदी के उत्तर तट पर श्यामाक किसान के खेत में शाल-वृक्ष के नीचे चौथे पहर में ध्यानावस्थित थे तभी उन्होंने क्षपक-श्रेणी पर आरोहण किया और दसवें गुण स्थान में प्रथम शुक्लध्यान के द्वारा मोह कर्म का नाश कर एवं बारहवें गुणस्थान में द्वितीय शुक्ल ध्यान के द्वारा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का नाश कर केवल्य प्राप्त किया। उसी समय वे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय के स्वामी हो गये। इन्द्र ने घंटा आदि के बजने से भगवान् के केवल ज्ञान की उत्पत्ति को जाना। अतः वह तुरन्त सर्व देवों के साथ भगवान् की वन्दना के लिए आया। इन्द्र के आदेश से कुबेर ने एक विशाल सभा-मण्डप बनाया। जिसे कि शास्त्रों में समवसरण या समवशरण कहा गया। इस पद का अर्थ होता है- सर्व ओर से आने वाले लोगों को समान रूप से शरण देने वाला स्थान।

चतुर्निकाय के देवों के साथ आकर इन्द्र ने केवलज्ञान कल्याणक मनाया और भगवान् की पूजा कर सब देव अपने-अपने प्रकोष्ठ में जा बैठे, तथा भगवान् के मुखारविन्द से धर्मोपदेश सुनने की प्रतीक्षा करने लगे। प्रतीक्षा करते-करते दिन पर दिन बीतने लगे। तब इन्द्र बड़ा चिन्तित हुआ कि भगवान् की दिव्य ध्वनि प्रकट न होने का क्या कारण है? तब उसने अवधि ज्ञान से जाना कि गणधर के न होने से भगवान् का उपदेश नहीं हो रहा है। अतएव वह गणधर पद के योग्य व्यक्ति के अन्वेषण में तत्पर हुआ। उस समय इन्द्रभूति गौतम वेद-वेदान्त के पारगामी और सर्व श्रेष्ठ विद्वान् थे। अतः इन्द्र एक शिष्य का रूप बनाकर उनकी वेदशाला में पहुंचा और निम्न गाथा बोलते हुए उसने उसका अर्थ पूछा-

पंचेव अस्तिकाया, छज्जीवणिकाया महव्वया पंच ।

अट्ठ य पवयणमादा, सहेउओ बंध-मोक्खो य ॥

इन्द्रभूति इस गाथा को सुनते ही अस्मज्जस में पड़ गये। उनकी समझ में नहीं आया कि पंच अस्तिकाया, षड्जीव-निकाय पांच महाव्रत और अष्ट प्रवचन मात्राएं कौन-कौन सी होती हैं? जीव निकाय शब्द से तो इन्द्रभूति एकदम चकरा गये, क्योंकि जीव के अस्तित्व के विषय में उनके मन में शंका पहले से ही घर किये हुए थी।

इन्द्रभूति गौतम ने उससे पूछा कि तूने यह गाथा कहाँ से सीखी? तब उसने उत्तर दिया - मैंने यह अपने गुरु महावीर से सीखी है। किन्तु उन्होंने कई दिनों से मौन धारण कर लिया है। अतः इसका अर्थ जानने के लिए मैं आपके पास आया हूँ। यह सुनकर इन्द्रभूति गौतम बोले - चल, तेरे गुरु के सामने ही इसका अर्थ बताऊंगा। यह सुनकर और अपने अभीष्ट प्रयोजन को सिद्ध होता हुआ देखकर इन्द्र बड़ा प्रसन्न हुआ और वह इन्द्रभूति को अपने साथ लेकर भगवान् के समवसरण में पहुँचा।

समवसरण की अनुपम शोभा को देखकर और उसके बीच में उत्तंग सिंहासन पर विराजमान महावीर के मुख मण्डल की आभा को देखकर इन्द्रभूति गौतम हतप्रभ से हो गये। समवसरण के द्वार पर अवस्थित मानस्तम्भ को देखते ही उनके पांडित्य का अभिमान चूर-चूर हो गया और वे नीचे मुख किये हुए इन्द्र के साथ भगवान् महावीर के पास पहुँचे। उनके वहाँ पहुँचते ही भगवान् महावीर ने उन्हें उनके नाम गोत्र के साथ सम्बोधन करते हुए कहा- अहो इन्द्रभूति गौतम, तुम्हारे हृदय में जो यह शंका है कि जीव है या नहीं ? सो जो ऐसा विचार कर रहा है निश्चय से वो ही जीव है। उसका सर्वथा अभाव न कभी हुआ है और न कभी होगा।

भगवान् के मुखारविन्द से अपने मनोगत शंका का उल्लेख और उसका समाधान सुनकर इन्द्रभूति ने भक्ति से विह्वल होकर तत्काल उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया और दीक्षित होकर दिगम्बर साधु बन गये। गौतम इन्द्रभूति का निमित्त पाकर इस प्रकार 66 दिन के बाद श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के प्रातःकाल भगवान् का सर्व प्रथम धर्मोपदेश हुआ।

वीरसेनाचार्य ने कषायपाहुड सूत्र की जयधवला टीका में इस विषय पर रोचक प्रकाश डाला है। जो इस प्रकार है -

शंका- केवलज्ञान की उत्पत्ति के बाद 66 दिन तक भगवान् की दिव्य ध्वनि क्यों प्रकट नहीं हुई थी?

समाधान- गणधर के अभाव से।

शंका - सौधर्म इन्द्र ने तत्काल ही गणधर को क्यों नहीं ढूँढ़ा?

समाधान- काललब्धि के बिना असहाय देवेन्द्र भी गणधर को ढूँढ़ने में असमर्थ रहा।

शंका- अपने पादमूल में आकर महाव्रतों को स्वीकार करने वाले पुरुष को छोड़कर अन्य के निमित्त से दिव्य ध्वनि क्यों नहीं प्रवृत्त होती है?

समाधान- ऐसा ही स्वभाव है। और स्वभाव में प्रश्न नहीं किया जा सकता है। अन्यथा फिर कोई व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी। (जयध्वला पु0 1 पृ0 76)

गुणभद्रचार्य ने भी अपने उत्तर पुराण में यह उल्लेख किया है कि गौतम द्वारा जीव के अस्तित्व के विषय में प्रश्न किये जाने पर भगवान् का उपदेश प्रारम्भ हुआ।

इन्द्र ने ब्राह्मण वेष में जाकर जिस गाथा का अर्थ गौतम से पूछा था उसमें निर्दिष्ट तत्त्वों के क्रम से भगवान् की वाणी प्रकट हुई। सर्व प्रथम सर्व द्रव्यों के लक्षण स्वरूप 'वज्जेहदा विगमेइ वा घुवेइ वा' (प्रत्येक वस्तु प्रति समय नवीन पर्याय रूप से उत्पन्न होती है, पूर्व पर्याय रूप से विनष्ट होती है और अपने मूल स्वभाव रूप से ध्रुव रहती है।) यह भातृका-पद दिव्य ध्वनि से प्रकट हुआ। पुनः- 'जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो। भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोइढगई' (जीव-ज्ञान-दर्शन रूप उपयोगमय है, अमूर्त है, कर्मों का कर्ता और भोक्ता है, स्वदेह-परिमाण है। संसारी भी है और सिद्ध स्वरूप भी है, तथा स्वभाव से ऊर्ध्वगतिगामी है।) यह सप्त तत्त्व और नव पदार्थ सूचक बीज-पद प्रकट हुआ। तदन्तर गुणस्थान मार्गणा-स्थान और जीव समासादि बीज-पद भगवान् की दिव्य ध्वनि से प्रकट हुए। इन मातृका या बीज पदों को सुनते ही गौतम की समस्त शंकाओं का समाधान हो गया। तभी भगवान् के दिव्य सानिध्य में गौतम के श्रुतज्ञानावरण कर्म का विशिष्ट क्षयोपशम प्रकट हुआ और वे द्वादशांग श्रुत के वेत्ता हो गये। उसी दिन अपराहन काल में उन्होंने भगवान् की वाणी का द्वादशांग रूप से विभाजन किया।

श्वे0 शास्त्रों के अनुसार जिस दिन भगवान् महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, उसके कुछ समय पूर्व से ही मध्यम पावापुरी में सोमिल नाम के ब्राह्मण ने अपनी यज्ञ-शाला में एक बहुत बड़े यज्ञ का आयोजन किया था और उसमें सम्मिलित होने के लिये उसने उस समय के प्रायः सभी प्रमुख एवं प्रधान ब्राह्मण विद्वानों को अपनी शिष्य मंडली के साथ आमंत्रित किया गया था।

उस यज्ञ में भाग लेने के लिये इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति ये तीनों ही गौतम गोत्रिय विद्वान्- जो कि सगे भाई थे- अपने-अपने पांच सौ शिष्यों के साथ आये हुए थे। ये मगध देश के गोबर ग्राम के निवासी थे। इनके पिता का नाम वसुभूति और माता का

नाम पृथ्वी था। यद्यपि ये तीनों ही विद्वान् वेद-वेदांगादि चौदह विधाओं के ज्ञाता थे तथापि इन्द्रभूति को जीव के विषय में, अग्निभूति को कर्म के विषय में और वायुभूति को जीव और शरीर के विषय में शंका थी।

उसी समारोह में कोल्लाग-सन्निवेश-वासी आर्यव्यक्त नाम के विद्वान् भी सम्मिलित हुए थे। इनके पिता का नाम धनमित्र और माता का नाम वारुणी था। इनका गोत्र भारद्वाज था। इन्हें पंचभूतों के विषय में शंका थी। अर्थात् ये जीव की उत्पत्ति पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इनपंच भूतों से मानते थे। जीव की स्वतंत्र सत्ता है कि नहीं इस विषय में इन्हें शंका थी। इनके भी पांच सौ शिष्य थे। उनके साथ ये यज्ञ में आये थे।

उसी कोल्लाग-सन्निवेश के सुधर्मा नाम के विद्वान् भी यज्ञ में आये थे, जो अग्नि वैश्यायन गोत्रिय थे। इनके पिता का नाम धम्मिल्ल था और माता का नाम भद्दिला था। इनका विश्वास था कि वर्तमान में जो जीव जिस पर्याय में हैं वह मरकर भी उसी पर्याय में उत्पन्न होता है। पर आगम-प्रमाण न मिलने से ये अपने मत में संदिग्ध थे। इनके भी पांच सौ शिष्य थे, उनके साथ ये यज्ञ-समारोह में शामिल हुए थे।

उसी यज्ञ में मौर्य-सन्निवेश के निवासी मण्डित और मौर्य पुत्र नामक विद्वान् भी अपने साढ़े तीन-तीन सौ शिष्यों के साथ सम्मिलित हुए थे। मण्डित वशिष्ठ गोत्रिय थे। इनके पिता का नाम धनदेव और माता का नाम विजया था। इन्हें बन्ध और मोक्ष के विषय में शंका थी। मौर्य पुत्र काश्यप गोत्रिय थे। इनके पिता का नाम मौर्य और माता का नाम विजया था। इन्हें देवों के अस्तित्व के विषय में शंका थी।

उस यज्ञ में भाग लेने के लिए अकम्पित, अचलभ्राता मेतार्य और प्रभास नाम के चार अन्य विद्वान् भी आये थे। इनमें से प्रत्येक का शिष्य परिवार तीन सौ शिष्यों का था। अकम्पित को नरक के विषय में, अचलभ्राता को पुण्य के सम्बन्ध में, और मेतार्य को परलोक के संबंध में और प्रभास को मुक्ति के संबंध में शंका थी। अकम्पित मिथिला के थे और उनका गौतम गोत्र था। अकम्पित के पिता का नाम वसु और माता का नाम नन्दा था। अचलभ्राता कौशल के थे और उनका गोत्रहारित था। पिता का नाम देव और माता का नाम जयन्ती था। मेतार्य कौशाम्बी के समीपवर्ती तुंगिक ग्राम के थे। उनका कौण्डिन्य गोत्र था। पिता का नाम दत्त और माता का नाम वरुणा था। प्रभास राजग्रह के थे। इनका भी कौण्डिन्य गोत्र था। इनके पिता का नाम बल और माता का नाम अतिभद्रा था। ये सभी विद्वान्

ब्राह्मण थे और वेददांग के पारगामी थे । परन्तु अभिमानवश ये अपनी शंकाओं को कभी किसी के सम्मुख प्रकट नहीं करते थे।

श्वे0 शास्त्रों के अनुसार जहां पर भगवान् महावीर को केवलज्ञान प्राप्त हुआ था और जहां प्रथम समवसरण की रचना हुई थी वहां पर भगवान् ने कोई धर्मदेशना नहीं दी। धर्मदेशना क्यों नहीं हुई इस विषय में विभिन्न हैं। मेरे मत से गणधर का नहीं होना ही प्रधान कारण हो सकता है।

इस प्रकार प्रथम समवसरण देशना के बिना ही विसर्जित हुआ। तब भगवान् ऋजुबालिका नदीके तट से विहार कर मध्यमा पावा पधारे। और यहां पर देवों ने समवसरण की रचना की। जब इधर उपर्युक्त विद्वान् सोमिल ब्राह्मण के यहां यज्ञ कर रहे थे तभी आकाश से देवगण भगवान् की वन्दना के लिए नीचे उतरते हुए दिखाई दिये। उन्हें देखकर गौतम आदि विद्वानों ने यज्ञ में उपस्थित लोगों से कहा- देखो, हमारे मंत्रों के प्रभाव से देवगण भी यज्ञ में शामिल होकर अपना हव्य-अंश लेने के लिये आ रहे हैं। किन्तु कुछ क्षण बाद जब उन्होंने देखा कि ये देवगण तो उनके यज्ञ-स्थल पर न आकर दूसरी ही ओर जा रहे हैं तब उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। नगर निवासी लोगों को भी जब उसी ओर को जाते हुए देखा तो उनके विस्मय का ठिकाना न रहा और जाते हुए लोगों से पूछा कि तुम लोग कहां जा रहे हो? लोगों ने बताया कि महावीर सर्वज्ञ तीर्थकर यहां आये हुए हैं, उनका धर्मोपदेश सुनने के लिए हम जा रहे हैं और हम ही क्या, ये देवलोग भी स्वर्ग से उतर कर उनका उपदेश सुनने के लिए आ रहे हैं। लोगों का यह उत्तर सुनकर इन्द्रभूति गौतम विचारने लगा- क्या वेदार्थ से शून्य यह महावीर सर्वज्ञ हो सकता है? जब मैं इतना बड़ा विद्वान् होने पर भी आज तक सर्वज्ञ नहीं हो सका, तब यह वेद-बाह्य महावीर कैसे सर्वज्ञ हो सकता है? चलकर उनकी परीक्षा करना चाहिए। ऐसा सोचकर वे भी उसी ओर चल दिये जिस ओर कि सभी नगर निवासी जा रहे थे।

इन्द्रभूति गौतम जब समवसरण में प्रवेश कर रहे थे तब सोच रहे थे कि यदि महावीर मेरे मन की शंका को जानकर उसका समाधान कर देंगे तो मैं उन्हें सर्वज्ञ मान लूंगा। जैसे ही गौतम भगवान् महावीर के सामने पहुंचे वैसे ही भगवान् ने कहा-गौतम तुम चिरकाल से आत्मा के विषय में शंकाशील हो। गौतम अपने मन की शंका को सुनकर अत्यन्त विस्मित हुए। उन्होंने कहा- हां मुझे यह शंका है। क्यों कि श्रुति में कहा है- “विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्यवानु विनश्यति, न प्रेत्य संजास्ति”

अर्थात् विज्ञानघन आत्मा भूत समुदाय से ही उत्पन्न होती है और उसी में तिरोहित हो जाती है। अतः परलोक की संज्ञा नहीं है। तदनुसार पृथ्वी आदि भूतों से पृथक् आत्मा का अस्तित्व कैसे सम्भव हो सकता है?

इन्द्रभूति का यह प्रश्न सुनकर भ० महावीर ने कहा- इन्द्रभूति, तुम विज्ञानघन इत्यादि श्रुति वाक्य का जिस रूप में अर्थ समझ रहे हो वस्तुतः उसका वैसा अर्थ नहीं है। तुम विज्ञानघन का अर्थ भूत समुदायोत्पन्न चेतना-पिण्ड समझते हो। पर उसका सही अर्थ विविध ज्ञान पर्यायों से है। आत्मा में प्रतिपल नवीन ज्ञान पर्यायों का आयिर्भाव और पूर्व कालीन ज्ञान पर्यायों का तिरोभाव होता रहता है। जैसे- कोई एक व्यक्ति जब एक घट को देख रहा है और उस पर विचार कर रहा है, उस समय उसकी आत्मा में घट विषयक ज्ञानोपयोग उत्पन्न होता है। इसे घट-विषयक ज्ञान पर्याय कहते हैं। कुछ समय के पश्चात् जब वही मनुष्य घट को छोड़कर पट आदि पदार्थों को देखने लगता है तब उसे पट आदि पदार्थों का ज्ञान होता है। और पहले का घट सम्बन्धी ज्ञान-पर्याय सत्ताहीन हो जाता है। अतः यह कहा जाता है कि विविध पर्याय विषयक ज्ञान के पर्याय भी विज्ञानघन हैं। यहां भूत शब्द का अर्थ पृथ्वी आदि पंच महाभूत से न होकर जड़-चेतन रूप समस्त ज्ञेय पदार्थ से है। 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' इस वाक्य का अर्थ परलोक का अभाव नहीं किन्तु पूर्व पर्याय की सत्ता नहीं, यह समझना चाहिए। इस प्रकार जब पुरुष में उत्तर कालीन ज्ञान पर्याय उत्पन्न होता है तब पूर्व कालीन ज्ञान पर्याय का अभाव हो जाता है। क्यों कि किसी भी द्रव्य या गुण की उत्तर पर्याय के समय पूर्व पर्याय नहीं रह सकती। अतः 'न प्रेत्यसंज्ञास्ति' यह वाक्य कहा गया है।

भ० महावीर द्वारा इस तर्क-प्रधान विवेचन को सुनकर इन्द्रभूति के हृदय का संशय नष्ट हो गया और उन्होंने अपने पांच सौ शिष्यों के साथ जिन-दीक्षा अंगीकार कर भगवान् का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया।

दि० शास्त्रों में इन्द्रभूति गौतम के अतिरिक्त अन्य गणधर कब और कैसे बने इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। किन्तु श्वे० शास्त्रों में इसका विस्तृत वर्णन मिलता है। प्रसंगोपयोगी होने से वह यहां दिया जाता है -

इन्द्रभूति का प्रव्रज्या की बात पवन वेग से मध्यमा पावा में पहुंची। सारे नगर में यह चर्चा होने लगी कि इन्द्रभूति जैसा विद्वान् जब महावीर का शिष्य हो गया तब वे सचमुच में ज्ञान के अगाधसमुद्र और धर्म के अवतार हैं। कोई कहता- अरे, वे कुछ करामात जानते होंगे, अन्यथा इन्द्रभूति जैसा विद्वान् अपनी समस्त शिष्य-मण्डली के साथ उनका

शिष्य नहीं बन सकता था। इस प्रकार भाति-भांति की चर्चाएं होने लगीं। जब इन्द्रभूति के प्रव्रज्या की बात उनके छोटे भाई अग्निभूति के कानों तक पहुंची तो उसे विश्वास ही नहीं हुआ। वह यह मानने को तैयार नहीं हुआ कि इन्द्रभूति किसी से हार जाय और उसका शिष्य बन जाय। अतः वह कुछ रोष, आश्चर्य और अहंकार के साथ अपनी शिष्य मण्डली सहित उस ओर चल पड़ा जहां पर कि भ0 महावीर का समवसरण था। जाते समय उसे यह पूर्ण आत्म विश्वास था कि वह महावीर को परास्त कर अपने बड़े भाई इन्द्रभूति को वापिस ले आयगा।

जब अग्निभूति नगर से चला तो उसकी चाल बहुत तेज थी। परन्तु ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ने लगा, त्यों-त्यों उसकी चाल धीमी होती गई। जब वह समवसरण के सामने पहुंचा और मानस्तम्भ एवं वहां की अनुपम शोभा को देखा तो उसका जोश बिल्कुल ठंडा पड़ गया। वह सोचने लगा- क्या महावीर सचमुच सर्वज्ञ हैं? क्या इसी कारण इन्द्रभूति ने अपनी हार मान ली है? यदि यह बात सच है तो मैं भी महावीर से एक प्रश्न पूछूंगा। यदि मुझे मेरे प्रश्न का ठीक उत्तर मिल जायेगा तो मैं भी उन्हें सर्वज्ञ मान लूंगा। यह सोचते हुए वे जैसे ही महावीर के सामने पहुंचे तो उन्होंने संबोधित करते हुए कहा- अहो अग्निभूति, क्या तुम्हें कर्म के अस्तित्व के विषय में शंका है? अग्निभूति के मुख से सहज में ही निकला- हां भगवन्, मुझे कर्म के अस्तित्व के विषय में शंका है। क्योंकि-

“पुरुष एवेदं ग्नि सर्व यद्भूतं यच्च भाव्यम् उत्तामृतत्वस्येशानो यदन्ने नातिरोहति यदेजति यद् दूरे यदु अन्तिके । यदन्तरस्य सर्वस्य यदु सर्वस्यास्यबाह्यतः ॥”

यह श्रुति पुरुषार्द्वत का प्रतिपादन करती है और जब दृश्य, अदृश्य, बाह्य- आभ्यन्तर भूत एवं भविष्यत सब कुछ पुरुष ही है, तब पुरुष के अतिरिक्त कोई पदार्थ ही नहीं है ।

युक्तिवाद भी कर्म का अस्तित्व सिद्ध नहीं कर सकता। कर्मवादी कहते हैं कि जीव पहले कर्म करता है, पीछे उसका फल भोगता है। परन्तु यह सिद्धान्त तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। क्यों कि जीव नित्य, अरूपी और चेतन माना जाता है, तथा कर्म, अनित्य रूपी और अचेतन । इन परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले जीव और कर्म का सम्बन्ध एक दूसरे के साथ कैसा माना जायगा- सादि अथवा अनादि?

जीव और कर्म का संबंध यदि सादि माना जाय तो इसका यह अर्थ होगा कि पहले जीव कर्म-रहित था, और पीछे किसी समय कर्म के साथ उसका संबंध हुआ। परन्तु यह

मान्यता कर्म-सिद्धान्त के प्रतिकूल है। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार जीव की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियां ही कर्म-बन्ध का कारण होती हैं। मन, वचन और काय ये स्वयं कर्म-फल हैं, क्यों कि पूर्व-बद्ध कर्म के उदय से ही मन, वचन आदि योग जीव को प्राप्त होते हैं। ऐसी दशा में अबद्ध जीव किसी भी प्रकार बद्ध नहीं हो सकता, क्यों कि उसके पास बंध का कोई भी कारण नहीं है। यदि बिना कारण ही जीव 'कर्म-बद्ध' मान लिया जाय तो कर्म-मुक्त सिद्धात्माओं को भी पुनः कर्म-बद्ध मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी। इस प्रकार कर्मवादियों का मोक्षतत्त्व नाम मात्र का रह जायगा। फिर कोई भी आत्मा सदा मुक्त नहीं रह सकेगा। अतः अवद्ध जीव का बंध मानना अनेक दोष-परिपूर्ण है ।

यदि जीव और कर्म का संबंध अनादि माना जाय तो वह भी आत्म स्वरूप के समान नित्य होगा? किन्तु नित्य पदार्थ का कभी नाश नहीं होता, अतः जीव कभी कर्म से मुक्त भी नहीं हो सकेगा। जब जीव की कर्म से मुक्ति ही संभव नहीं होगी तब वह उसके लिए प्रयत्न ही क्यों करेगा?

महावीर- अहो अग्निभूति, तुम्हारे इन वचनों से ही सिद्ध होता है कि तुमने श्रुति का वास्तविक अर्थ ही नहीं समझा। 'पुरुष एवेदम्' यह श्रुति वाक्य 'पुरुषाद्वैत' का साधक नहीं, किन्तु यह एक स्तुति-वाक्य है।

अग्निभूति - इस श्रुति-वाक्य को स्तुति-वाक्य कहां माना जाय और पुरुषाद्वैत साधक क्यों नहीं?

महावीर- पुरुषाद्वैतवाद दृष्टापलाप और अदृष्टकल्पना दोषों से दूषित है।

अग्निभूति- ये दोनों दोष कैसे सम्भव हैं?

महावीर- पुरुषाद्वैत के स्वीकार करने पर यह पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आदि प्रत्यक्ष दृश्य पदार्थों का अलाप होता है और सत्-असत् से विलक्षण किसी अनिर्वचनीय अदृष्ट पदार्थ की कल्पना करनी पड़ती है।

अग्निभूत- भगवान्, इसमें अपलाप की बात नहीं है। पुरुषाद्वैतवादी इस दृश्य जगत को पुरुष से अभिन्न मानते हैं। जड़-चेतन का भेद व्यावहारिक कल्पना मात्र है। वस्तुतः जो कुछ दृश्य-अदृश्य और चर-अचर पदार्थ हैं वे सब पुरुष स्वरूप हैं।

महावीर- पुरुष दृश्य है या अदृश्य?

अग्निभूति- पुरुष रूप, रस, गंध और स्पर्शादि से रहित अदृश्य है। इसका इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता।

महावीर- तब तुम बताओ- जो ये पदार्थ आंखों से देखे जाते हैं, कानों से सुने जाते हैं, नाक से सूंघे जाते हैं, जीभ से चखे जाते हैं और स्पर्शनेन्द्रिय से स्पर्श किये जाते हैं, वे क्या हैं?

अग्निभूति- यह सब नाम रूपात्मक जगत है।

महावीर- यह सब पुरुष से भिन्न है या अभिन्न?

अग्निभूति- यह सब पुरुष से अभिन्न है।

महावीर- अभी तुमने कहा था कि पुरुष अदृश्य है। वह इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता। तब इस 'पुरुषाभिन्न' नाम रूपात्मक जगत का इन्द्रियों से कैसे प्रत्यक्ष हो रहा है?

अग्निभूति- इस नाम रूपात्मक दृश्य जगत की उत्पत्ति माया से होती है। माया तथा उसका कार्य नाम रूप सत् नहीं है क्यों कि कालान्तर में उसका नाश हो जाता है।

महावीर- तब क्या दृश्य जगत असत् है?

अग्निभूति- नहीं। जैसे यह सत् नहीं, वैसे असत् भी नहीं, क्यों कि ज्ञान-काल में वह सत्तरूप से प्रतिभासित होता है।

महावीर- सत् भी नहीं और असत् भी नहीं तब इसे क्या कहोगे?

अग्निभूति- सत्-असत् से विलक्षण इस माया को हम अनिर्वचनीय कहते हैं।

महावीर- अहो अग्निभूति, अन्ततः तुम्हें पुरुष के सिवाय माया नामका एक विलक्षण पदार्थ मानना ही पड़ा। तब तुम्हारा पुरुषाद्वैतवाद कहां रहा? जरा सोचो यह दृश्य पदार्थ पुरुष से अभिन्न कैसे हो सकते हैं? यह दृश्य जगत् यदि पुरुष ही हो तो पुरुष के ही समान वह भी इन्द्रिय-अगोचर होना चाहिए। पर जब तुम प्रत्यक्ष देख रहे हो कि यह इन्द्रिय गोचर है। तब उसे प्रत्यक्ष दर्शन को भ्रान्त नहीं कह सकते।

अग्निभूति- इसे भ्रान्त मानने में क्या आपत्ति है?

महावीर- भ्रान्त-ज्ञान उत्तर काल में भ्रान्त ही सिद्ध होता है। जिसे तुम भ्रान्त कहते हो वह कभी भ्रान्ति रूप सिद्ध नहीं होता। अतः वह भ्रान्त नहीं, किन्तु निर्भ्रान्त ज्ञान है।

अग्निभूति- यह माया पुरुष की ही शक्ति है और पुरुष-विवर्त में नाम रूपात्मक जगत् बनकर भासमान होता है। वस्तुतः माया पुरुष से भिन्न वस्तु नहीं है।

महावीर- यदि माया पुरुष की शक्ति ही है तो यह भी पुरुष के ज्ञानादि गुणों के समान अरूपी एवं अदृश्य होना चाहिए। परन्तु यह तो दृष्टिगोचर होती है। अतः सिद्ध होता है कि माया पुरुष की शक्ति नहीं किन्तु वह एक स्वतंत्र पदार्थ है। पुरुष-विवर्त मानने से भी पुरुषाद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि पुरुष-विवर्त का अर्थ है पुरुष के मूल स्वरूप की विकृति। परन्तु पुरुष में विकृति मानने से उसे सकर्मक ही मानना पड़ेगा। अकर्मक नहीं। जिस प्रकार शुद्ध जल में खमीर उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार अकर्मक जीव में विवर्त नहीं उत्पन्न हो सकता। पुरुषवादी जिस पदार्थ को माया अथवा अज्ञान कहते हैं वह वस्तुतः आत्मा से भिन्न एक जड़ पदार्थ है। पुरुषवादी इसे सत् या असत् न कहकर अनिर्वचनीय कहते हैं जिससे सिद्ध होता है कि वह पुरुष से भिन्न पदार्थ है। इसीलिए तो वे इसे पुरुष के समान सत् नहीं मानते। असत् न मानने का अर्थ तो केवल इतना ही है कि यह माया गगन-कुसुम के समान कल्पित वस्तु नहीं है।

अग्निभूति- भगवन् आपका कथन उचित है। दृश्य जगत् को पुरुष मात्र मानने से प्रत्यक्ष अनुभव का निर्वाह नहीं हो सकता, यह मैं समझ गया हूँ। परन्तु जड़ तथा रूपी कर्म द्रव्य चेतन तथा अरूपी आत्मा के साथ कैसे संबद्ध हो सकता है और उस पर अच्छा-बुरा प्रभाव कैसे डाल सकता है?

महावीर- जिस प्रकार अरूपी आकाश के साथ रूपी द्रव्यों का सम्पर्क होता है उसी प्रकार अरूपी आत्मा का कर्मों के साथ संबंध होता है। जिस प्रकार ब्राह्मी औषधि और मदिरा आत्मा के अरूपी चैतन्य पर भला बुरा असर करते हैं उसी प्रकार अरूपी चेतन आत्मा पर रूपी जड़ कर्मों का भी भला बुरा असर हो सकता है।

इस प्रकार लम्बी चर्चा के बाद अग्निभूति ने भगवान् महावीर का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया और नतमस्तक होकर अपनी शिष्य मण्डली के साथ उन्होंने भी भगवान् के चरणों के समीप श्रामण्य अंगीकार कर लिया।

अग्निभूति के दीक्षित होने के भी समाचार जब मध्यमा नगरी में पहुंचे तब यज्ञ में उपस्थित सब ब्राह्मण विद्वानों के गर्व खर्व हो गये। उनको विश्वास हो गया कि महावीर सर्वज्ञ हैं। फिर भी वायुभूति गौतम और अन्य विद्वानों ने महावीर के पास जाकर उनके ज्ञान-वैराग्य की परीक्षा करने का निश्चय किया और वे सब अपनी-अपनी शिष्य मण्डली के साथ

समवसरण की ओर चल पड़े। वायुभूति सबसे आगे था। वह समवसरण की अलौकिक विभूति और भगवान् के लोकोत्तर-तेज को देखकर आश्चर्य से स्तम्भित रह गया। जब वह अपना प्रश्न पूछने को ही था कि भगवाने ने उसे संबोधित करते हुए कहा- अहो वायुभूति- क्या तुम्हें शरीर से भिन्न जीव की सत्ता के विषय में शंका है।

वायुभूति- कुछ विस्मित होता हुआ बोला- हां मुझे शरीर से भिन्न जीव के विषय में शंका है। क्यों कि 'विज्ञानघन' इत्यादि श्रुति-वाक्य यही प्रतिपादित करता है कि ज्ञानात्मक आत्म पदार्थ इन भूतों से प्रकट होता है और इन्हीं में विलीन हो जाता है। अतः पुनर्जन्म जैसा कोई भाव नहीं है।

महावीर- आत्मा का अस्तित्व भी वेद से सिद्ध होता है। क्यों कि

‘सत्येन लभ्यस्तपसा दृयेष ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।

ज्योतिर्मयो हि शुद्धो यं पश्यन्ति धीरा यतयः संयातात्मनः ॥

यह श्रुति वाक्य आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है। भूतसमुदायात्मक शरीर को आत्मा मानने से काम नहीं चलेगा, क्यों कि कार्य सदा कारणानुरूप होता है। तिल के प्रत्येक दाने में तेल होता है तभी उसके समुदाय से तेल निकलता है। रेती के कणों में तेल न होने से उसके समुदाय से भी वह कभी प्रकट नहीं होता। भूत जड़ स्वरूप है। अतः उसका समुदाय भी जड़ ही होगा, उसमें चैतन्य कभी प्रकट नहीं हो सकता।

वायुभूति- आपका कारणानुरूप कार्य वाला नियम अव्यापक है। मदिरा के उत्पन्न करने वाले पदार्थों में मादकता नहीं होती, फिर भी उसके सम्मिश्रण से उत्पन्न हुई मदिरा में वह अवश्य होती है। इससे सिद्ध होता है कि कारणानुरूप ही कार्य हो, ऐसा ऐकान्तिक नियम नहीं है।

महावीर- अहो वायुभूति, मदिरा के दृष्टान्त से कारणानुरूप कार्य का नियम विघटित नहीं होता। मदिरा के उत्पादक प्रत्येक पदार्थ में मादकता अव्यक्त रूप में रहती है। तभी वह उनके संधान में व्यक्त होती है। यदि ऐसा न हो तो दूसरे पदार्थों से वह क्यों नहीं अभिव्यक्त होती?

वायुभूति- अच्छा भगवन्, यदि यह मान भी लें कि जड़ से चेतन की उत्पत्ति नहीं होती तो भी भूतों से भिन्न आत्मा के अस्तित्व में क्या प्रमाण है?

महावीर- ज्ञानी मनुष्यों के लिए तो आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वे उसे हस्तरेखा के समान साक्षात् देखते हैं। हां, इन चर्म-नेत्रों से वह अवश्य दिखाई नहीं देती। उनके लिए चर्म-चक्षु वाले पुरुष के लिए तो, आत्मा गूढातिगूढ और सूक्ष्माति-सूक्ष्म पदार्थ है जिसे वे अनुमान से जान सकते हैं।

मनुष्य, पशु पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, लता आदि जीवधारियों की प्रवृत्तियों को देखो।

सब अपने अनुकूल वेदनीय की ओर प्रवृत्त और प्रतिकूल वेदनीय से निवृत्त होते हैं । कीट-पतंग तक भी आग, पानी आदि अनिष्टकारी तत्वों की गंध पाते ही उससे बचने की चेष्टा करते हैं। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि इन कीट-पतंगादि में कोई अदृश्य शक्ति है जिससे वे अपने भले बुरे का विचार करते हैं। जिससे वे अपना भला बुरा विचारते हैं वह शक्ति शरीर का धर्म नहीं हो सकती। अवश्य ही इस नियामक शक्ति का उद्गम स्थान शरीर से भिन्न है। उस शक्ति का नाम ही आत्मा है। मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, मैंने खाया, मैंने अमुक कार्य किया इत्यादि वाक्यों में 'मैं' शब्द से जो अपना सूचन करता है वह वास्तव में शरीर नहीं, पर शरीराश्रित आत्मा है। मृत शरीर में इस प्रकार की कोई भी चेष्टा नहीं होती। यदि वह शरीर धर्म हो तो शरीर के रहते उसका लोप नहीं होना चाहिये। इससे सिद्ध होता है कि शरीर चेष्टाओं का कर्ता शरीर नहीं, किन्तु तद्गत आत्मा है।

वायुभूति- शरीरगत ज्ञानमय प्रवृत्तियों की अन्यथानुपपत्ति ही शरीरातिरिक्त आत्म तत्त्व की साधक है, अथवा और कोई भी प्रमाण है?

महावीर- अहो वायुभूति, इस संसार की जिस विचित्रता को तुम देख रहे हो वह किस का कार्य हो सकती है ? सुखी-दुःखी, सधन-निर्धन, स्वामी-सेवक, भला-बुरा ये सब विभिन्नताएं किसका परिणाम हो सकती हैं?

वायुभूति- इन विभिन्नताओं का कारण स्वभाव ही हो सकता है।

महावीर- किसका स्वभाव?

वायुभूति- पदार्थों का।

महावीर- यदि तुम्हारी मान्यतानुसार संसार में भूतों के अतिरिक्त कोई पदार्थ ही नहीं है तब तो यह जगत् की विचित्रता किसी भी प्रकार संगत नहीं हो सकती, क्योंकि भूत-जड़ पदार्थ है। इन जड़ों में ऐसी कौनसी नियामक शक्ति है जो जगत् में विचित्रता ला देती है? भले ही

आग में जलने-जलाने का स्वभाव हो, पर वह स्वयं नहीं जल सकते। इसी प्रकार भूले ही भूतों में सब कुछ करने की शक्ति हो पर वे स्वयं कुछ नहीं कर सकते। इनका कोई नियोजक चेतन होगा तभी यह संसार की विचित्रता का कारण हो सकेंगे। अतएव भूतों से विलक्षण चेतन मानना आवश्यक है। आत्मा का अस्तित्व मान लेने पर भी संसार की विचित्रता सिद्ध नहीं हो सकती जब तक कि चेतन और जड़ के बीच में कोई विशिष्ट संबंध न माना जाय। क्यों कि जड़ से निर्लेप रहता हुआ चेतन जड़ पदार्थ का कोई नियमन अथवा उपयोग नहीं कर सकता। मिट्टी का स्पर्श न करने वाला कुमार मिट्टी के वर्तन नहीं बना सकता।

वायुभूति- तब क्या कुमार के समान चेतन भी जड़ पदार्थों से इस जगत की रचना करता है। महावीर- तुमने मेरा अभिप्राय नहीं समझा (कुमार के समान कोई भी चेतन शक्ति इस जगत की रचना नहीं करती।) मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि इस जगत में चेतन और जड़ ये दो शक्तियां काम कर रही हैं। इन दो शक्तियों के बीच में वह संबंध है जो विजातीय दो पदार्थों के बीच में हो सकता है। चेतन - जिसे हम आत्मा कहते हैं, और जड़- जिसे हम कर्म कहते हैं। अनादि काल से दूध और घी के समान एक दूसरे से मिले हुए हैं। दूध को हम देखते हैं पर घृत का अनुमान मात्र कर सकते हैं। इसी प्रकार चेष्टायुक्त शरीर को देखते हैं और आत्मा का अनुमान कर सकते हैं। चेतन से लिप्त शुभ कर्मों से संयुक्त होता है वह जगत में अच्छी स्थिति पाता है और जो अशुभ कर्मों से संबद्ध होता है वह बुरी स्थिति को पाता है। इस प्रकार संसार की विचित्रता का कारण संसारी जीव और उनके शुभ-अशुभ कर्म हैं। केवल भूतों का स्वभाव नहीं। भगवान् महावीर के उक्त समाधान से प्रसन्न होकर वायुभूति ने उनको गुरु माना और अपने शिष्य-परिवार के साथ श्रमण धर्म की दीक्षा लेकर भगवान् के शिष्य हो गये।

अब भगवान् महावीर ने वायुभूति के साथ आये हुए आर्य व्यक्त को सम्बोधित करते हुए कहा- अहो आर्यव्यक्त, क्या तुम्हें ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य पदार्थों की वास्तविकता के विषय में शंका है?

आर्यव्यक्त- हां भगवन्, वेद में 'स्वप्नोपमं वै सकलमित्येष ब्रह्मविधिरंजसा विज्ञेयः' । इत्यादि वचनों में सब कुछ स्वप्न तुल्य बतलाया है। केवल ब्रह्म-आत्मा को ही सत् कहा है। वेद में भी पृथिवी, देवता, आपो देवता इत्यादि वाक्यों से पृथव्यादि भूतों की सत्ता भी

प्रतिपादित की गई है। ऐसी दशा में यह निश्चय करना अति कठिन है कि जगत को सत् माना जाय या असत्।

महावीर- आर्यव्यक्त, 'स्वप्नोपमं वै' इत्यादि वेद वाक्य का तुमने यथार्थ अर्थ नहीं समझा। यह वेद-पद कोई विधि वाक्य नहीं है। जैसा कि तुम समझ रहे हो। सब स्वप्न तुल्य होने का अर्थ यह नहीं कि ब्रह्म के अतिरिक्त कोई सत् पदार्थ ही नहीं। उक्त वेद वाक्य उपदेश वाक्य है। और वह अध्यात्म का उपदेश करता हुआ सूचित करता है कि धन, यौवन, पुत्र-कलत्रादि पदार्थ जिन पर मुग्ध होकर यह संसारी जीव अपने हित-मार्ग से भ्रष्ट हो रहा है, सांसारिक सुखों के प्रलोभनों में फंस कर आत्महित में प्रमाद कर रहा है वे पदार्थ वस्तुतः नाश शील हैं। क्या साधारण मनुष्य और क्या चक्रवर्ती और देवेन्द्र आदि सभी प्राणी आयुष्य की सांकलों में बंधे हुए हैं। जब वे सांकलें टूटेंगी, जब आयुष्य की डोरी पूरी होगी तब किराये के घर के समान इस देह को छोड़कर वे अपने-अपने कर्मानुसार शरीरान्तरों को धारण करेंगे। और इस हालत में यहां के सम्बन्ध और सम्बन्धी केवल नाम शेष हो जाएंगे। अतः आत्मार्थी जन का कर्तव्य है कि वह इन सांसारिक क्षणिक संबंधों और क्षणिक सुखों में न फंसकर आत्महित की चिन्ता करे।

तदन्तर भगवान् ने विस्तार पूर्वक जड़ और चेतन का स्वरूप प्रतिपादन किया जिससे आर्यव्यक्त की सब शंकाएं दूर हो गईं और उन्होंने अपने शिष्य-परिवार के साथ निर्ग्रन्थ-दीक्षा ग्रहण कर ली।

तत्पश्चात् भगवान् ने सुधर्मा को सम्बोधित करते हुए कहा- अहो सुधर्मन्, क्या तुम यह मानते हो कि सब प्राणी मर कर पुनः अपनी उसी ही योनि में उत्पन्न होते हैं?

सुधर्मा- हां भगवन्, वेद-वाक्य मेरे इन विचारों के समर्थक हैं। क्यों कि उनमें कहा है कि - ' पुरुषो वै पुरुषत्वमश्नुते पशवः पशुत्वम् ' अर्थात् पुरुष पुरुष पने को प्राप्त होता है और पशु पशुत्व को प्राप्त होता है।

महावीर- इसके विरोधी वाक्य भी मिलते हैं। क्या यह तुमको ज्ञात नहीं है?

सुधर्मा- हां भगवन्, 'शृगालो वै एष जायते यह सपुरीषो दह्यते ।' इस वाक्य से मनुष्य का भवान्तर में शृगाल होना भी सिद्ध होता है। इन परस्पर विरोधी वाक्यों से यद्यपि इस विषय में कुछ निश्चय नहीं होता। तथापि जहां तक मैं समझ सका हूं भवान्तर में प्राणी मात्र का सादृश्य-प्रतिपादक वेद-वाक्य ही युक्ति संगत प्रतीत होता है। क्योंकि यह एक अटल

नियम है कि कार्य हमेशा कारणानुरूप ही होता है। गेहूं से गेहूं की ही उत्पत्ति होती है, चने की नहीं। इसी प्रकार मनुष्यादि प्राणी भी मर कर पुनः मनुष्य आदि ही होने चाहिये।

महावीर- सुधर्मा, तुमने जो कार्य-कारण की बात कही, सो तो ठीक है। हम भी यह कहते हैं कि कारण के अनुरूप कार्य होता है इसलिए गेहूं से गेहूं और चने से चने की उत्पत्ति होती है। पर इस कार्य कारण के नियम से ऐहिक सादृश्य सिद्ध हो सकता है, जन्मान्तर का नहीं। गेहूं के दाने से नये गेहूं की उत्पत्ति होती है, यह बात सत्य है। परन्तु इसका यह अर्थ कभी नहीं हो सकता कि उसी कारण रूप गेहूं के जीव ने उससे उत्पन्न होने वाले गेहूं के दानों में जन्म लिया है। कारण और कार्य-रूप गेहूं के दानों में केवल शारीरिक कार्य-कारण भाव होता है, आत्मिक नहीं। इसी प्रकार मनुष्य तथा तिर्यच आदि में भी शारीरिक कार्य-कारण भाव होता है। मनुष्य के मनुष्यदेह-धारी सन्तान होती है और पशु के पशुदेह-धारी। यदि यह नियम न होता तो मनुष्य से पशु और पशु से मनुष्य शरीर भी उत्पन्न हो सकता। प्रत्येक जन्तु का जीव भिन्न और शरीर भिन्न होता है। पूर्व शरीर उत्तर शरीर का कारण हो सकता है, परन्तु उत्तर भव का नहीं। भव प्राप्ति का कारण जीवों के शुभ-अशुभ कर्म होते हैं। जो जीव जिस प्रकार के शुभ-अशुभ कर्मों से अपनी आत्मा को बांधता है वह उसी प्रकार की भली-बुरी गति में जाकर उत्पन्न होता है। इसमें उसका पूर्व भव वाला शरीर कुछ कार्य नहीं कर सकता। इस भव का मनुष्य शारीरिक, मानसिक और वाचिक अशुभ प्रवृत्तियों से अशुभ कर्म बांधकर नारकीय और तिर्यच को हो सकता है तथा शुभ प्रवृत्तियों से मनुष्य और देव भी हो सकता है। इसी प्रकार इस भव का पशु अशुभ कर्मों से पुनः तिर्यच और नारकी हो सकता है तथा वही तिर्यच शुभ कर्मों के प्रताप से मनुष्य और देव तक हो सकता है। इससे तुम समझ सकते हो कि प्राणियों का पुनर्जन्म उनके कर्मों पर आधारित है, शरीर पर नहीं।

भ० महावीर के इस स्पष्टीकरण से सुधर्मा का संदेह दूर हो गया और वे महावीर को गुरु मानकर अपने शिष्य-परिवार के साथ जिन-दीक्षा लेकर उनके शिष्य हो गये।

सुधर्मा के बाद मण्डित को संबोधन करते हुए महावीर ने कहा- अहो आर्य-मण्डित क्या तुम्हें आत्मा के बन्ध और मोक्ष के विषय में शंका है?

मण्डित- हां भगवन् मेरी ऐसी मान्यता है कि आत्मा एक स्वच्छ स्फटिक मणिसा पदार्थ है। इसका कर्मों से बन्ध-मोक्ष तथा नये-नये रूपों से संसार में भटकना बुद्धि-ग्राह्य नहीं हो सकता। शास्त्र में भी आत्मा को त्रिगुणातीत, अबद्ध और विभु बताया है। श्रुति में कहा है- 'स एष विगुणो विभुर्न बध्यते संसरति वा न मुच्यते मोचयति वा, न वा एष बाह्यमाभ्यन्तर

वा वेद।' जो विगुण (सत्त्व-रज-तमोगुणातीत), बाह्य (शारीरिक) तथा आभ्यन्तर (मानसिक) सुख-दुःखो के प्रभाव से परे है वह किस कारण से कर्मबद्ध होगा ? और जिसका बन्धन ही नहीं, उसके छूटने की तो बात ही कहां? इस प्रकार जो अबद्ध होगा वह संसार-परि-भ्रमण भी किस कारण करेगा?

महावीर- उक्त श्रुति वाक्य में जो आत्मा का स्वरूप- वर्णन है वह केवल कर्म-मुक्त सिद्ध आत्माओं पर ही लागू होता है। संसारी आत्माओं पर नहीं।

मण्डित- सिद्ध और संसारी आत्मा में क्या भिन्नता है?

महावीर- यों तो आत्मस्वरूप से सभी आत्माएं एक सी हैं। परन्तु उपाधि-भेद से उनमें भिन्नता मानी गई है। जो आत्माएं तप, ध्यान और योगानुष्ठान से सम्पूर्ण कर्मों से मुक्त होकर आत्म-स्वरूप को पा लेती हैं उनको हम सिद्ध कहते हैं और जो कर्मयुक्त आत्माएं हैं, शारीरिक, मानसिक और वाचिक प्रवृत्तियों द्वारा भले-बुरे कर्म कर नाना गतियों में भ्रमण करती हैं वे संसारी आत्माएं हैं। उक्त वेद-वाक्य में जो विमु आत्मा का निरूपण है वह कर्ममुक्त सिद्धात्माओं पर ही लागू होता है। क्यों कि उक्त सभी विशेषताएं उन्हीं में विद्यमान होती है, संसारी जीवों में नहीं।

मण्डित- सिद्ध और संसारी इन दो आत्माओं की कल्पना करने के बदले यदि सभी आत्माओं को कर्म-मुक्त सिद्ध-स्वरूप मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है?

महावीर- संसारी आत्माओं को कर्म-रहित मान लेने पर जीवों में जो कर्म जन्य सुख-दुःख के अनुभव का व्यवहार होता है वह निराधार सिद्ध होगा । मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं इत्यादि व्यवहार का आधार जीवों का कर्म फल है। यदि हम सभी जीवों को कर्म-रहित मान लेंगे तो इस सुख दुःख का कारण क्या माना जायगा?

मण्डित- आत्मा को बुद्धि और शरीर से अपना भिन्न-पना ज्ञात न होने से बुद्धि में होने वाले सुख-दुःख जन्य प्रभावों को वह अपने में मान लेता है और मैं सुखी, मैं दुःखी इत्यादि वचनों से उन्हें प्रकट करता है। पर परमार्थ-दृष्टि से यह असर आत्मा में नहीं, अन्तःकरण में होता है।

महावीर- तब आत्मा का शरीर और अन्तःकरण के साथ ऐसा कोई गाढ़ संबंध होना चाहिए जिससे वह उनमें अपनापन मान लेने की भूल करता हो।

मण्डित- हां, ऐसा ही है। दूध में रहा हुआ घी दूध से भिन्न होते हुए भी भिन्न नहीं दिखता। ऐसे ही आत्मा शरीर से भिन्न होते हुए भी घनिष्ठ संबंध के कारण वह अपने को भिन्न नहीं समझती। और इसी भेद ज्ञान के वश अपने में बुद्धि द्वारा पड़ते हुए शारीरिक सुख-दुःखों के प्रतिबिम्बों को वह अपना सुख-दुःख मान कर अपने को सुखी-दुःखी माना करता है। स्फटिक स्वयं उज्ज्वल होता है। फिर भी सन्निधि के कारण लाल, पीला, काला आदि अनेक रूपों में दीखता है। यही दशा आत्मा की भी है। स्वयं स्वच्छ स्फटिक समान निर्मल होते हुए भी वह उपाधि वश अनेक रूपों में दिखती है।

महावीर- आत्मा का शरीर अथवा अन्तःकरण के साथ जो घनिष्ठ संबंध है उसी को हम बन्ध कहते हैं। आत्मा स्व-स्वरूप से उज्ज्वल है इसमें कोई विरोध नहीं है। पर जब तक वह सकर्मक है, शरीर-धारी है तब तक कर्ममल से मलिन है। इस मलिन प्रकृति के कारण वह नये-नये कर्म बान्धती रहती है और इन कर्मों के अनुसार ऊंच-नीच गतियों में भटकती रहती है। यही इसका संसार भ्रमण है। सुख दुःख की उत्पत्ति अन्तःकरण में होती है और अन्तःकरण ही उसका अनुभव करता है। यह मान्यता भी तर्कसंगत नहीं है। ज्ञान चेतन का धर्म है, जड़ का नहीं। अन्तःकरण जड़ पदार्थ है। उसे सुख दुःख का ज्ञान कभी नहीं हो सकता। अनुभव का होना तो निर्विवाद है। अतः सुख दुःख का अनुभव-कर्ता और वचन द्वारा व्यक्त-कर्ता तत्त्व अन्तःकरण से भिन्न है। इसी तत्त्व को हम आत्मा कहते हैं। जब तक आत्मा को संसार से मुक्त होने का साधन प्राप्त नहीं होता तब तक वह चतुर्गति रूप संसार में भटकता रहता है। और अपने कर्मों का फल भोगता रहता है। जिस समय इसे मोक्ष-मार्ग की प्राप्ति हो जाती है तब वह मुक्ति के लिए उद्यम करने लगता है और कर्म-बन्धनों को दूर करके मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। हमारा यह कथन वेद-वाक्य भी अनुसरण करता है।-

‘न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा असन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः।’

अर्थात् जब तक आत्मा शरीर-धारी है तब तक इसके सुख दुःखों का अंत नहीं है और शरीर रहित होने पर सुख दुःख इसका स्पर्श नहीं करते।

भगवान् के मुखारविन्द से बन्ध-मोक्ष की यह व्याख्या सुनकर मण्डित का अज्ञानान्धकार नष्ट हो गया और वह अपने शिष्य-परिवार के साथ उनके चरणों में दीक्षित हो गया।

अब भगवान् ने मौर्य-पुत्र की शंका को प्रकट करते हुए कहा-

अहो मौर्यपुत्र क्या तुम्हें देवों के अस्तित्व में शंका है?

मौर्यपुत्र- हां भगवन्, देवों का कोई स्वतन्त्र संसार है, अथवा विशिष्ट स्थिति- सम्पन्न मनुष्य ही देव कहलाते हैं। इस विषय में मैं संदेहशील हूं। क्यों कि इस विषय में वेद-वाक्य एकरूप नहीं हैं। 'को जानाति मायोपमान् गीर्वाणनिन्द्रयमवरुणकुबेरादीन्' इत्यादि

श्रुति इन्द्र, यम वरुण कुबेरादि देवों को स्वप्नोपम (स्वप्नतुल्य-असत्) बताती है और 'स एष यज्ञायुधी यजमानोअजसा स्वर्गलोकं गच्छति ' यह श्रुति वाक्य यजमान को यज्ञ की सहायता से स्वर्ग की प्राप्ति बताता है। तथा-

अपाम सोमममृता अभूमागमन् ज्योतिरविदाम देवान् ।

किं नून मस्मान् कृणवदरातिः किमु घूर्तिरमृतं मर्त्यं च ॥

यह श्रुति वाक्य भी देवलोक का अस्तित्व सूचित करता है। इन परस्पर विरुद्ध वाक्यों से कुछ भी निश्चय नहीं होता।

महावीर- मौर्यपुत्र, "मायोपमान" इत्यादि श्रुति वाक्य का वास्तविक अर्थ तुम समझ नहीं पाये। इसलिये शंकाकुल हो रहे हो। वस्तुतः श्रुति देवों के अस्तित्व का निषेध नहीं करती, किन्तु उनकी अनित्यता सूचित करती है। देव जो कल्पस्थायी दीर्घायुषी होते हैं वे भी अन्त में स्वप्न के समान नाम शेष हो जाते हैं तो मनुष्यादि अल्प जीवियों का तो कहना ही क्या है। इस भाव को प्रतिपादित करने के लिए पूर्वोक्त श्रुति वाक्य प्रयोग हुआ है न कि देवत्व का अभाव बताने के लिये।

मौर्यपुत्र- देव लोक की एक प्रथक कल्पना करने के बदले यही क्यों न मान लिया जाय कि जो विशिष्ट स्थिति-सम्पन्न मनुष्य हैं वे ही देव हैं?

महावीर- ऐसा नहीं माना जा सकता। मनुष्य गति वह गति है जहां जन्म पाये हुए प्राणी सुख-दुःख मिश्रित जीवन व्यतीत करते हैं। मनुष्य लोक में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं जो दुःख से अलिप्त केवल सुखमय जीवन व्यतीत करता हो। सभी मनुष्य शारीरिक और मानसिक पीडाओं से पीडित रहते हैं। मनुष्यों को ऐकान्तिक सुख मिलना संभव नहीं है। अतः केवल पुण्य का फल भोगने के कोई भिन्न स्थान अवश्य होना चाहिए जहां पर उत्पन्न होने वाले जीव दीर्घ काल तक केवल सुख ही सुख भोगते हों। एकान्त पुण्य का फल भोगने वाले जीवों को ही देव कहते हैं और देव लोक में उत्पन्न होने वाले जीव हजारों लाखों वर्षों से भी अधिक समय तक पुण्य कर्मों का फल भोगते रहते हैं। उनका शरीर भी मानव देह की अपेक्षा अति सूक्ष्म और सप्त-धातु रहित होता है।

भगवान् महावीर के उक्त स्पष्टीकरण से मौर्यपुत्र की शंका दूर हो गई और उन्होंने अपने शिष्य परिवार के साथ जिन-दीक्षा धारण कर ली।

अब भगवान् अकम्पित का मनोगत सन्देह व्यक्त करते हुए बोले- अहो अकम्पित, तुम्हारे मन में नरक के अस्तित्व के विषय में संदेह है?

अकम्पित- हां भगवन्, लोग नरक नामक एक अगम्य स्थान की प्ररूपणा करते हैं। परन्तु मेरी समझ में तो यह कोरी कल्पना ही है, प्रमाणिक वस्तु नहीं। मेरे विचार से तो मनुष्य जीवन की निकृष्टतम दशा ही नरक है।

महावीर- मनुष्य की निकृष्ट-दशा को नरक नहीं माना जा सकता। मनुष्य कितना भी दुःखी क्यों न हो, फिर भी उसमें कुछ न कुछ सुख की मात्रा रहती ही है। जो जीव जीवन पर्यन्त हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार और परिग्रहादि में लीन रहते हैं, हजारों के प्राण हरण करते हैं, मिथ्या-भाषण और परधन अपहरण करते हैं, व्यभिचार और दुराचार में संलग्न रहते हैं तथा सारे संसार का धन-संग्रह कर उन्हीं प्रवृत्तियों के साथ अपनी जीवन-यात्रा समाप्त करते हैं उनके लिए निकृष्ट मनुष्य गति अथवा कीट-पतंगादि के जन्म ही पर्याप्त होंगे? ऐसे क्रूर पापियों का छुटकारा मनुष्य अथवा तिर्यच गति के दुःखों से नहीं हो सकता। उनके कर्म फल भोगने के लिए कोई ऐसा स्थान चाहिए जहां सुख का अंश भी न हो। और जहां दीर्घकाल तक के उन कर्मों का भयानक दुःखदायी फल भोग सकें। इस प्रकार का केवल दुःख स्वरूप स्थान नरक कहलाता है।

अकम्पित- किन्तु “न ह वै प्रेत्य नरके नारकः सन्ति।” इस प्रकार के वचनों से तो यही सिद्ध होता है कि मर कर नरक में नारकी नहीं होते फिर नरक की कल्पना क्यों की जाय?

महावीर- वेदों में नरक का भी तो प्रतिपादन किया गया है। देखो- “नारको वै एष जायते यः शूद्रान्नमश्रनाति ”। इस वेद वाक्य में शूद्र का अन्न खाने वाले को नारक होना बतलाया गया है।

अकम्पित- परस्पर विरुद्ध उक्त वाक्यों का समन्वय किस प्रकार हो सकता है?

महावीर- उक्त वाक्यों में कोई वास्तविक विरोध नहीं है। पहला शास्त्र वाक्य नरक गति से निकलने वाले जीवों की अपेक्षा से कहा गया है क्योंकि नारक मर कर नरक में जन्म नहीं लेता। इसी भाव को लक्ष्य में रखकर प्रथम वाक्य से नरक में नारकों की उत्पत्ति का निषेध किया गया है। अन्य जीवों की उत्पत्ति का नहीं।

भगवान् के इस तर्क-पूर्ण, सुसंगत विवेचन से अकम्पित का नरक-विषयक संदेह दूर हो गया और उन्होंने भी अपनी शिष्य-मण्डली के साथ श्रमण-दीक्षा अंगीकार कर ली।

अब भगवान् ने अचलभ्राता को लक्ष्य करके कहा-

अहो अचलभ्रात, क्या तुम्हें पाप-पुण्य के अस्तित्व में शंका है?

अचलभ्राता- हां भगवन् एक ओर तो श्रुति में “पुरुष एवेदं ग्निं सर्व यद् भूतं यच्च भाव्यम् । उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति” इत्यादि वाक्य से पुरुषाद्वैत का प्रतिपादन किया गया है और दूसरी ओर “पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति।” आ वेद-वाक्य पुण्य-पाप का अस्तित्व सिद्ध करते हैं। अतः यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि पुण्य-पाप कोई पदार्थ हैं भी या नहीं?

महावीर- “पुरुष एवेदं” इत्यादि वेद-वाक्य अर्थवाद मात्र हैं। इनसे पुरुष का महत्व मात्र स्थापित होता है न कि अन्य तथ्यों का अभाव। पुण्यो वै पुण्येन इत्यादि वाक्य कोई औपचारिक वचन नहीं, किन्तु सैद्धान्तिक वचन हैं। पुनर्जन्म और कर्म तत्व का अस्तित्व इसमें गर्भित है जो तर्क-संगत और व्यवहारिक वस्तु है।

अग्निभूति को लक्ष्य कर जिस प्रकार पुरुषाद्वैतवाद की निःसारता को सिद्ध किया था उसी प्रकार भगवान् ने अचलभ्राता के सम्मुख भी पुरुषाद्वैतवाद का निराकरण करके पुण्य-पाप का अस्तित्व सिद्ध कर दिया। इससे अचलभ्राता का संदेह दूर हो गया और उन्होंने भी अपने शिष्य-परिवार के साथ भगवान् महावीर के पास प्रवज्या ग्रहण कर ली।

पण्डित मेतार्य को पुनर्जन्म के विषय में शंका थी। “विज्ञानघन” इत्यादि श्रुति वाक्यों से उसके मन में परलोक के अस्तित्व का संदेह था। वह सोचता था कि यदि भूत परिणाम ही चेतन है तो उनके विनाश के साथ ही उसका विनाश भी निश्चित है। इस प्रकार के विचारों से मेतार्य का चित्त भौतिकवाद की ओर आकृष्ट हो रहा था।

भ० महावीर ने वेद-वाक्य का वास्तविक अर्थ समझाकर भौतिकवाद का खण्डन किया और भूतादिरिक्त आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करके पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

इस अमृत-वाणी से मेतार्य का संशय दूर हो गया और उसने भी अपने शिष्य-परिवार के साथ जिन-दीक्षा ग्रहण कर ली।

अन्त में भ० महावीर ने प्रभास का मनोगत संशय प्रकट करते हुए कहा-

क्यों प्रभास तुम्हें मोक्ष के विषय में संदेह है?

प्रभास- हां भगवन्, मोक्ष के विषय में मुझे संदेह है । मोक्ष का अर्थ यदि कर्मों से मुक्त होना है तो वह असम्भव है। क्यों कि जीव और कर्मों का संबंध अनादि है। अतः उसे अनन्त (अन्त रहित) भी होना चाहिये। जो अनादि होता है वह अन्त रहित भी होता है। जैसे आत्मा। वेद में भी मोक्ष का कोई विधान नहीं है । वहां तो “जरामर्य वा यदग्निहोत्रम्।” इत्यादि वचनों से जीवन पर्यन्त के लिए अग्नि होत्र का ही विधान किया गया है। यदि मोक्ष कोई वास्तविक पदार्थ होता तो उसकी सिद्धि के लिए भी अवश्य कोई अनुष्ठान बताया गया होता।

महावीर- अनादि वस्तु अनन्त ही होना चाहिए। ऐसा कोई ऐकान्तिक नियम नहीं है। देखो- स्वर्णादि खनिज पदार्थ अनादि काल से मृत्तिकादि से सम्बद्ध होते हुए भी अग्नि आदि के संयोग से निर्मल हो जाते हैं। इसी प्रकार जीव भी अनादि काल से कर्म-मल से सम्बद्ध होते हुए भी ज्ञान-ध्यानादि की सहायता से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। श्रुति में मोक्ष का स्पष्ट उल्लेख भी मिलता है- “द्वे ब्रह्णी वेदितव्ये परमपरं च, तत्र परं सत्यं ज्ञानं अनन्तरं ब्रह्म” इत्यादि वाक्यों द्वारा ब्रह्म अथवा अनन्त ब्रह्म के नाम से जिस तत्त्व का निर्देश किया गया है वही मुक्ति, निर्वाण या मोक्ष है।

भ० महावीर के इस दिव्य विवेचन से प्रभास की मोक्ष-विषयक शंका दूर हो गई और वह भी अपनी शिष्य-मण्डली के साथ दीक्षा लेकर भगवान् के साधु-संघ में सम्मिलित हो गया।

इस प्रकार मध्यमा के समवसरण में एक ही दिन में 4411 ब्राह्मणों ने भगवान् के दिव्य प्रवचनों से प्रभावित होकर नत मस्तक हो श्रमण-धर्म स्वीकार किया।

यतः गौतम का शिष्य परिवार 500, अग्निभूति का 500, वायुभूति का 500, व्यक्त का 500, सुधर्मा का 500, मण्डित का 350, मौर्य पुत्र का 350, अकम्पित का 300, अचलभ्राता का 300, मेतार्य का 300, शिष्य परिवार था अतः इनका योग 4400 होता है। इस संख्या में इन्द्रभूति आदि 11 विद्वानों की संख्या को मिला देने पर 4411 प्रव्रजित होने वालों की संख्या हो जाती है।

यहां यह ज्ञतव्य है कि श्वे० मान्यता के अनुसार भ० महावीर ने वैशाख शुक्ला दशमी के दिन मध्यमा नगरी के उद्यान में इन्द्रभूति आदि की शंकाओं का समाधान किया और उनके

दीक्षित होने पर उनकी प्रमुख 11 विद्वानों को अपने-अपने शिष्य परिवार का नायक बनाकर गणधर के पद से सुशोभित किया।

किन्तु दि० मान्यता के अनुसार केवल ज्ञान उत्पन्न होने के 66 दिन बाद श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के दिन प्रातः काल के समय इन्द्रभूति के दीक्षित होने के पश्चात् भगवान् की दिव्य देशना प्रकट हुई। जैसा कि तिलोपण्णतीकार कहते हैं -

वासस्स पढम-मासे पढमे पक्खम्हि सावणे बहुले ।

पाडिवद-पुव्व-दिवसे तित्थुप्पती दु अभिजिम्हि ॥ (तिलो० 1, 68)

अर्थात् वर्ष के प्रथम मास श्रावण कृष्ण पक्ष के प्रतिपदा के दिन प्रातःकाल अभिजित नक्षत्र के समय धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई।

स्थान के विषय में दि० मान्यता है कि भ० महावीर ने राजगृह नगर के समीप विपुलाचल पर सर्व प्रथम धर्मदेशना दी यथा-

पंच-सेल-पुरे रम्मे विउले पव्वदुत्तमे ।

णाणा-दुमे-समाइण्णे देव-दाणव-वंदिदे ॥

महवीरेणत्थो कहिओ भविय-लोयस्स । (धवला, पु० 1, पृ० 61)

पंचशैलपुर में अर्थात् पांच पर्वतों से शोभायमान राजगृह नगर के पास रमणीक नाना प्रकार के वृक्षों से व्याप्त, देव-दानवों से वन्दित और सर्व पर्वतों में उत्तम ऐसे विपुलाचल नाम के पर्वत के ऊपर भ० महावीर भव्य जीवों को धर्म का उपदेश दिया।

इन उपर्युक्त दोनों उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि यतः श्रावण कृष्ण प्रतिपदा से चतुर्मास का प्रारम्भ हो चुका था। अतः भ० महावीर चौमासे भर यहीं राजगृह नगरी के समीपवर्ती विपुलाचल पर्वत पर धर्मदेशना करते रहे।

भगवान् महावीर की धर्मदेशना

जब इन्द्रभूति गौतम आदि के अपने-अपने शिष्य परिवारों के साथ भ० महावीर के पास आकर दीक्षित होने के समाचार नगर निवासियों को मिले तो वे लोग अति हर्षित होकर भगवान् का उपदेश सुनने के लिए आये। इन्द्रभूति आदि के मन में जो शंकाएं थीं उनका निवारण तो भ० महावीर ने कर ही दिया था। अब उन्होंने उन्हें तथा उपस्थित जन-समुदाय को लक्ष्य करते हुए अपनी देशना प्रारम्भ की। यतः गौतमादि उक्त सभी विद्वान् यज्ञों में की जाने वाली हिंसा के समर्थक रहे हैं और सर्व साधारण जन भी प्रचुर परिमाण में जीव-हिंसा में निरत थे।

अतः भगवान् ने गौतम को लक्ष्य करके कहा-

सव्वे जीवा वि इच्छति, जीविउं न मरिज्जिउं ।

तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥

हे गौतम, सभी जीव जीने की इच्छा करते हैं और कोई भी जीव मरना नहीं चाहता है। इसलिए निर्ग्रन्थ साधु घोर प्राणीवध का परिहार करते हैं। भगवान् ने कहा- जैसे तुम्हें अपने प्राण प्यारे हैं उसी प्रकार सब जीवों को भी अपने-अपने प्राण प्यारे हैं। इसलिए उन्हें भी अपने समान समझना चाहिए और किसी भी निमित्त से किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करना चाहिए। “जो लोग यह समझते हैं कि-

“औषध्यः पशवो वृक्षा स्तिर्चा पक्षिणस्तथा ।

यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छितं पुनः ॥

अर्थात् यज्ञ के लिए मारे गये पशु-पक्षी और औषधादि वाले वृक्ष मरण को प्राप्त होकर उच्च गति को प्राप्त होते हैं। इसलिए यज्ञ में की गई हिंसा पाप का कारण नहीं है। यह उनकी बड़ी भूल है।” क्यों कि यदि-

यूमं छित्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्द्रमम् ।

यथेवं गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते ? ॥

यज्ञ में पशुओं को मारकर और खून की नदियां बहाकर जीव स्वर्ग में जाता है तो फिर नरक में किन कामों के करने से जायगा? अंत-प्राणि-घात प्रत्येक दशा में महा पाप ही है। ज्ञानी मनुष्यों को हिंसा के इस महा पाप से बचना ही चाहिए।

हिंसा की सूक्ष्म व्याख्या करते हुए भगवान् ने कहा- आत्मा के भीतर रागादि भावों की उत्पत्ति होना भाव हिंसा है और तत्पश्चात् उन भावों से प्रेरित होकर दूसरे के प्राणों का घात करना द्रव्य हिंसा है। यदि किसी मनुष्य के हृदय में दूसरे को मारने के भाव उत्पन्न होते हैं पीछे वह जीव को मारे या न मारे, पर वह हिंसा के पाप का भागी हो ही जाता है। क्यों कि अपने भावों में कषाय आ जाने से अपने ज्ञान-दर्शन रूप चेतन प्राणों का घात तो उसी समय हो ही जाता है। अतः कषायी जीव पहले अपने भाव प्राणों का नाश करके अपने द्वारा अपना घात तो कर ही लेता है। रही दूसरे जीवों के द्रव्य प्राणों के घात की बात, सो वह तो उसके साता-असाता या आयु कर्म के उदयाधीन है। इसलिए मनुष्य को भाव-हिंसा और द्रव्य-हिंसा इन दोनों से ही बचना चाहिए।

अहिंसा ही परम धर्म है। अहिंसा ही परम ब्रह्म है। हिंसा ही सुख शांति देने वाली है। अहिंसा ही संसार का त्राण करने वाली है। यही मानव का सच्चा धर्म है। मानव और दानव में केवल अहिंसा और हिंसा का ही अन्तर है। अब अहिंसा मानवीय वस्तु है तब हिंसा दानवीय है। जो सभी प्रकार के स्थूल-सूक्ष्म, त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा का त्याग करते हैं उन्हें ही धर्म का सच्चा साधक समझना चाहिए। सर्व प्रकार की हिंसा का त्याग वे ही महा मानव कर सकते हैं जिन्होंने घर-बार से नाता तोड़कर, शरीर से मोह छोड़कर और सर्व प्रकार के आरम्भ-परिग्रह को त्याग दिया है। किन्तु जो ऐसा करने में अपने को असमर्थ पाते हैं उन्हें स्थूल एवं त्रस जीवों की हिंसा का तो त्याग करना ही चाहिए।

हिंसा चार प्रकार की होती है- संकल्पी, उद्योगी, आरम्भी और विरोधी। बिना अपराध के जानबूझकर संकल्प से किसी जीव का घात करना संकल्पी हिंसा है। जैसे कसाई पशु-बध करता है या शिकारी जंगल में पशुओं का घात करते हैं। जीवन निर्वाह के लिए व्यापार खेती आदि करने में, कल-कारखाने चलाने में, तथा सेना में भर्ती होकर युद्ध आदि करने में जो हिंसा होती है वह उद्योगी हिंसा कहलाती है। सावधानी रखते हुए भी भोजन आदि के बनाने में जो हिंसा होती है वह आरम्भी हिंसा होती है। अपनी या दूसरों की रक्षा के लिए जो हिंसा करनी पड़ती है उसे विरोधी हिंसा कहते हैं।

संसार जीव दो प्रकार के होते हैं- त्रस और स्थावर। त्रस जीव चार प्रकार के होते हैं- जिन के स्पर्शन (शरीर) इन्द्रिय के साथ रसना इन्द्रिय भी पाई जाती है-ऐसे लट केंचुआ आदि दो इन्द्रिय जीव हैं।

जिन के उक्त दो इन्द्रियों के साथ घ्राण इन्द्रिय भी पाई जाती है ऐसे चींटी, चींटा, खटमल आदि तीन इन्द्रिय जीव हैं।

जिनके तीन इन्द्रियों के साथ नेत्र इन्द्रिय भी होती है ऐसे मक्खी, मच्छर, पतंगे आदि चार इन्द्रिय जीव हैं।

और जिनके उक्त चारों इन्द्रियों के साथ कर्ण इन्द्रिय भी होती है ऐसे मनुष्य पशु-पक्षी, देव और नारकी जीव पंचेन्द्रिय कहलाते हैं।

ये चारों जाति के त्रस जीव हैं। जिनके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है ऐसे जीवों को एकेन्द्रिय जीव कहते हैं। एकेन्द्रिय जीव पांच प्रकार के होते हैं- पृथिवी, जल, वायु और वनस्पति। मिट्टी में कीड़े आदि त्रस जीव तो होते ही हैं किन्तु मिट्टी का ढेला स्वयं अनेक पृथिवी कायिक जीवों के शरीरों का पिण्ड है। इसी प्रकार जल-बिन्दु में भी अनेक त्रस जीवों के अतिरिक्त जल कायिक जीव होते हैं। इसी प्रकार अग्नि, वायु और वनस्पति में भी जीव जानना चाहिए।

गृहस्थ को मन वचन काय से त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का त्याग करना अत्यावश्यक है। शेष तीन प्रकार की हिंसाओं में से अपनी शक्ति और परिस्थिति के अनुसार जिसका जितना त्याग किया जा सके, करना चाहिए।

जो सर्व प्रकार की त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग करते हैं वे अहिंसा महाव्रत के धारी साधु कहलाते हैं।

जो त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा के त्यागी होते हैं वे अहिंसा अणुव्रत के धारक श्रावक कहलाते हैं।

हिंसा के समान मनुष्य को असत्य सम्भाषण का भी त्याग करना चाहिए और सदा हित मित प्रिय वचन बोलना चाहिए। जो असत्य भाषण का सर्वथा त्याग करते हैं वे सत्य महाव्रत के धारक साधु कहलाते हैं।

जो स्थूल असत्य भाषण का त्याग करते हैं और धर्म विरुद्ध एवं लोक विरुद्ध झूठ नहीं बोलते हैं वे सत्य अणुव्रत के धारक श्रावक हैं।

जो बिना दिये हुए त्रण और मृत्-कण को भी नहीं लेते वे अचौर्य महाव्रत के धारक हैं।

जो जल और मिट्टी के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार की वस्तु को बिना दिये हुए लेने का त्याग करते हैं वे अचौर्य अणुव्रत के धारक होते हैं।

जो स्त्री मात्र का यावज्जीवन के लिए त्याग कर ब्रह्मचर्य को धारण करते हैं वे ब्रह्मचर्य महाव्रत के धारक हैं। जो अपनी विवाहिता स्त्री के सिवाय अन्य सब स्त्रियों के सेवन का त्याग करते हैं वे ब्रह्मचर्य अणुव्रत के धारक हैं।

जो क्षेत्र-वास्तु, धन-धान्य आदि सभी प्रकार के बहिरंग और मिथ्यात्व कषायादि अन्तरंग परिग्रह का त्याग करते हैं वे अपरिग्रह महाव्रत के धारक हैं।

जो अपनी आवश्यकताओं के अनुसार सीमित परिग्रह रखते हैं और शेष परिग्रह के उपार्जनादि का त्याग करते हैं वे परिग्रह परिमाण अणुव्रत के धारक होते हैं।

संसार में मनुष्य भव का पाना अत्यन्त कठिन है। मनुष्य होकर के भी धर्म का सुनना और भी कठिन है। धर्म सुनकर के भी उस पर श्रद्धा करना और भी कठिन है। तथा श्रद्धा करके उसे धारण करना सबसे अधिक कठिन है। जो मनुष्य पांच महाव्रत रूप मुनि धर्म को अंगीकार करते हैं वे कर्मों का शीघ्र नाश कर संसार चक्र से छुटकारा पा लेते हैं और जो पांच अणुव्रत रूप श्रावक धर्म का पालन करते हैं वे भी कुछ भवों में कर्म चक्र से छुटकारा पा लेते हैं।

भगवान् की इस दिव्य देशना को सुनकर श्रोताओं के हृदय-पट खुल गये। अनेकों ने उसी समय साधु धर्म को स्वीकार किया और अनेकों ने अणुव्रत धारण कर श्रावक धर्म को ग्रहण किया। कितने ही जीवों ने भगवान् के वचनों पर श्रद्धा और प्रतीति करके सम्यक्त्व को धारण किया।

जिन्होंने मुनिव्रत अंगीकार किया उनमें इन्द्रभूति गौतम प्रधान हुए।

जिन स्त्रियों ने महाव्रत अंगीकार किया उन साध्वियों में चन्दना प्रधान हुई ।

इस प्रकार देशना के पश्चात् विपुलाचल पर्वत पर पूरे चार मास तक भगवान् की धर्मदेशना होती रही और प्रतिदिन उनके मुखारबिन्द से नवीन तत्त्व एवं धर्म के गूढ़ रहस्य प्रकट होते रहे जिन्हें संक्षेप में पांच विभागों में विभाजित किया जा सकता है -

1-अहिंसावाद या साम्यवाद, 2- अपरिग्रहवाद या समाजवाद, 3- कर्मवाद य ईश्वर कर्तृत्व परिहार, 4- अनेकान्तवाद या समन्वय और 5- आत्मत्व से परमात्मत्व की प्राप्ति।

अहिंसावाद

अहिंसा का कुछ दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है। अहिंसाव्रत के सिवाय दो सत्यादि चार व्रत और बतलाये गये हैं वे वस्तुतः अहिंसा व्रत के ही पोषण और संरक्षण के लिये हैं। इसका कारण यह है कि झूठ बोलने से जहां अपने भीतर कलुष भावों के उदय से भाव हिंसा या आत्म हिंसा होती है वहीं पर जिससे या जिसके लिये झूठ बोला जाता है उसके भी भावों को आघात पहुंचता है। यथार्थ से विपरीत बात कहने का नाम ही असत्य नहीं है, अपितु गर्हित, सावध और अप्रिय सत्य वचन बोलना भी असत्य के ही अन्तर्गत है। इसी प्रकार पैशुन्य वचन हास्यकारक, कर्कश, अयोग्य और वृथालाप रूप वचन भी असत्य के ही अन्तर्गत है, क्यों कि इन सब के बोलने से भी दूसरे के हृदय को आघात पहुंचता है और अपने भावों में राग-द्वेष और कालुष्य के जागृत होने से स्व-घात भी होता है।

अचौर्य व्रत भी अहिंसा की रक्षा के लिए ही है। व्यवहार में धनादि को मनुष्य का बाहरी प्राण माना जाता है। जो पुरुष दूसरे के धन को हरता है वह उसके प्राणों को ही हरता है। जिसका धन चुराया जाता है वह उसके निमित्त से अत्यन्त दुःखी होता है। ब्रह्मचर्य व्रत भी अहिंसा की रक्षा के लिए ही है। क्यों कि स्त्री सेवन में उग्र रागादि भावों की उत्पत्ति होने से जहां भाव हिंसा होती है वहां योनिगत सूक्ष्म जीवों की हिंसा से द्रव्य हिंसा भी प्रचुर परिमाण में होती है। ममत्व भाव रूप मूर्छा को परिग्रह कहते हैं। बाह्य धन-धान्यादि परिग्रह के ग्रहण करने में मूर्छा या ममता भाव बढ़ता है, तथा मिथ्यात्व और कषायादि अन्तरंग भाव तो स्पष्ट रूप से ही भाव हिंसा है। इसलिए भगवान् ने दोनों प्रकार के परिग्रह के ग्रहण करने को हिंसा कहा और उसके त्याग करने को अहिंसाव्रत बताया।

अहिंसा की और भी सूक्ष्म देशना करते हुए भगवान् ने बतलाया- जिस पुरुष के मन वचन और काय में क्रोधादि कषाय प्रकट होते हैं उसके शृद्धोपयोग रूप भाव प्राणों का घात पहले होता है क्योंकि कषायों के प्रादुर्भाव से भाव प्राणों का हनन होता है। यह प्रथम हिंसा है। पश्चात् यदि कषायों की तीव्रता से, दीर्घ श्वासोच्छ्वास से अथवा हस्तपादादिक से वह अपने अंग को कष्ट पहुंचाता है या आत्म घात कर लेता है तो उसके द्रव्य प्राणों का घात होता है। यह दूसरी हिंसा है। पुनः उसके कहे हुए मर्मभेदी कुवचनादि से या हास्यादि से किसी पुरुष के अन्तरंग में पीड़ा होती है और उसके भाव प्राणों का घात होता है तो यह तीसरी हिंसा है। और अंत में उसकी तीव्रता से विवक्षित पुरुष को जो शारीरिक पीड़ा पहुंचाई जाती है उसे पर-द्रव्य-प्राण-व्यपरोपण कहते हैं, यह चौथी हिंसा है। इस प्रकार कषाय के वश

होकर अपने और पर के भाव प्राण एवं द्रव्य प्राण का घात करना हिंसा है।

इस हिंसा के चार भेद होते हैं- स्वभावहिंसा, स्व-द्रव्यहिंसा, पर-भावहिंसा और पर-द्रव्यहिंसा । इस सब का सार यही है कि आत्मा में रागादि भावों का प्रकट नहीं होना ही अहिंसा है और रागादि भावों की उत्पत्ति होना ही हिंसा है।

यदि कोई पुरुष सावधानी पूर्वक जीव-रक्षा के भावों के साथ किसी कार्य को कर रहा है, या कहीं आ-जा रहा है उस समय उससे यदि किसी जीव को अकस्मात् कोई पीड़ा पहुंचे, या वह मर जाय तो वह स्थूल हिंसा के पाप का भागी नहीं होता है। क्यों कि उसके भाव न किसी जीव को मारने के हैं और न उसके परिणाम राग-द्वेषादि कषाय रूप ही हैं। फिर भी यदि किसी जीव की हिंसा हुई है यह बात उसे ज्ञात हो जाय तो तज्जनित हिंसा की शुद्धि के लिए उसे यथोचित प्रायश्चित्त या आत्मा लोचन करना आवश्यक है।

जो जीव प्रमत्त योग से परिणत है और कषायों के वशीभूत हो असावधानी पूर्वक गमनादि क्रिया करता है उस समय कोई जीव का घात हो, अथवा नहीं हो, परन्तु वह हिंसा के दोष का भागी अवश्य होता है। क्यों कि हिंसा के मारण भूत कषाय उसके विद्यमान है। जब तक मनुष्य बुद्धि पूर्वक हिंसा का त्याग न करे तब तक प्रमत्त योग का सद्भाव पाये जाने से हिंसा निरन्तर होती ही रहती है। इसका कारण यह है कि कषायों के सद्भाव से अपने ज्ञान दर्शन चारित्र्य रूप भाव प्राणों का घात उसके बराबर हो ही रहा है। जब तक जीव की हिंसा के त्याग-रूप विरति भाव जागृत नहीं होता, तब तक अविरति भाव के रहने से हिंसा का सद्भाव माना ही जायेगा । इसलिए साधु को सर्वथा ही अविरति भाव का त्याग आवश्यक है और श्रावक को अपनी पदवी या परिस्थिति के अनुरूप अविरति भाव का त्याग आवश्यक है। मनुष्य के सूक्ष्म भी हिंसा पर-वस्तु के निमित्त से नहीं होती है तो भी, परिणामों की विशुद्धि के लिए हिंसा के साधन भूत आयतनु या स्थानों से निवृत्ति करनी ही चाहिए।

हिंसा-अहिंसा की और भी स्पष्ट व्याख्या करते हुए भगवान् ने बताया- कोई जीव हिंसा को नहीं करके भी हिंसा के फल का भागी होता है और दूसरा हिंसा करके भी हिंसा के फल का भागी नहीं होता है। जैसे- किसी व्यक्ति ने किसी जीव को मारने का भाव किया और उस पर प्रहार भी किया परन्तु अपने भाग्य से वह जीव बच गया तो यहां पर द्रव्य हिंसा नहीं है फिर भी वह भाव-हिंसा के कारण उस पाप का भागी है। इसी प्रकार कोई चिकित्सक किसी पीड़ित व्यक्ति की आरोग्य-लाभ के भाव से शल्य-चिकित्सा कर रहा है और

भरपूर सावधानी रखने पर भी यदि उसकी मृत्यु हो जाती है तो वह उसके पाप का भागी नहीं होता है।

किसी जीव की अल्प भी द्रव्य-हिंसा उदय काल में भारी फल को देती है और किसी दूसरे जीव की महा हिंसा भी परिपाक के समय अल्प फल देती है। जैसे- किसी जीव ने किसी व्यक्ति को जान से मार देने के लिए शस्त्र का प्रहार किया। पर दैव वश वह उसके मर्मस्थान पर न लगकर हाथ पैर आदि किसी अंग में लगा। इससे उसकी मृत्यु नहीं हुई। यहां पर द्रव्य-हिंसा तो कम है, पर भाव-हिंसा के भारी होने से उसे हिंसा का महान फल ही भोगना पड़ेगा। इसी प्रकार किसी वाहन-वाहक ने अपने घोड़े या बैल आदि को तेज चलाने की इच्छा से उसे प्रेरित किया और वह पशु अकस्मात् ठोकर खाकर गिर पड़ा और मर गया। यहां पर द्रव्य हिंसा तो भारी है, पर भाव हिंसा अल्प है अतः वह फल काल में हिंसा के अल्प फल को ही भोगेगा।

इसी प्रकार एक साथ दो व्यक्तियों के द्वारा मिलकर की गई हिंसा एक को तीव्र फल देती है और दूसरे को अल्प फल देती है। जैसे- दो व्यक्ति किसी प्राणी को मारने के लिए उद्यत हुए। एक के हृदय में उसे जान से मारने के भाव हैं अतः उसे हिंसा का तीव्र फल भोगना पड़ेगा। किन्तु दूसरे व्यक्ति के भाव जान से मारने के नहीं हैं, केवल साधारण पीड़ा पहुंचाने के ही भाव हैं तो वह हिंसा के अल्प फल को भोगेगा।

कोई हिंसा करने के पहले ही फल देती है और कोई हिंसा करते हुए ही फल देती है, कोई हिंसा कर चुकने पर फल देती है और कोई हिंसा करने का प्रारम्भ करके न करने पर भी फल देती है। जैसे- किसी जीव ने हिंसा करने का विचार किया, परन्तु अवसर न मिलने के कारण वह हिंसा न कर सका। किन्तु उन कषाय परिणामों के द्वारा बन्धे हुए कर्मों का फल उदय में आ गया, पश्चात् इच्छित हिंसा को करने के लिए समर्थ हुआ। ऐसी अवस्था में हिंसा करने के पहले ही उस हिंसा का फल भोग लिया गया है। इसी प्रकार किसी ने हिंसा करने का विचार किया और इस विचार द्वारा बांधे हुए कर्मों के फल को उदय में आने की अवधि तक वह उक्त हिंसा करने को समर्थ हो सका तो ऐसी दशा में हिंसा करते समय ही उसका फल भोगना सिद्ध होता है। किसी ने सामान्यतः हिंसा करके पश्चात् उसका उदय काल में फल पाया। किसी ने हिंसा करने का आरम्भ किया था परन्तु किसी कारण वश हिंसा न कर सका। तथापि आरम्भ जनित बन्ध का फल उसे अवश्य ही भोगना पड़ेगा। इस प्रकार कषाय रूप भावों के अनुसार हिंसा का फल मिलता है।

कभी एक पुरुष हिंसा को करता है परन्तु फल भोगने के भागी बहुत से पुरुष होते हैं। जैसे- किसी जीव को फांसी पर लटकाते हुए देखकर अनेक दर्शक लोग प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। यहां पर एक पुरुष फांसी के देने रूप हिंसा को करता है किन्तु अनेक दर्शक उस हिंसा के फल के भागी होते हैं। कहीं पर अनेक लोग हिंसा को करते हैं परन्तु हिंसा के फल को भोगने वाला एक ही पुरुष होता है। जैसे- संग्राम आदि में हिंसा करने वाले तो अनेक होते हैं परन्तु उनको युद्ध करने का आदेश देने वाला राजा या सेनापति ही अकेला उस हिंसा के फल का भागी होता है।

कोई हिंसा किसी पुरुष को उदय काल में एक ही हिंसा के फल को देती है और किसी पुरुष को वही हिंसा अहिंसा के महान फल को देती है। जैसे- जब कोई आततायी या हिंसक पशु नगर में घुसकर अनेक प्राणियों की हिंसा करता है उस समय उनकी रक्षा के भाव से कोई व्यक्ति उसका सामना करता है और इस पर-रक्षा के समय उसके द्वारा यदि आक्रमण करने वाला मारा जाता है तो वहां यद्यपि एक आततायी की हिंसा हुई है, तथापि सैकड़ों निरपराध व्यक्तियों के प्राणों की भी रक्षा उसके मारे जाने से ही हुई है और इस प्रकार एक के मारने की अपेक्षा अनेकों की रक्षा का पुण्य विशाल है।

किसी पुरुष की अहिंसा उदय काल में हिंसा के फल को देती है तथा अन्य पुरुष की हिंसा फल काल में अहिंसा के फल को देती है। जैसे कोई जीव किसी व्यक्ति की बुराई करने का यत्न कर रहा हो, परन्तु उस जीव के पुण्योदय से कदाचित् बुराई के स्थान पर भलाई हो जाय तो भी बुराई का यत्न करने वाला उसके बुरे फल का ही भागी होगा। इसी प्रकार कोई चिकित्सक किसी व्यक्ति को निरोग करने के लिये किसी पुरुष की शल्य-चिकित्सा कर रहा हो और कदाचित् वह रोगी मर जाय तो चिकित्सक तो अहिंसा के ही फल को भोगेगा।

इस प्रकार हिंसा और अहिंसा का सम्पूर्ण आधार मनुष्य की भावना ही है। अतः आत्म-संरक्षण में सावधान पुरुषों को हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसा के फल को जानकर अपनी शक्ति के अनुसार हिंसा का अवश्य ही त्याग करना चाहिए। जिन की हिंसा की जाती है ऐसे द्रव्य प्राण इन्द्रियादिक, भाव प्राण ज्ञान-दर्शनादिक और उनके धारक जीवों को हिंस्य कहते हैं। हिंसा करने वाले व्यक्त को हिंसक कहते हैं। प्राणियों के प्राण-पीड़न रूप क्रिया को हिंसा कहते हैं और हिंसा करने से प्राप्त होने वाला नरक-पशुगति आदि का दुःख हिंसा-फल

कहलाता है। प्रत्येक बुद्धिमान मनुष्य का कर्तव्य है कि वह इन चारों बातों का विचार कर हिंसा से बचे।

विचारशील मनुष्य को अपने समान सर्व प्राणियों के सुख-दुःख और इष्ट-अनिष्ट का विचार करना चाहिए और यतः हिंसा अपने लिए अनिष्ट और दुःख-कारक है, अतः अन्य के लिए भी वह अनिष्ट और दुःख कारक होगी ऐसा समझकर किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए। किसी प्राणी से 'मर जाओ' ऐसा कहने पर ही वह भारी दुःख का अनुभव करता है तो जो प्राणी दारुण अस्त्र-शस्त्रों से मारा जा रहा है वह कितने भारी दुःख का अनुभव नहीं करता होगा? ऐसा विचार कर मनुष्य को हिंसा से बचना चाहिए। क्योंकि हिंसा ही नरक, पशु आदि दुर्गतियों का द्वार है, हिंसा ही पाप का समुद्र है, हिंसा ही घोर रोरव नरक है और हिंसा ही गहन अंधकार है। हिंसा के समान और कोई दूसरा पाप नहीं है। धर्म का स्वरूप अहिंसा ही है और अधर्म का स्वरूप हिंसा करना है। अहिंसा माता के समान सर्व प्राणियों का हित करने वाली है और अहिंसा ही संसार रूप मरुस्थल में अमृत को बहाने वाली नहर है। यह अहिंसा ही शिव-पद को देती है, यही स्वर्ग की लक्ष्मी को देती है और यही अहिंसा आत्मा का कल्याण करती है। तथा समस्त व्यसनों और कष्टों को दूर करती है। अहिंसा ही दुःख रूप दावाग्नि को शमन करने के लिए वर्षा-कालीन मेघावली है और अहिंसा ही भव-भ्रमण रूप रोग से पीड़ित प्राणियों के परम औषधि है। अतएव प्राणियों की हिंसा का त्याग कर उन्हें अभयदान दो, उनके साथ निर्दोष, निश्छल मैत्री भाव रखो और समस्त चर-अचर जीव लोक को अपने सदृश्य समझो। क्यों कि यह अकेली भगवती अहिंसा स्वर्ग और मोक्ष को देती है।

साधुजन तो सभी प्रकार की महा विकृतियों- मद्य, मांस, मधु और नवनीत (मक्खन)-के यावज्जीवन के लिए त्यागी होते हैं। किन्तु श्रावक को भी अपने अहिंसाणुव्रत की रक्षा के लिए उक्त चारों ही विकृतियों का त्याग करना आवश्यक है। मद्यपान मन को मोहित करता है और मोहित चित्त पुरुष धर्म को भूल जाता है तथा धर्म को भूला हुआ जीव हिंसा का निःशंक होकर आचरण करता है। मदिरा रसोत्पन्न अनेक जीवों की योनि है। क्यों कि उसमें तद्रसजातीय असंख्य जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं और उसे पीने पर उन सब की मृत्यु हो जाती है। इसलिए मदिरापान में नियम से हिंसा होती ही है। भय अभिमान जुगुप्सा अरति, शोक, काम, क्रोधादिक सभी हिंसा के ही पर्यायवाची नाम हैं और ये सभी दोष

मदिरा-पायी के अवश्य ही उत्पन्न होते हैं इसलिए श्रावक को यावज्जीवन के लिए मदिरापान का त्याग करना ही चाहिए।

इसी प्रकार श्रावक को मांस-भक्षण का भी यावज्जीवन के लिए त्याग करना आवश्यक है। क्यों कि प्राणियों की हिंसा के बिना मांस की उत्पत्ति नहीं होती है। अतएव मांस-भक्षी पुरुष के अनिवार्य रूप से हिंसा होती है। मांस-भक्षण करने वाला पुरुष भले ही अपने हाथ से किसी जीव को न मारे तथापि उस मांस को खाने के कारण कारित और अनुमोदना जनित प्राणी-घात का पाप उसे लगता ही है। जो स्वमेव ही मरे हुए गाय भैंस आदि पशुओं का मांस होता है, उस मांस के भक्षण में भी मांसाश्रित तज्जातीय निगोदिया जीवों के निर्मथन से हिंसा होती ही है। मांस का ऐसा स्वभाव है कि चाहे वह अग्निपक्व हो, अथवा अपक्व हो उसमें उसी जाति के सम्मूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति निरन्तर होती ही रहती है अतः जो कच्ची या पकी हुई मांस की डली को खाता है अथवा छूता भी है तो वह पुरुष असंख्य जीवों की हिंसा करता है। इसका कारण यह है कि मांस में जो तज्जातीय सूक्ष्म जीव होते हैं वे इतने कोमल होते हैं कि मनुष्य के हाथ का स्पर्श होने मात्र से ही उनका मरण हो जाता है। इसके अतिरिक्त मांस मनुष्य का प्राकृतिक भोजन भी नहीं है। यह बात उसके मुख और दांत आदि की बनावट से सिद्ध है। पशुओं में भी दो जातियां होती हैं- एक मांसाहारी और दूसरी शाकाहारी। मांसाहारी सिंह आदि पशुओं के दांत और नाखून आदि की बनावट सर्वथा भिन्न होती है। तथा खाने पीने के प्रकार भी भिन्न होते हैं। मांसाहारी पशु जीभ से चप-चप करते हुए पानी पीते हैं जब कि शाकाहारी पशु ओंठ टेक कर बिना शब्द करते हुए ही पीते हैं। किन्तु मनुष्यों में पशुओं के समान दो जातियां नहीं होती हैं। मनुष्यों के दांत आदि की बनावट शाकाहारी पशुओं से मिलती-जुलती है। मांसाहारियों से नहीं। अतः मांस मनुष्य का स्वाभाविक आहार नहीं है।

दूसरी बात यह है कि संसार में जितने भी पदार्थ खाद्य रूप से उपयोग में लाये जाते हैं वे दो प्रकार के होते हैं। एक आपी अर्थात् जल से उत्पन्न होने वाले और दूसरे प्रश्रावी अर्थात् रज-वीर्य से उत्पन्न होने वाले। गेहूं, चना, मटर आदि अन्न, आम, अंगूर, सेव आदि फल तथा विभिन्न प्रकार के शाक आदि जल से उत्पन्न होने वाले पदार्थ हैं। और मांस यतः प्राणियों के शरीर से उत्पन्न होता है और उनके शरीर की उत्पत्ति रज और वीर्य के संयोग से होती है। अतः मांस प्रश्रावी पदार्थ है। उक्त दोनों में से प्रश्रावी वस्तु अत्यन्त घृणित एवं अपवित्र है अतः अभक्ष्य है और आपी पदार्थ सुन्दर एवं पवित्र हैं अतः भक्ष्य हैं।

कुछ लोगों की धारणा है कि मांसाहार से शरीर को अधिक पोषक तत्व प्राप्त होते हैं। पर यह उन लोगों का भ्रम है। क्यों कि मांस की अपेक्षा अन्न, फल और शाक पत्रादि में अधिक पोषक तत्व पाये जाते हैं। मांस-भक्षी शेर-चीते आदि की अपेक्षा हाथी, घोड़ा और बैल आदि अधिक बलशाली होते हैं और भार वहन आदि करने की भारी क्षमता रखते हैं। जब कि मांसाहारी पशु थोड़े से भी भार ढोने में थक जाता है।

मधु मक्खियों के छत्तों से निकलने वाले रस को मधु कहते हैं। मधु-मक्खियों के संचित वमन से मधु की उत्पत्ति होती है। उसमें निरन्तर तज्जातीय असंख्य रसज जीवों की उत्पत्ति होती रहती है। और लोग मधु मक्खी के छत्ते को निचोड़कर मधु को निकालते हैं जिससे उसमें रहने वाले मधु मक्खी के अंडे और अनेक छोटी-छोटी मक्खियां जो उड़ने में असमर्थ होती हैं-मारी जाती हैं और उनके शरीर का रक्त मांस सब मधु में मिल जाता है। इस प्रकार मधु की उत्पत्ति भी प्रचुर जीवों की हिंसा से होती है। अतएव श्रावक को मधु सेवन का भी जन्म पर्यन्त के लिए त्याग कर देना चाहिए।

दही मथकर जो लौनी निकाली जाती है उसे नवनीत या मक्खन कहते हैं। दही में भी यदि काल-मर्यादा के पश्चात् तज्जातीय असंख्य जीव उत्पन्न हो जाते हैं। दही के मथन करने पर उन सब का विनाश होता है। उस मथन से नवनीत निकलता है। यतः वह अनेक प्राणियों के घात से उत्पन्न हुआ है। अतः अभक्ष्य और अन्तर्मुहूर्त काल के पश्चात् उस नवनीत में भी उसी वर्ण वाले और तज्जातीय रस वाले असंख्य सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं। अतः वह अभक्ष्य हैं। अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए इसका भी त्याग आवश्यक है।

जिन फलों में उनके पकने पर स्पष्ट रूप से त्रस जीव दिखाई देते हैं ऐसे बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर, अन्जीर आदि फलों के खाने में भी प्रचुर त्रस जीवों की हिंसा होती है। तथा जो जब ये फल सूख जाते हैं तब उनके भीतर के जीव भी उसी के भीतर मर जाते हैं। अतः इन फलों के खाने में जीव हिंसा और मांस भक्षण का पाप अवश्यंभावी है। श्रावकों इन फलों का भी यावज्जीवन के लिए त्याग करना चाहिए।

इस प्रकार भगवान् ने अहिंसा व्रत की विस्तृत विवेचना की और लोगों को यथा शक्ति उसके धारण करने की प्रेरणा दी।

हिंसा पाप का फल बतलाते हुए कहा- इस लोक में जो लूले, लंगड़े, कोढ़ी और विकलांग एवं अल्पायु जीव देखे जाते हैं वे सब हिंसा-जनित पाप के फल से ही उत्पन्न हुए हैं। इसके

अतिरिक्त हिंसा के फल से नरक और तिर्यच गति में असंख्य काल तक महा दुःखों को भोगना पड़ता है। असत्य भाषण के फल से इस लोक में ही मूक-पना, काहिल-पना, मन्मन्-पना और मुख के अनेक प्रकार के रोग प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त असत्य भाषण से पशु और नरक योनि के भी महा दुःख भोगने पड़ते हैं। मिथ्या सम्भाषण से उत्पन्न हुआ वैर-विरोध अनेक भवों तक दुःखदाई होता है। चोरी करने का फल इस लोक में ही अनेक प्रकार से दुर्भाग्य आदि के रूप में भोगना पड़ता है तथा अनेक भवों तक दरिद्र और दास बनकर जीवन बिताना पड़ता है। पर-स्त्री सेवन एवं अति आसक्ति से स्व-स्त्री सेवन के फल स्वरूप मनुष्य इसी भव में ही अनेक भयंकर रोगों से पीड़ित होता है और पर भव में नपुंसक, दुर्भागी और क्षुद्र योनियों में जन्म लेना पड़ता है। परिग्रह अनेक आपदाओं का घर है। परिग्रही सदा भयभीत और चिन्ताग्रस्त रहता है और पर भव में दुर्गति में जाकर महा दुःखों को भोगता है। अतएव बुद्धिमान मनुष्यों को इनका यावज्जीवन के लिये ही त्याग करना चाहिए। जो पूर्ण रूप से त्याग न कर सकें उन्हें इन पापों के स्थूल अंश का त्याग करना आवश्यक है।

श्रावक को अपने अहिंसा व्रत की रक्षा के लिये रात्रि-भोजन का त्याग भी आवश्यक है। क्योंकि रात्रि में अनेक सूक्ष्म जीवों का संचार हो जाता है। वे जीव भक्ष्य वस्तुओं में आकर गिर पड़ते हैं और दिखाई न देने के कारण भोजन के साथ पेट में चले जाते हैं। इससे उनके खाने का पाप तो लगता ही है, साथ ही अनेक प्रकार के रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं। यदि भोजन के साथ पेट में मकड़ी चली जाय तो कोढ़-रोग हो जाता है। जूं के पेट में चले जाने पर जलोदर रोग और विषैले जन्तु के चले जाने पर मरण तक हो जाता है। इसलिए रात्रि-भोजन का भी त्याग श्रावक के लिए करना आवश्यक है।

जिस मनुष्य के भोजन से अधिक राग होगा वही पुरुष रात-दिन खायेगा और जहां राग है वहां हिंसा अवश्य है। कुछ लोग दिन को उपवास रखकर रात्रि में भोजन करते हैं। इससे उन्हें उपवास के फल की अपेक्षा रात्रि भोजन करने में हिंसा जनित पाप ही अधिक लगता है। दिन में सूक्ष्म से सूक्ष्म भी जीव-जन्तु स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। अतः द्रव्य हिंसा की सम्भावना कम से कम है। रात्रि का भोजन अधिक प्रयत्न साध्य और राग भाव का कारण है। रात्रि में भोजन पकाने एवं आने-जाने में मक्खी-मच्छर आदि जीवों की अधिक हिंसा होती है जो कि अग्नि और धुंए के कारण मर जाते हैं। इसके अतिरिक्त दीपक के प्रकाश में भोजन करने पर भी सूक्ष्म त्रस जीव दिखाई नहीं देते, तथा तेज प्रकाश के कारण

वर्षा आदि ऋतुओं में उड़ने वाले छोटे-छोटे कीट पतंगे आ-आ कर दीपक के ऊपर पड़ते हैं। उनका पतन भी भोजन में निश्चित है। अतः जो रात्रि भोजन करता है वह द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की हिंसा से कभी नहीं बच सकता। जो जीव रात्रि भोजन करते हैं वे उनके प्रभाव से यदि पशु योनि में उत्पन्न हों तो उलूक, काक, मार्जार, गिद्ध, शृगाल, शूकर आदि नीच जाति के पशु पक्षियों में उत्पन्न होते हैं और नरक में जाकर वहां के महा दुःख भोगते हैं। किन्तु इसके विपरीत जो रात्रि में असन, पान, खाद्य, स्वाद्य इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करते हैं व त्याग-मय जीवन का आधा समय उपवास के साथ बिताने से महान पुण्य के फल को प्राप्त करते हैं।

रात्रि भोजन के समान ही मनुष्य को अगालित जल के पीने का भी त्याग करना चाहिए क्यों कि जल में बहुत सूक्ष्म असंख्य जीव होते हैं जो स्थूल दृष्टि से नहीं दिखाई नहीं देते किन्तु सूक्ष्म दर्शक यंत्र से स्पष्ट दिखाई देते हैं। आज के वैज्ञानिकों ने सूक्ष्म-दर्शक यंत्र से एक अगालित जल-बिन्दु में साठ हजार सूक्ष्म त्रस जीवों की गणना की है। इसके अतिरिक्त वर्षा आदि के एवं तालाब आदि के गन्दले जल में कुछ ऐसे विषैले जीव भी होते हैं जो पेट में जाने पर भयंकर रोगों को भी पैदा कर देते हैं। नेहरुआ नामक भयानक रोग अनछने पानी पीने का ही परिणाम है। पानी में बहुत बारीक सफेद सूत के समान एक छोटा सा कीड़ा होता है वह अधिकतर गन्दे एव मैले पानी में उत्पन्न होता है। यदि वह पानी पीने के साथ पेट में चला जाय तो वह बढ़ने लगता है। इससे पीने वाले व्यक्ति का शरीर उत्तरोत्तर सूखने लगता है और शरीर में भयानक दाह उत्पन्न होता है। किसी-किसी के शरीर में तो दस बारह हाथ तक का लम्बा निकाला गया देखा जाता है। इन सब हानियों से बचने के लिए तथा जलगत सूक्ष्म जीवों की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि पीने के पानी को गाढ़े मोटे श्वेत दोहरे वस्त्र से छान कर पीया जाय।

पशु-बलि का निषेध

मूढता से ग्रस्त अनेक अज्ञानी जीव अनेक देवी-देवताओं पर बकरी, भैंसा आदि को बलि चढ़ाने में धर्म मानते हैं और कुछ लोग यज्ञ आदि में पशु के होम करने में धर्म मानते हैं तथा उससे स्वर्गादिक की एवं अभीष्ट धर्म की प्राप्ति की कामना करते हैं। किन्तु यह सब महान अज्ञान है क्योंकि हिंसा से कभी धर्म होना सम्भव नहीं है। कुछ लोग अतिथि आदि के भोजन के लिए और पित्रों के तर्पण के लिए भी अनेक जाति के पशु-पक्षियों को मारते हैं। यह भी उनका अज्ञान ही है। कुछ लोग कहते हैं कि शाक आदि के खाने में अनेक एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा होती है। उसकी अपेक्षा एक बड़े पंचेन्द्रिय जीव को मारकर खाने में कम हिंसा है। यह भी उनकी अज्ञानता को ही प्रकट करता है। कुछ लोग कहते हैं कि हिंसक पशुओं को मार देना चाहिए क्योंकि उससे अनेक जीवों की रक्षा होती है। कुछ लोग कहते हैं कि हिंसक प्राणी जीव-घात के पाप से और अधिक न बन्धें इसलिए दया करके उन्हें मार देना चाहिए। कुछ लोग कहते हैं कि दुःखी प्राणियों को मार देना चाहिए जिससे कि वे दुःख से छूट जावें। इस प्रकार अज्ञान की वासना से वासित व्यक्ति अनेक प्रकार की कुतर्कणाएं करते हैं। कुछ लोग यह कहते हैं कि सुखी, धनिक एवं सौभाग्य सम्पन्न व्यक्तियों को मार देने पर अग्रिम भव में वे सुखी, धनी एवं सौभाग्य सम्पन्न होंगे, क्योंकि जो जिस अवस्था में मरता है वह अग्रिम भव में उसी प्रकार की अवस्था को प्राप्त करता है। इस प्रकार अनेक जाति की मिथ्या कल्पनाओं के द्वारा अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार के उपायों से पशु-बलि एवं जीव-घात का उपदेश देते हैं। उन्हें जानना चाहिए कि एक बार अचल सुमेरु चलायमान हो जाय, अग्नि शीतल हो जाय और पूर्व का सूर्य पश्चिम से उदित होने लग जाय, परन्तु हिंसा करने से कभी धर्म होना सम्भव नहीं है।

इस प्रकार स्वयं सुखी होने के लिये एवं दूसरों को भी सुखी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि जो बातें हमारे लिए प्रतिकूल हैं उन्हें हम दूसरों के साथ कभी न करें। आज विश्व के सामने जो अनेक प्रकार की समस्याएं उपस्थित हैं उनके समाधान के लिए आवश्यक है कि वे लोग अहिंसाके सिद्धान्त को अपनावें और “जीओ और जीने दो” के मार्ग पर चलें। हिंसा मूलक व्यवहार को दूर कर सहअस्तित्व के लिए प्रेम भाव की वृद्धि करें। राजनीति में युद्धों के उन्माद का त्याग किया जाय, क्योंकि वैर से वैर शांत नहीं होता। सामाजिक जीवन में ऊंच और नीच की भावना का त्याग किया जाय। क्योंकि जन्म से कोई

ऊंच या नीच नहीं होता किन्तु कर्म से ही मनुष्य नीच और ऊंच होता है। संसार में सुखी जीवन बिताने के लिए अहिंसा से बढ़कर और कोई धर्म नहीं है।

अहिंसावाद ही यथार्थ साम्यवाद है

इस प्रकार भ0 महावीर ने अहिंसा के विशाल क्षेत्र का विवेचन करते हुए बताया कि संसार में जितने भी सूक्ष्म और स्थूल एवं चर और अचर प्राणी हैं उन सभी की आत्माएं समान हैं, क्यों कि सभी के भीतर ज्ञान, दर्शन आदि गुण शक्ति रूप से विद्यमान हैं। आज उनमें जो हीनाधिकता दृष्टिगोचर होती है वह कर्म-जनित है। प्रत्येक प्राणी प्रति समय जो भले-बुरे काम करता है उससे उसके ऊपर तदनुसार ही भले-बुरे संस्कार पड़ते रहते हैं। उन्हीं का नाम कर्म है। जिस जीव के ऊपर इन संस्कारों या कर्मों का अधिक प्रभाव होता है उसमें उसी प्रकार से ज्ञानादि गुणों की हीनता पाई जाती है और जिसमें वह प्रभाव कम होता है उसमें ज्ञानादि गुणों की अधिकता पाई जाती है। अतः गुणों के होने की अपेक्षा जीवों में अन्तर है। किन्तु शक्ति की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है।

सब जीवों में रहने वाली इस शक्ति की समानता का अनुमान इसी बात से किया जा सकता है कि सभी प्राणी समान रूप से सुख चाहते हैं, सभी उच्च कहलाना चाहते हैं और सन्मान पूर्वक जीवन-यापन करना चाहते हैं। इसके विपरीत कोई जीव न दुःखी रहना चाहता है, न नीच कहलाना चाहता है और न अपमानित जीवन बिताना चाहता है। अनुभव में आने वाली इन समता मूलक प्रवृत्तियों से सिद्ध है कि सब जीव समान शक्ति के धारक हैं। और जब सब समान शक्ति के धारक हैं तब हमें उन सब के साथ समान ही व्यवहार करना चाहिए। अतएव प्रत्येक बुद्धिमान पुरुष को सब के साथ आत्मवत् बन्धु-भाव या मैत्री-भाव रखना आवश्यक है। साधुजन इसी समता भाव की अहर्निश आराधना करते हैं और किसी पर भी विषम भाव नहीं रखते हैं। यहां तक कि वे अपने निन्दक और पूजक में, घातक और आराधक में, तथा प्रत्येक ईष्ट और अनिष्ट अचेतन वस्तु पर भी समता भाव की प्रति समय भावना करते रहते हैं।

जो व्यक्ति इस उच्च दशा को प्राप्त नहीं हैं और घर-बार छोड़ने में असमर्थ हैं एवं सांसारिक कार्यों के करने में संलग्न हैं उन गृहस्थों को भी जहां तक सम्भव हो प्राणि मात्र पर समता भाव की भावना करते हुए अपने सम्पर्क में आने वाले मनुष्यों और पशु-पक्षियों के साथ भी निश्छल और प्रेम मय व्यवहार करना चाहिए। तथा छोटे-छोटे जीवों के साथ सदैव प्रवृत्ति रखनी चाहिए।

किसी ने भगवान से पूछा- भगवन् संसार में सर्वत्र जन्तु ही जन्तु व्याप्त हैं आपने भी पृथ्वी, जल, वनस्पति आदि सभी में जीवों का सद्भाव बतलाया है। फिर मनुष्य का जीवन-निर्वाह कैसे होगा? और सांसारिक कार्यों को करते हुए वह अहिंसक कैसे रह सकेगा?

भगवान् ने कहा यह सत्य है कि सारा लोक चराचर जीवों से भरा हुआ है और किसी भी कार्य के करने पर जीव-हिंसा अवश्यम्भावी है। इनमें सूक्ष्म जीवों की हिंसा का त्याग तो अशक्यानुष्ठान है। उससे बचाव तो तभी हो सकता है जब मनुष्य मन वचन काय की सभी क्रियाओं को छोड़कर अडोल-अकम्प आसन से एक स्थान पर अवस्थित होकर समाधि-निमग्न रहे। परन्तु तब तक यत्नाचार पूर्वक उठे, बैठे, खावे, पीवे और सम्भाषणादि करे। जो साधु नहीं है उन गृहस्थों को भी सांकल्पिक हिंसा का त्याग कर प्रत्येक सांसारिक कार्य को यत्नाचार पूर्वक करना चाहिए और यथा शक्ति स्थूल त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा से बचना चाहिए। जो जितने भी अंशों में हिंसा से बचेगा वह उतने ही अंशों में अहिंसा धर्म का पालक होगा। आंशिक हिंसा को पालन करते हुए भी प्रति दिन प्राणी मात्र पर समता भाव की भावना रखनी ही चाहिए। तथा जीव-घात या जीव-विराधना के होने पर अपनी आलोचना, निन्दा और गर्हा करते ही रहना चाहिए। इस प्रकार मनुष्य सांसारिक कार्यों को करते हुए भी अहिंसक रह सकता है।

इस अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए साधु और श्रावक दोनों को ही चलने फिरने और किसी वस्तु को उठाने-रखने में पूरी सावधानी रखनी चाहिए। एवं देख-शोध और प्रमार्जन कर सब कार्य करना चाहिए। वचन व्यवहार भी बहुत संयत एवं शिष्ट भाषा में करना चाहिए। मन की वृत्ति को सदा निर्मल रखना और छोटे विचारों से दूर रहना चाहिए। खान-पान शुद्ध रखना आवश्यक है। इसी प्रकार निर्जन्तु-भूमि पर मल-मूत्र का विसर्जन भी करना चाहिए।

इस प्रकार अहिंसावाद ही यथार्थ साम्यवाद है क्योंकि अहिंसक भावना वाला ही सब जीवों के साथ अपने समान व्यवहार कर सकता है। जब तक मनुष्य में अहिंसा भाव जाग्रत नहीं होगा तब तक साम्यवाद के प्रचार के लिए अहिंसा का आश्रय लेना अत्यन्त आवश्यक है।

अपरिग्रहवाद या समाजवाद

भगवान् ने परिग्रह को पाप का मूल कारण बतलाते हुए कहा- प्रत्येक प्राणी की इच्छाएं आकाश के समान अनन्त हैं। जिस प्रकार ईंधन से अग्नि तृप्त नहीं होती और नदियों के जल से समुद्र नहीं अघाता, उसी प्रकार परिग्रह से भी मनुष्य की इच्छाएं कभी पूरी नहीं होती हैं, किन्तु जैसे ईंधन के मिलने से अग्नि उत्तरोत्तर प्रज्वलित होती है उसी प्रकार धनादिक का लाभ होने से मनुष्यों की तृष्णा भी उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। प्रत्येक प्राणी की तृष्णा इतनी अगाध है कि विश्व की समस्त वस्तुएं भी उसमें अणु के समान हैं। यदि कोई व्यक्ति त्रैलोक्य की सारी सम्पदा भी किसी एक पुरुष को दे देवे, तो भी उसकी आशाएं कभी पूरी नहीं होंगी। इसके विपरीत संसार में प्राणी अपरिमित हैं और बाहरी वस्तुएं परिमित हैं। अतः जो पुरुष अपने सर्व परिग्रह का त्याग करके उसे समाज के लिये अर्पित कर देते हैं वे अपरिग्रही साधु ही सच्चे समाजवादी हैं। वे जीवन-निर्वाह के लिए गोचरी-काल में मिले हुए आहार के सिवाय संसार के किसी भी पदार्थ को पाने की इच्छा नहीं रखते हैं। किन्तु जो इस स्थिति को नहीं पहुंचे हैं या जिन्हें अभी वहां तक पहुंचना सम्भव नहीं है उन गृहस्थों को भी अपनी इच्छाओं को सीमित करना आवश्यक है। उन्हें सीमित साधनों से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए शेष वस्तुओं को समाज के व्यक्तियों के लिए छोड़ देना चाहिए।

आज संसार में आर्थिक विषमता दृष्टिगोचर हो रही है उसका मुख्य कारण मनुष्य की अनावश्यक संग्रह वृत्ति ही है। यदि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं के अनुसार ही वस्तुओं का संग्रह करे और अनावश्यक संग्रह को न करे या संग्रहीत अनावश्यक वस्तुओं को दूसरे के हितार्थ उन्हें सौंप दे तो आज संसार में जितनी अशान्ति दृष्टिगोचर होती है उतनी न रहे तथा इस परिग्रह के कारण होने वाले हत्याकाण्ड चोरी और डाके सहज में ही समाप्त हो जाएं। परिग्रह के कारण आज पिता-पुत्र में, भाई-भाई में और पति पत्नी तक में कलह और वैर-विरोध देखा जाता है। यदि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं के समान दूसरों को भी आवश्यकताओं को और कठिनाइयों को ध्यान में रखे और उन सब की पूर्ति करता रहे तो सहज में ही सच्चे समाजवाद की स्थापना हो सकती है।

समाज व्यवस्था की व्याख्या करते हुए भगवान् ने बतलाया कि सारे संसार में चार जाति के ही प्राणी हैं- देव, नारक, तिर्यच और मनुष्य। देव और नारक तो सब को दृष्टिगोचर नहीं होते, पर वे हैं अवश्य। जैसा कि गणधरों की शंकाओं के समाधान में बताया गया है।

मनुष्य और तिर्यच सब को दिखाई देते हैं इनमें से तिर्यचों के भीतर अनेक जातियां हैं जो कि पशु-पक्षी, शाकाहारी और मांसाहारी तथा दो इन्द्रिय आदि जीवों के रूप में प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं। किन्तु मनुष्य के भीतर ऐसा जाति-गत भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। सभी मनुष्य एक ही आकार प्रकार के दिखाई देते हैं। अतः मनुष्य जाति एक ही है। वर्ण व्यवस्था की स्थापना जीवन निर्वाह के लिए की गई थी। उसे जाति का रूप नहीं दिया जा सकता।

कुछ लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का विभाग जन्मगत जाति के आधार पर कहते हैं वे अज्ञान में हैं, क्यों कि जन्म से सभी मनुष्य एक ही प्रकार के होते हैं। पीछे भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवन-निर्वाह के साधनों को अपनाने के कारण भिन्न-भिन्न वर्ण वाले कहे जाने लगे हैं। इसलिए जन्म से न कोई ब्राह्मण है, न कोई क्षत्रिय, न कोई वैश्य और न शूद्र ही। जो ब्रह्म ज्ञान को प्राप्त करता है व्रत और शील को पालता है वह ब्राह्मण है। जो शस्त्र धारण कर समाज और देश की रक्षा करता है वह क्षत्रिय है। जो व्यापार आदि के द्वारा देश और समाज को समृद्ध बनाता है वह वैश्य है और जो सेवा के द्वारा न्याय का आदर्श उपस्थित करता है वह शूद्र है। इस प्रकार कर्म से ही मनुष्य ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि कहलाने के योग्य है। भगवान् ऋषभदेव ने जो समाज-व्यवस्था की थी वह समाज के सर्व व्यक्तियों की सुख सुविधा को ध्यान में रखकर की थी। उसमें ऊंच-नीच या छोटे-बड़े की भावना का रंचमात्र भी स्थान नहीं था। मध्यवर्ती काल में जब भारत में सामन्तवाद का उदय हुआ और ब्राह्मणों ने अपने को सर्व श्रेष्ठ घोषित कर दूसरों को हीन और अस्पृश्य कहना प्रारम्भ किया तब से वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य नष्ट हो गया। समाज में सुख और शान्ति स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि जाति-गत अहंकार और भावना-वैशम्य का त्याग कर पारस्परिक सद्भाव के साथ रहा जाय, तभी सच्चा समाजवाद स्थापित हो सकता है। अतएव विचारशील मनुष्यों का कर्तव्य है कि जाति और कुल-गत अहंकार का त्याग कर बन्धु-भावना बढ़ाई जाय और सब को समान सुविधाएं उपलब्ध कर के कुटुम्ब के समान समाज के साथ रहा जाये। इसके लिए आवश्यक है कि आज परिग्रह के कारण जो बहुत भारी विषमता देखी जाती है वह दूर की जाये और धनिक व्यक्ति अपने पास के धन को स्वयं समाज में वितरित कर एक समान रूप से रहने वाले समाज का निर्माण करे। यह समाजवाद अपरिग्रहवाद के बिना सम्भव नहीं है अतः समाजवाद की स्थापना के लिए मनुष्य को स्वयं अपरिग्रही बनना चाहिए।

कर्मवाद और ईश्वर-कर्तृत्व-परिहार

संसार के अनेक मत-मतान्तर उस जगत का कर्ता, धर्ता और परिहर्ता एक ईश्वर को मानते हैं। उसे अनादि सिद्ध और सर्वज्ञ कहकर प्राणियों के सुख-दुःख का विधाता भी उसे ही मानते हैं और सारी सृष्टि का सृष्टा भी उसे ही कहते हैं। किन्तु विचार करने पर किसी भी ऐसे समय की कल्पना नहीं की जा सकती कि जिस समय कुछ न हो और न कुछ से कुछ उत्पन्न हो गया हो। अनन्त सत् रूप वस्तुएं अनादि काल से सत् रूप से प्रवाहित होती हुई आ रही हैं और अनन्त काल तक भविष्य में प्रवाहित होती चली जायेगी। उनके परस्पर संयोग वियोग से यह सृष्टि-चक्र स्वयं संचालित है। कभी किसी बुद्धिमान ने बैठकर इस सृष्टि की रचना की हो और उसका नियंत्रण करता हो यह बात वस्तु-स्थिति के प्रतिकूल तो है ही, अनुभव-गम्य भी नहीं है। प्रत्येक सत् अपने में परिपूर्ण और स्वतंत्र है। वह प्रति क्षण उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप स्वभाव के कारण परस्पर प्रभावित होकर अनेक अवस्थाओं में स्वयं परिवर्तित हो रहा है। यह परिवर्तन अपने-अपने उपादान और निमित्त कारणों से स्वयं सुव्यवस्थित एवं सुनियन्त्रित है। प्रत्येक द्रव्य की सत्ता अनादि सिद्ध है उसमें किसी भी व्यक्ति के हस्त-क्षेप की सम्भावना नहीं है। सब अपनी-अपनी पर्यायों के स्वामी और विधाता हैं।

इस प्रकार यह सृष्टि अनादि निधन है और वृक्ष-बीज की परम्परा के समान अपने-अपने कार्य-कारण संबंध के द्वारा अनादि काल से चली आ रही है। और अनन्त काल तक चली जावेगी।

प्रश्न- यदि ऐसा है तो सृष्टि के जो विभिन्न रूप हमें प्रतिक्षण उत्पन्न एवं विनष्ट होते हुए दृष्टिगोचर होते हैं उन्हें कौन बनाता और बिगाड़ता रहता है?

उत्तर- संसार के सभी पदार्थ स्वयं अपने आप उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते रहते हैं। किन्तु इन उत्पन्न होने वाली और विनष्ट होने वाली अवस्थाओं में भी उस मूलभूत द्रव्य की सत्ता सदा ज्यों की त्यों बनी रहती है। और वस्तु का यह स्वभाव ही उसकी अनादि निधनता को सिद्ध करता है। अतः उन्हें न कभी कोई बनाता है और न बिगाड़ता है। हां, कदाचित् कदाचित् कोई व्यक्ति या वस्तु निमित्त बन जाती है।

संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं- एक चेतन और दूसरा अचेतन। चेतन जीव को छोड़कर जितने भी शेष पदार्थ हैं वे सब जड़ या अचेतन हैं। शरीर जड़ वस्तु है और आत्मा

चेतन पदार्थ है। इन दोनों का अनादि काल से संयोग चला आ रहा है। और उसके द्वारा यह आत्मा नाना दशाओं को प्राप्त होता रहता है।

प्रश्न- तो फिर जीव को सुख दुःख कौन देता है?

उत्तर- जीव को कोई दूसरा सुख-दुःख नहीं देता है। जब जीव के पुण्य कर्म का उदय होता है तब वह सुख को प्राप्त करता है और जब पाप कर्म का उदय होता है तब वह दुःख को प्राप्त होता है।

प्रश्न- यह पुण्य-पाप रूप कर्म क्या वस्तु है।

उत्तर- जीव के द्वारा किये जाने वाले भले-बुरे कार्यों को ही पुण्य-पाप रूप कर्म कहते हैं।

भगवान् ने कर्म की व्याख्या करते हुए बताया- प्रत्येक समय में जीव के भीतर कुछ न कुछ क्रिया होती रहती है। उस क्रिया के द्वारा वह अपने चारों ओर भरे हुए कर्म-वर्गणाओं को खींचकर अपने भीतर-वपन करता रहता है। समय आने पर वे ही बीज रूप कर्म फलते फूलते और अपना फल देते हैं। इस प्रकार वे भले-बुरे संस्कार वाले बीजों को कर्म-परमाणु, कर्म-वर्गणा या कर्मण-स्कन्ध कहते हैं। ये कर्म-स्कन्ध जड़ पुद्गल रूप हैं, अत्यन्त सूक्ष्म हैं और अनन्तानन्त की संख्या में सर्वत्र व्याप्त हैं।

प्रत्येक संसारी जीव में मन वचन काया की परिस्पन्दात्मक क्रिया रूप एक योग नाम की आकर्षण शक्ति होती है और कामर्ण-स्कन्धों में आकृष्ट होने की स्वाभाविक शक्ति पाई जाती है। जैसे चुम्बक में आकर्षण शक्ति है और लोहे में आकृष्ट होने की शक्ति स्वभाव से है। जैसे- चुम्बक में आकर्षण शक्ति है और लोहे में आकृष्ट होने की शक्ति स्वभाव से है। जिस समय कोई संसारी जीव काम क्रोध, मान, माया, लोभ, वैर, भय, शोक, हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, दुराचार आदि बुरे कामों को; या दया, दान, परोपकार आदि भले कार्यों को करता है उस समय उस जीव की वह योग शक्ति उक्त कर्मण-स्कन्धों को अपनी ओर खींच कर जीव-प्रदेशों से संबद्ध करती है और उसी समय आत्मा के जैसे भाव होते हैं तदनुसार उनमें उस प्रकार के फल देने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इससे उनमें एक विशेष जाति का स्वभाव उत्पन्न हो जाता है। उसे प्रकृति-बन्ध कहते हैं। इस प्रकृति-बन्ध के साथ ही उन कर्मण-स्कन्धों में जीव के साथ एक निश्चित काल तक रहने की मर्यादा भी निश्चित हो जाती है उसे स्थिति-बन्ध कहते हैं। उसी समय उन कर्मों में शुभ-अशुभ रूप फल देने की जो शक्ति उत्पन्न होती है उसे अनुभाग-बन्ध कहते हैं। तथा आने वाले कर्म-

परमाणुओं का आठ कर्म रूप से जो विभाजन होता है उसे प्रदेश-बन्ध कहते हैं। इस प्रकार जीव के राग-द्वेषादि जिन भावों के द्वारा कर्म परमाणु बंधते हैं उन भावों को भाव-कर्म कहते हैं। इस भाव कर्म का उपादान रूप कर्ता जीव ही है और जो कर्म-परमाणु आकर के जीव के साथ बन्धते हैं उन्हें द्रव्य कर्म कहते हैं। उसका भी कर्ता निमित्त रूप से जीव ही है। किन्तु भाव-कर्म के होने में द्रव्य-कर्म निमित्त है और द्रव्य-कर्म के होने में भाव-कर्म निमित्त है। इस प्रकार निमित्त-नैमित्तिक रूप से इन दोनों का आपस में बीजांकुर के समान कार्य-कारण संबंध चला आ रहा है। यह परम्परा कभी प्रारम्भ नहीं हुई किन्तु अनादि से ही चली आ रही है जैसे खान में सोना और मिट्टी अनादि काल से मिले हुए चले आ रहे हैं।

प्रश्न- जो वस्तु अनादि होती है उसका तो कभी विनाश नहीं होता, जैसे- आकाश, काल, आत्मा आदि अनादि पदार्थों का कभी विनाश नहीं होता। इसी प्रकार कर्मों का संबंध भी आत्मा के साथ अनादि काल से चला आ रहा है इसलिए उसका भी कभी विनाश नहीं होना चाहिए।

उत्तर- ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है। क्यों कि अनादि काल से चले आ रहे बीज और वृक्ष की परम्परा का भी विनाश देखा जाता है। जैसे- किसी बीज को जला देने पर आगे वृक्ष की उत्पत्ति समाप्त हो जाती है। फिर यह कर्म पर्याय रूप है। पर्याय का तो उत्पाद और विनाश होता ही है। द्रव्य का विनाश नहीं होता। अर्थात् जो पुद्गल परमाणु कर्म रूप पर्याय से परिणत हुए थे- जीव के शुद्धोपयोग रूप शुक्ल ध्यानाग्नि से उनकी कर्म रूप पर्याय का अभाव हो जाता है अर्थात् वे उस आत्मा से विमुक्त हो जाते हैं। किन्तु पुद्गल परमाणु रूप से तो नित्य बने ही रहते हैं। क्यों कि किसी भी द्रव्य का कभी सर्वथा विनाश नहीं होता।

जिसे हम कर्म कहते हैं उसी को अन्य मतावलम्बी विभिन्न नामों से उसकी सत्ता को स्वीकार करते हैं। जैसे- कोई उसे प्रकृति कहता है, कोई अदृष्ट, कोई देव, कोई संस्कार और कोई भाग्य आदि। कुछ लोग इसी को अविद्या, माया और वासना आदि के रूप में मानते हैं।

कर्मों के भेद

कर्मों के मूल भेद दो हैं- घाति कर्म और अघाति कर्म। आत्मा के ज्ञान दर्शन आदि अनुजीवी गुणों के घात करने वाले कर्मों को घाति कर्म कहते हैं। जो ज्ञानादि गुणों को घातने में तो समर्थ नहीं हैं किन्तु उसके अव्यावाधत्व सूक्ष्मत्व आदि प्रतिजीवी गुणों के घातक हैं

उन्हें अघाति-कर्म कहते हैं। घाति कर्म के चार भेद हैं- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय। इसी प्रकार अघाति कर्म के भी चार भेद हैं- वेदनीय, आयु, नाम और अन्तराय कर्म।

1-ज्ञानावरण-कर्म - जीव में सर्व पदार्थों के जानने की स्वाभाविक शक्ति है। इस शक्ति के घातने वाले या उस पर आवरण करने वाले कर्म को ज्ञाना-वरण कर्म कहते हैं। आत्मा पर ज्यों-ज्यों इस कर्म की शक्ति बढ़ती जाती है त्यों-त्यों आत्मा का ज्ञान घटता जाता है। और ज्यों-ज्यों इस कर्म की शक्ति घटती जाती है त्यों-त्यों आत्मा का ज्ञान बढ़ता जाता है। पशु-पक्षी और मनुष्यों में जो ज्ञान का तारतम्य देखा जाता है वह सब इसी कर्म का फल है। जब यह कर्म सर्वथा दूर हो जाता है तब यह जीव सर्वज्ञ बन जाता है और त्रैलोक एवं त्रिकालवर्ती पदार्थों को हस्त-रेखा के समान स्पष्ट जानने लगता है।

प्रश्न- कैसे काम करने से इस कर्म का बन्ध होता है?

उत्तर- ज्ञानी पुरुष को देखकर ईर्ष्या करना, ज्ञान के साधनों में विघ्न उपस्थित करना, ज्ञानी-जनों को दोष लगाना, उनका निन्हव करना, आसादन करना, उनके उत्तम गुणों में भी दोष प्रकट करना, ज्ञान का प्रतिकूल निरूपण करना, ज्ञान में अनादर करना, ज्ञान का अर्थ समझने सनने में आलस करना, अनादर पूर्वक आत्म-ज्ञान की बात को सुनना, पांडित्य के अभिमान से अन्यथा उपदेश देना, गुरु-जनों के प्रतिकूल आचरण करना, उनमें श्रद्धा नहीं रखना, अपने बहुज्ञानी होने का अभिमान करना, दूसरे बहुज्ञानी का अपमान करना और नवीन ज्ञान के अध्ययन- अध्यापन में शठता रखना इत्यादि कामों से ज्ञानावरण कर्म बन्धता है।

2-दर्शनावरण कर्म- प्रत्येक जीव में वस्तु के सामान्य स्वरूप को ग्रहण करने की और आत्म-साक्षात्कार करने की जो स्वाभाविक शक्ति है उसे घातने वाले कर्म को दर्शनावरण कर्म कहते हैं। इस कर्म के उदय से जीव को आत्म-साक्षात्कार नहीं होने पाता और न पर वस्तु का यथार्थ दर्शन ही। जितने-जितने अंश में इस कर्म का आवरण क्षीण होता जाता है उतने-उतने अंश में दर्शन गुण प्रकट होने लगता है। जब इस कर्म का आत्मा के ऊपर तीव्र उदय (प्रभाव) रहता है तब जीव की अवस्था सुप्त, मत्त या निद्रित सी रहती है और उसे अपने आप का भान नहीं रहता। ज्यों-ज्यों इस का उदय क्षीण होता जाता है त्यों-त्यों दर्शन गुण वृद्धिगत होने लगता है। जब जीव के ऊपर से यह कर्म सर्वथा दूर हो जाता है तब यह आत्म-दर्शी और सर्व पदार्थ-दर्शी बन जाता है।

प्रश्न- कैसे काम करने से इस कर्म का बन्ध होता है?

उत्तर- किसी के देखने में अन्तराय करना, दोष लगाना, ईर्ष्या करना, किसी के दर्शन का उपघात करना, किसी की देखी गई यथार्थ वस्तु में दूषण लगाना, किसी के नेत्र फोड़ देना, गहरी और लम्बी नींद लेना, नास्तिकता की भावना रखना, सम्यग्दृष्टि पुरुष को दोष लगाना, कुत्तीर्थियों की प्रशंसा करना, और तपस्वियों को देखकर उनसे ग्लानि करना, इत्यादि कार्यों से दर्शनावरण कर्म बन्धता है।

3-मोहनीय-कर्म- काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, अन्यथा प्रवृत्ति, दुराग्रह, हठवादिता और विपरीत श्रद्धा को पैदा कर सांसारिक वस्तुओं में मोहित करने वाले कर्म को मोहनीय-कर्म कहते हैं। इस कर्म के दो भेद हैं- दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। जो सन्मार्ग को समझने ही न दे वह दर्शन-मोहनीय कर्म है और जो सन्मार्ग पर चलने न दे वह चारित्र-मोहनीय कर्म है।

प्रश्न- कैसे काम करने से दर्शन मोहनीय कर्म का बन्ध होता है?

उत्तर- ज्ञानी पुरुषों का, मुनि आर्यिका, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ का तथा देवता का अवर्णवाद करना, सन्मार्ग में दूषण लगाना और कुमार्ग का उपदेश देना इत्यादि कार्यों से दर्शन मोहनीय कर्म बन्धता है। इसी कर्म के कारण जीव को अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है और आत्मा का सम्यग्दर्शन गुण प्रकट नहीं होने पाता।

प्रश्न- चारित्र मोहनीय कर्म कैसे काम करने से बन्धता है?

उत्तर- क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय रूप प्रवृत्ति करने से हास्य रति, अरति आदि भावों के रखने से और स्त्री-पुरुष आदि के सेवन की भावना और प्रवृत्ति से चारित्र मोहनीय कर्म का बन्ध होता है। इस कर्म के उदय से चित्त में सदा अशान्ति बनी रहती है।

4- अन्तराय-कर्म- जो दान लाभ भोग उपभोग और वीर्य में विघ्न उपस्थित करे उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। शक्ति होते हुए भी दान न दे सकना, लाभ की प्राप्ति में विघ्न आना, खान-पान की उत्तम सामग्री के सन्मुख विद्यमान होते हुए भी भोग न पाना, शय्या, आसन, स्त्री आदि के रहते हुए भी उनके सुख से वंचित रहना, हमेशा रोगी और निर्बल बने रहना ये सब अन्तराय कर्म के कार्य हैं।

प्रश्न- कैसे काम करने से अन्तराय कर्म का बन्ध होता है?

उत्तर- तपस्वी, गुरु-जनों और पूज्य पुरुषों की पूजा के विलोप करने की प्रवृत्ति करना, अनाथ, दीन और कृपण पुरुषों को भिक्षा देने का निषेध करना, अपने अधीन दासी-दास तथा पशु-पक्षियों के अन्न-पान का रोक देना, उनके अंगों का छेद करना, रस्सी आदि से बान्धना, प्राणियों की हिंसा करना और दूसरे के दान, लाभ, भोग, उपभोग और शक्ति संचय में विघ्न करना इत्यादि कार्यों से अन्तराय कर्म बन्धता है।

उक्त कर्मों में से जानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञान गुण का, दर्शनावरण दर्शन गुण का, मोहनीय सम्यक्त्व और चारित्र्य का तथा अन्तराय वीर्य गुण का घात करता है। इसलिए इन चारों को घाति-कर्म कहते हैं।

5-वेदनीय कर्म- जो सांसारिक -सुख और दुःखों का वेदन करावे वह वेदनीय कर्म है। उसके दो भेद हैं- साता-वेदनीय और असाता-वेदनीय। साता-वेदनीय कर्म के उदय से पुण्य कर्म जनित भोगोपभोग की सामग्री में सुख का अनुभव होता है और असाता वेदनीय कर्म के उदय से पाप कर्म जनित अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति होने पर दुःख का अनुभव होता है।

प्रश्न- कैसे काम करने से असाता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है?

उत्तर- दुःख करना, शोक करना, किसी का वध करना, सन्ताप करना, चिल्लाना और हाय-हाय करना इतने कार्य चाहे स्वयं करे चाहे ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देवे कि जिससे दूसरा उक्त कार्य करने लग जाय और चाहे उन कार्यों को स्वयं भी करे और दूसरों को भी दुःख शोकादि उत्पन्न करावे सभी दशाओं में असाता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है। इनके अतिरिक्त दूसरे की चुगली करना, पर के अंगोपांगों को छेदना, पर को ताड़न-तापन करना, तर्जन करना, तिरस्कार करना, दूसरे का विश्वास नहीं करना, पापयुक्त कार्यों से आजीविका करना, कुटिलता करना, हिंसा के साधन-भूत अस्त्र-शस्त्रादि दूसरों को देना, विश्वासघात करना, विषों का उत्पादन करना, सांकल, जाल, पाश आदि बनाना, धर्म का विध्वंस करना, धर्म-कार्यों में विघ्न उत्पन्न करना, तपस्वियों की निन्दा करना, दूसरों को शील और वृत् से डिगाना इत्यादि कार्यों से असाता-वेदनीय कर्म का बन्ध होता है। जिसके कारण मनुष्य को इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोग आदि महा दुःखों को भोगना पड़ता है।

प्रश्न- कैसे काम करने से सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है?

उत्तर- प्राणियों पर दया करना, उन्हें दान देना, तप-शील का पालन करना, सत्य बोलना, शौच रखना, इन्द्रियों का दमन करना, क्षमा धारण करना, रोगी शोकी आदि की वैयावृत्ति करना,

विनय रखना, देव, गुरु, धर्म की पूजा करना। सरल भाव रखना, मुनि और श्रावक धर्म का पालन करना, इत्यादि कार्यों से साता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है। इस कर्म के उदय से प्रिय और इष्ट सामग्री प्राप्त होती है।

6-आयु कर्म- जो कर्म मनुष्य, तिर्यच, नरक या देवगति में ले जाकर उसमें रोक रखे उसे आयु कर्म कहते हैं। इस कर्म के उदय से ही जीव छोटी या बड़ी आयु का धारक होता है। आयु कर्म के चार भेद हैं- नरकायु, तिर्यगायु, मनुष्यायु, देवायु ।

प्रश्न- कैसे काम करने से जीव नरकायु का बन्ध करता है?

उत्तर- अत्यधिक मान करना, पाषाण की रेखा के समान, क्रोध करना, गूढ़ मायाचार करना, तीव्र लोभ रखना, सदा निर्दय परिणाम रखना, जीवघात करना, झूठ बोलना, परधन हरण करना, मैथुन-सेवन करना, काम-भोगों की तृष्णा रखना, धर्म परम्परा का उच्छेदन करना, बिल्ली, कुत्ता आदि हिंसक प्राणियों को पालना, महा आरम्भ और परिग्रह रखना, कृष्ण लेश्या आदि के परिणाम रखना, और रौद्र ध्यानमय प्रवृत्ति रखना, इत्यादि कार्यों से नरकायु का बन्ध होता है। जिसके कारण दीर्घकाल तक नरकों के महा दुःखों को भोगना पड़ता है।

प्रश्न- कैसे काम करने से तिर्यगायु का बन्ध होता है?

उत्तर- व्रत-शील नहीं पालना, मिथ्यात्व सेवन करना, दूसरे को ठगना, मिथ्यात्व-युक्त कुधर्मों का उपदेश देना, नकली कर्पूर, कुंकुम, केशर आदि बनाना, हीनाधिक नापतौल करना, सोना, चांदी आदि का प्रतिरूपक व्यवहार करना, स्वर्णादि-भस्म बनाना, असली घी-तेल आदि में नकली द्रव्य मिलाकर बेचना, वचन के द्वारा दूसरे की हंसी उड़ाना, काय के द्वारा दूसरे की नकल करना, नील और कपोत-लेश्यारूप परिणाम रखना, मायाचार करना, और आर्त-ध्यान रखना, इत्यादि कार्यों से तिर्यगायु का बन्ध होता है जिसके कारण जीव को तिर्यग्गति की लाखों योनियों में जन्म-मरण के दुःख उठाने पड़ते हैं।

प्रश्न- कैसे काम करने से मनुष्यायु का बन्ध होता है?

उत्तर- परिणामों में सरलता रखना, अल्प परिग्रह रखना, अल्प आरम्भ-समारम्भ करना, स्वभाव कोमल रखना, गुरुओं का विनय करना, दान देना और जीव-घात से बचना, इत्यादि कार्यों से मनुष्यायु का बन्ध होता है। जिससे जीव मनुष्य गति में उत्पन्न होता है।

प्रश्न- कैसे कार्य करने से देवायु का बन्ध होता है?

उत्तर- मन्द कषाय रखना, धर्म का सुनना, दान देना, व्रत, तप, शील और संयम का धारण करना, इत्यादि कार्यों से देवायु का बन्ध होता है।

7-नाम कर्म- जो नाना प्रकार के शरीरों को उत्पन्न करे, एकेन्द्रिय आदि जातियों में उत्पन्न करे, और यश-अपयश, सौभाग्य-दुर्भाग्य आदि पैदा करे उसे नाम कर्म कहते हैं। इस कर्म के अनेक भेद हैं तथापि उन्हें दो रूप में विभाजित किया गया है- शुभ-नामकर्म और अशुभ-नामकर्म। जिस कर्म के उदय से सुन्दर शरीर, उच्च गति, उच्च जाति, और यश आदि प्राप्त हो उसे शुभनाम कर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से निन्द्य शरीर, नीच गति, एकेन्द्रियादि जाति और अपयश आदि प्राप्त हो उसे अशुभ नाम कर्म कहते हैं ।

प्रश्न- कैसे कर्म करने से अशुभ नाम कर्म बन्धता है?

उत्तर- मन वचन काय का कुटिल रखना, कलह करना, विसंवादी स्वभाव रखना, झूठी गवाही देना, चुगली करना, चित्त चंचल रखना, विष बनाना, ईंटों का पकाना, जंगलों में आग लगवाना, प्रतिमा, चैत्यालय, उद्यान, वसतिका, आदि का विनाश करना, देव-द्रव्य का चुराना, उसे अपने काम में लेना, तीव्र कषाय रखना, पापमय आजीविका करना, कर्कश और असत्य वचन बोलना तथा दूसरे के सौभाग्य का विलोप करना इत्यादि कार्यों से अशुभ नाम कर्म का बन्ध होता है। जिसके कारण प्राणी लूला, लंगड़ा, अन्धा, अल्पायु, दुर्भागी, हीण संघनन और बुरे आकार प्रकार वाला होता है।

प्रश्न- कैसे काम करने से शुभ नाम कर्म बन्धता है?

उत्तर- संसार से भयभीत रहना, किसी से कलह विसंवाद नहीं करना, और मन वचन काय की सरल प्रवृत्ति रखना, इत्यादि कार्यों से शुभ नाम कर्म बन्धता है। जिसके कारण मनुष्य सुन्दर शरीर, उत्तम संहनन, यश, और सौभाग्य आदि को प्राप्त करता है।

इसी नाम-कर्म के अनेक भेदों में से एक तीर्थकर प्रकृति भी है जिसके उदय से जीव त्रैलोक्य के द्वारा पूजित तीर्थकर होकर मुक्ति को प्राप्त करता है।

प्रश्न- कैसे कार्य करने से तीर्थकर प्रकृति का बन्ध होता है?

उत्तर- 1- सम्यग्दर्शन की परम विशुद्धि रखना, 2- शक्ति के अनुसार तप करना,
3- शक्ति के अनुसार त्याग (दान) करना, 4- सन्मार्ग की प्रभावना करना,
5- विनय से सम्पन्न होना, 6- व्रत और शीलों का निर्दोष पालन करना,

- | | |
|--|--------------------------------|
| 7- संसार से निरन्तर उदास रहना, | 8- निरन्तर ज्ञानाभ्यास करना, |
| 9- सदा साधु समाधि रखना, | 10- तपस्वियों की वैयावृत करना, |
| 11- सामायिक आदि छह आवश्यकों का निरन्तर परिपालन करना, | 12- प्रवचन में भक्ति रखना, |
| 13- आचार्य की भक्ति करना, | 14- अर्हद-भक्ति करना, |
| 15- उपाध्याय-भक्ति करना, और | 16- प्रवचन में वात्सल्य रखना |

इन सोलह भावनाओं के द्वारा मनुष्य तीर्थकर प्रकृति को बांधता है।

8-गोत्र-कर्म- उच्च और नीच कुल में उत्तम कराने वाला कर्म गोत्र कर्म कहलाता है। इस कर्म को दो भेद हैं- उच्च-गोत्र और नीच-गोत्र। जिस कर्म के उदय से लोकमान्य उत्तम कुलों में, उच्च वर्णों में, और उत्तम जातियों में जन्म हो उसे उच्च गोत्र कहते हैं। जिस कर्म के उदय से नीच, निन्द कुलों में एवं नीच जातियों में जन्म हो नीच गोत्र कहते हैं।

प्रश्न- कैसे कार्य करने से जीव नीच गोत्र में उत्पन्न होता है?

उत्तर- अपने में अविद्यमान गुणों को प्रकट करना, दूसरों के विद्यमान गुणों की अवहेलना करना, दूसरों के अवगुणों को कहना, दूसरे के सद्गुणों को आच्छादित करना, अपनी प्रशंसा और पर की निन्दा करना, जाति-कुल आदि का मद करना आदि कार्यों से नीच गोत्र का बन्ध होता है।

प्रश्न- कैसे कार्य करने से जीव उच्च गोत्र में उत्पन्न होता है?

उत्तर- नम्र वृत्ति रखना, अहंकार नहीं करना, दूसरे के सद्गुणों को प्रकट करना, अपने अवगुणों को कहना, पर की प्रशंसा करना और अपनी निन्दा करना इत्यादि कार्यों से उच्च गोत्र का बन्ध होता है।

उक्त आठ कर्मों के उत्तर भेद इस प्रकार हैं- ज्ञानावरण के 5, दर्शनावरण के 9, वेदनीय के 2, मोहनीय के 28, आयु कर्म के 4, नाम कर्म के 93, गोत्र कर्म के 2, और अन्तराय कर्म के 5 भेद होते हैं। इस प्रकार इन आठों कर्मों के उत्तर भेद 148 होते हैं।

आठों कर्मों का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध इस प्रकार है- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, और अन्तराय कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध 30 कोडाकोडि सागरोपम है।

मोहनीय का 70 कोडाकोडी सागरोपम,

नाम और गोत्र कर्म का 20 कोडाकोडी सागरोपम है।

देवायु और नरकायु का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध 33 सागरोपम है।

मनुष्य और तिर्यगायु का 3 पल्योपम उत्कृष्ट स्थिति बन्ध है।

इसका अभिप्राय यह है कि तीव्र संक्लेश परिणामों से एक समय में बन्धने वाले कर्म आत्मा में उपर्युक्त काल तक विद्यमान रहते हुए अपना फल देते रहते हैं। हां, कुछ अपवाद भी हैं जिनसे उनका फल नियत काल से पहले भी भोग लिया जाता है।

उक्त आठों कर्मों को अनुभाग बन्ध की अपेक्षा पुण्य और पाप रूप में विभक्त किया गया है। जिन में चारों घाति कर्म तो पाप रूप ही हैं। चार अघाति कर्मों में से सातावेदनीय, उच्च गोत्र, शुभ आयु और शुभ नाम कर्म पुण्य रूप हैं। असातावेदनीय, नीच गोत्र, अशुभ आयु, अशुभ नाम कर्म पाप रूप हैं। पाप प्रकृतियों का फल देने रूप रस नीम, करंज, विष और हलाहल के समान कटक होता है। पुण्य प्रकृतियों का फल देने रूप रस गुड, खांड, शक्कर और अमृत के समान मधुर होता है।

प्रति समय आने वाले कर्म-परमाणुओं का विभाजन आयु-बन्ध के समय आठों कर्मों में होता है। और जब आयु कर्म का बंध नहीं होता तब सात कर्मों में होता है। आयु-कर्म का बंध सदा नहीं होता है किन्तु वर्तमान भव की आयु के विभाग में ही होता है। आयु-कर्म के बंध समय आने वाले कर्म-परमाणुओं में से आयु-कर्म को सबसे कम भाग मिलता है। उससे अधिक भाग नाम और गोत्र कर्म को मिलता है। उनसे अधिक भाग ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय-कर्म को मिलता है। उससे अधिक भाग मोहनीय-कर्म को मिलता है और सबसे अधिक भाग वेदनीय-कर्म को मिलता है। आने वाले कर्म-परमाणुओं के इसी विभाजन के साथ बंधने को प्रदेश बंध कहते हैं।

गौतम- भगवन् आयु-कर्म का बंध अन्य कर्मों के समान सदा क्यों नहीं होता?

महवीर- आयु-कर्म के बन्ध की आवश्यकता आगामी भव के लिए होती है। आगामी भव किस प्रकार का मिलेगा, इसका निर्णय जीवन भर के लिए भले-बुरे कार्यों पर निर्भर है। ऐसी दशा में किसी भी प्राणी के जन्म लेने के बाद भी आगामी भव की आयु का बंध कैसे संभव है- जब कि उसके वर्तमान जीवन का बहु-भाग सम्पूर्ण भाग अभी व्यतीत होना अभी शेष है। फिर जीवों के परिणाम प्रतिक्षण विरुद्धता लिए उत्पन्न होते रहते हैं। इसलिए आज इस समय के विशुद्ध परिणामों के द्वारा यदि किसी जीव के देव-आयु का बंध मान लिया जाय तो कल तीव्र कषाय रूप निकृष्ट परिणामों के जागृत होने पर नरक-आयु का बंध मानना

पड़ेगा। इस प्रकार परस्पर विरोधी आयु के बंध जाने पर आगामी किसी एक भव का निश्चय? ही नहीं हो सकेगा। इस अव्यवस्था को मिटाने के लिए प्रकृति ने ऐसी ही व्यवस्था की कि आयु कर्म का बंध सर्वदा नहीं होता। अतः ऐसा स्वभाव ही है कि आयु-कर्म सदा नहीं बंधता।

गौतम- भगवन् तो फिर आगामी भव की आयु का बंध कब होता है?

महावीर- आयु-कर्म का बंध वर्तमान जीवन के दो भाग व्यतीत होने पर और तीसरा भाग प्रारम्भ होने पर एक अन्तर मुहुर्त काल तक जैसे जीव के परिणाम होते हैं-तदनुसार ही होता है। यदि किसी कारणवश इस अवसर में आयु का बंध न हो सके तो फिर शेष रही हुई आयु के दो भाग व्यतीत होने पर और एक भाग शेष रह जाने पर आगामी भव की आयु के बंध होने का अवसर आता है। यदि इस समय भी आयु-बंधन न हो तो फिर शेष जीवन के दो भाग बीतने पर और एक भाग शेष रहने पर आयु का बंध होता है। इस प्रकार यह क्रम आठवें त्रिभाग तक जारी रहता है। यदि किसी कारणवश आठवें त्रिभाग में भी बंध न हो सके तो मरने के कुछ समय पूर्व तो नियम से आयु का बंध हो ही जाता है। जैसे- मान लो किसी मनुष्य की आयु 81 वर्ष की है तो इसके दो भाग बीतने पर अर्थात् 54 वर्ष की अवस्था पूर्ण होने पर और 55वां वर्ष प्रारम्भ होते ही एक अन्तर-मुहुर्त काल तक ऐसा अवसर आता है कि मनुष्य के परिणाम भले-बुरे जैसे भी होंगे तदनुसार आगामी भव की आयु का बंध हो जावेगा। इसके खाली जाने पर शेष रहे 27 वर्ष के दो भाग अर्थात् 18 वर्ष और बीतने पर (54+18=72) बहतर वर्ष की आयु पूर्ण होते ही दूसरा अवसर आयु-बंध का आवेगा। इसके खाली जाने पर शेष रहे नौ वर्ष के दो भाग (6वर्ष) बीतने पर 78 वर्ष की आयु पूर्ण होते ही तीसरा अवसर आयु-बंध का आवेगा। पुनः चौथा अवसर अस्सी वर्ष के पूर्ण होने पर, पांचवां अस्सी वर्ष 8 मास व्यतीत होने पर, छठा अस्सी वर्ष 9 मास 20दिन बीतने पर, सातवां 80 वर्ष 10 मास, 16 दिन और 16 घंटे बीतने पर, और आठवां अवसर 80 वर्ष, 10 मास, 25 दिन, 12 घंटे और 40 मिनिट बीतने पर आयेगा।

इस प्रकार की व्यवस्था को देखते हुए यह आवश्यक है कि मनुष्य वर्तमान जीवन के दो भाग व्यतीत होते ही आत्म कल्याण में लग जावे। इस प्रकार की ऐसी अनेकों शंकाओं का समाधान भगवान् ने किया। जिनका संग्रह गौतम ने व्याख्या प्रज्ञप्ति अंग में निबद्ध किया है।

इस प्रकार भगवान् ने बताया कि आत्मा के साथ कर्म का बंध कैसे होता है? किन-किन कारणों से होता है? किस कारण से कर्म में कैसी शक्ति पैदा होती है? कर्म अधिक से

अधिक कितने समय तक आत्मा के साथ संबद्ध रहता है? संबद्ध रहने की दशा में भी वह कितने समय तक फल देने में असमर्थ रहता है? और कितने समय तक फल देने में समर्थ रहता है? क्या कर्म-विपाक का नियत समय भी परिवर्तित किया जा सकता है? अथवा नहीं? यदि किया जा सकता है तो उसके लिए कैसे आत्म परिणाम आवश्यक हैं? क्या एक कर्म अन्य कर्म रूप में परिवर्तित हो सकता है? अथवा नहीं? यदि हो सकता है तो वे कर्म कौन-कौन से हैं? और अपरिवर्तनशील कर्म कौन-कौन से हैं? क्या कर्मों की बंध-कालीन तीव्र मन्द शक्तियां बदली जा सकती हैं? यदि बदली जा सकती हैं तो किस प्रकार? आगे भविष्यकाल में फल देने वाला कर्म क्या उससे पूर्व भी भोगा जा सकता है? क्या कर्मों का यह विपाक आत्मा के शुद्ध परिणामों से रोका जा सकता है? यदि हां, तो कैसे? आत्मा किस प्रकार कर्म का कर्ता और भोक्ता है? और किस प्रकार नहीं? संकलेश रूप परिणाम अपनी आकर्षण-शक्ति से किस प्रकार कर्म-रज आत्मा पर डाल देते हैं और आत्मा किस शक्ति के द्वारा उस कर्म-रज के पटल को उठाकर बाहर फेंक देता है? स्वभावतः शुद्ध आत्मा भी कर्म के प्रभाव से किस प्रकार मलिन सा दीखता है? और बाहरी हजारों आवरणों के होने पर भी आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप से किस प्रकार च्युत नहीं होता? वह अपने आत्म-विकास के समय पूर्व बद्ध तीव्र कर्मों को भी किस प्रकार दूर कर देता है? आत्म विकास के लिए किस प्रकार की सामग्री आवश्यक है? और किस प्रकार उस सामग्री के आशय से आत्मा प्रबल भी कर्मों को निर्बल करके किस प्रकार अपने उन्नति के मार्ग को निष्कंटक करता है? शरीर में विद्यमान आत्म-देव का साक्षात्कार कराने में सहायक अपूर्व-करण और 'अनिवृत्तिकरण' परिणामों के द्वारा किस प्रकार कर्म-पर्वतों को यह चूर-चूर कर डालता है? तथा किस भूल के कारण आत्म विकास की एक उच्च दशा तक पहुंचकर भी किस प्रकार नीचे गिर पड़ता है? और पुनः किस प्रकार कर्म-शत्रु का प्रध्वंस कर आत्मा से परमात्मा बनता है? इत्यादि संख्यातीत प्रश्नों का सयुक्तिक उत्तर भगवान् ने दिया। जिससे गौतम, उनके साथियों और उपस्थित श्रोताओं की कर्म-विषयक सर्व शंकाओं का पूर्ण रूप से समाधान हो गया। और वे लोग जो अभी तक पुण्य-पाप के फल को देने वाला एक अदृष्ट ईश्वर मानते थे तत्सम्बन्धी उनका अज्ञान दूर हो गया। +

+इन सब शंकाओं के समाधानार्थ जिज्ञासुओं को कर्म-शास्त्र का अध्ययन रना चाहिए। लेखक

विश्व-व्यवस्था पर विचार

गौतम- भगवन् कुछ लोग कहते हैं कि इस विश्व में एक शुद्ध चिन्मात्र परम ब्रह्म के सिवाय और कुछ भी नहीं है। जो कुछ दिखता है वह सब अविद्या, माया या भ्रम मात्र है। कुछ लोग कहते हैं कि इस विश्व का कोई सृष्टा अवश्य होना चाहिए जिससे कि सारे विश्व की व्यवस्था सदा व्यवस्थित और नियमित रूप से होती रहती है। जो इस विश्व का व्यवस्थापक है वही ईश्वर है। वह अनादि, अनन्त है। सर्वज्ञ है और सदा शुद्ध रूप से अवस्थित है। वही इस जगत को जो कि पहले नास्ति रूप था उसे बना करके अस्ति रूप करता है। वह जब चाहेगा तब फिर उसे नास्ति रूप कर देगा। उस समय एक ईश्वर के अतिरिक्त यहां पर फिर कुछ भी नहीं रहेगा। कुछ लोग कहते हैं कि अवस्तु से वस्तु नहीं बन सकती, किन्तु वस्तु से ही वस्तु बना करती है अतः इस विश्व में सदा से कुछ सचेतन वस्तुएं चली आ रही हैं और कुछ अचेतन। उन्हें कोई नहीं बनाता। परन्तु इन दोनों के संयोग से अनेक वस्तुओं का बनाना और बिगाड़ना उस ईश्वर के ही हाथ में है। इस प्रकार नाना विसंवादों में से किसे सत्य समझा जाय?

महावीर- गौतम, इस दृश्यमान जगत में सभी वस्तुएं स्पष्ट रूप से चर-अचर एवं अचेतन रूप में दिखाई दे रही हैं तब उन्हें माया, अविद्या या भ्रम रूप कैसे माना जा सकता है? जो लोग कहते हैं कि पहले कुछ नहीं था ईश्वर ने असत् को सत् रूप किया उनका यह मानना भी भ्रम रूप ही है। क्यों कि यदि पहले कुछ था ही नहीं तो फिर ईश्वर ने यह सब कुछ कहां से लाकर बना दिया? यदि ईश्वर ने इन साकार वस्तुओं को बनाया तो ईश्वर स्वयं साकार है या निराकार? यदि निराकार है तो वह साकार वस्तुओं को बना नहीं सकता। और यदि साकार है तो क्या सकर्मक है अथवा अकर्मक? इस प्रकार के अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं जिनका कोई समाधान ईश्वर को जगत् का कर्ता मानने वालों की ओर से नहीं प्राप्त होता है। प्रत्युत ऐसे अनेक प्रश्न उभर कर सामने आते हैं कि जिन से ईश्वर के सर्वज्ञत्व और शुद्ध रूप में बट्टा लगता है। जैसे- यदि ईश्वर सर्वज्ञ है तो उसने अपने ही विरोध करने वाले अनीश्वरवादी एवं नास्तिक पुरुषों को क्यों बनाया? चोर, डाकू, व्यभिचारी और अनाचारी मनुष्यों को तथा हिंसक पशुओं को क्यों बनाया? दीन, दरिद्री, लूले, लंगड़े और रोगी-शोकी मनुष्यों को क्यों बनाया? यदि सर्वज्ञ होता तो ऐसे प्राणियों का निर्माण ही न करता और यदि वह दयालु होता तो लोगों को इस प्रकार की पीड़ाएं न पहुंचाता। इससे सिद्ध है कि जगत का कोई कर्ता नहीं है। जगत में दिखने वाली सभी चेतन-अचेतन वस्तुओं की परम्परा बीज-वृक्ष के समान

अनादि काल से आ रही है। जब ये सभी चेतन-अचेतन पदार्थ अनादि हैं तथा इस पृथ्वी का भी अनादि होना स्वयं सिद्ध है। साथ ही सभी पदार्थों के गुण-स्वभाव और एक दूसरे पर प्रभाव डालने एवं प्रभावित होने की प्रकृति भी अनादि काल से ही चली आ रही है। इस प्रकार यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि जगत् में जो कुछ हो रहा है वह सब इन चेतन-अचेतन वस्तुओं के गुण और स्वभाव के कारण हो रहा है। इन के अतिरिक्त न कोई ईश्वरीय शक्ति इनके बीच में कार्य कर रही है और न उसके होने की कोई आवश्यकता ही है।

गौतम,+ विचारने की बात यह है कि जब समुद्र के पानी की ही भाप बनकर उससे ही बादल बनता है तब यदि वस्तु स्वभाव के सिवाय कोई दूसरा व्यक्ति वर्षा का प्रबन्ध करने वाला होता तो वह कभी भी उसे समुद्र पर नहीं बरसाता जहां कि उसकी आवश्यकता नहीं है। किन्तु वहां पर बरसाता जहां पर उसके बरसने की आवश्यकता है। परन्तु देखने में यही आता है कि बादल को जहां भी इतनी ठंड मिल जाती है कि भाप का पानी बन जावे, वहीं वह बरस पड़ता है। यही कारण है कि वह समुद्र पर भी बरसता है और पृथ्वी पर भी। बादलों को इस बात का ज्ञान ही नहीं कि उसे कहां बरसना चाहिए और कहां नहीं। इसी से कभी वर्षा समय पर होती है और कभी असमय में भी। कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि सारी फसल पर अच्छी वर्षा होती है और अंत में एक-आध वर्षा की कमी रह जाने पर सारी खेती मारी जाती है। यदि वस्तु स्वभाव के सिवाय कोई दूसरा प्रबन्ध करता होता तो ऐसी गड़बड़ी कभी न होती। यदि कहा जाय कि ईश्वर की इच्छा ही ऐसी थी कि इस खेत में अन्न पैदा न हो या कम पैदा हो। तब प्रश्न होता है कि उसने सारी फसल पर अच्छी वर्षा करके उस खेती को इतनी बड़ी ही क्यों होने दी? अच्छा तो यह होता कि वह किसान को बीज ही न बोने देता। यदि किसान पर उसका बस नहीं चल सकता था तो खेत में पड़े बीज को ही वह न उगने देता। यदि बीज पर भी उसका अधिकार न था तो वर्षा की एक बूंद भी उस खेत में न पड़ने देता। तथा यदि संसार के उस प्रबन्ध कर्ता ईश्वर की यही इच्छा होती कि इस वर्ष अनाज ही पैदा न हो या कम पैदा हो तो वह उन खेतों को ही न सुखाता जो वर्षा के ही ऊपर निर्भर हैं, + प्रत्युत उन खेतों को भी अवश्य सुखाता जो वर्षा के ऊपर निर्भर नहीं किन्तु नहर के पानी पर निर्भर हैं। परन्तु देखने में यही आता है कि जिस वर्ष, वर्षा नहीं होती उस वर्ष उन खेतों में तो कुछ भी पैदा नहीं होता जो वर्षा पर निर्भर हैं और नहर आदि से सींचे जाने वाले खेतों में उसी वर्ष सब कुछ पैदा हो जाता है। इससे सिद्ध है कि संसार का कोई प्रबन्ध कर्ता ईश्वर आदि नहीं है।

गौतम और भी देखो- आज संसार में पापों की वृद्धि हो रही है और लोग गरीब मनुष्यों और दीन प्राणियों पर भारी अन्याय और अत्याचार कर रहे हैं तब यह कैसे माना जाय कि जगत् का कर्ता कोई ईश्वर है? जब ईश्वर सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान कहा जाता है और जिसके विषय में कहा जाता है कि उसकी इच्छा के बिना वृक्ष का एक पत्ता भी नहीं हिल सकता, उसे तो अन्याय और अत्याचार करने वालों को पहले तो उत्पन्न ही नहीं करना चाहिए था और यदि किसी तरह से उत्पन्न भी हो गये तो उनको अत्याचार और अन्याय ही न करने देना चाहिए था। एक ओर ईश्वर को संसार का कर्ता-धर्ता बताना और दूसरी ओर अपराधों के रोकने में उसे असमर्थ बताना भारी आश्चर्य और उपहास की बात है।

इन सब बातों को देखकर यही सिद्ध होता है कि संसार का कोई भी कर्ता-धर्ता ईश्वर नहीं है। किन्तु वस्तु स्वभाव के द्वारा ही जगत् का सारा प्रबन्ध चल रहा है। जब से लोगों ने सुख-दुःख देने वाले किसी ईश्वर की कल्पना की है तब से उसको प्रसन्न करने के लिए लोगों ने उसकी अनुनय-विनय भी प्रारम्भ कर दी है। जैसे- आज कोई अपराधी पुरुष अधिकारी या शासक की अनुनय-विनय से और धनादि के देने से अपराध की सजा भोगने से बचता हुआ देखा जाता है, इसी प्रकार लोगों ने अपने दुष्कृत्यों से बचने के लिए ईश्वर की अनुनय-विनय प्रारम्भ कर दी है और वे समझने लगे हैं कि इस प्रकार हम अपने दुष्कृत्यों के फल भोगने से बच जावेंगे, लोगों का यह सबसे बड़ा अज्ञान है और इसी मिथ्या-धारणा से वह पाप करना तो नहीं छोड़ता प्रत्युत ईश्वर के नाम पर अनेक पाप पूर्ण यज्ञ, पशु-बलि एवं अन्य क्रिया-काण्ड करने में ही अपना उद्धार समझ रहा है।

गौतम, इस प्रकार संसार का न कोई कर्ता-धर्ता है और न कोई व्यवस्थापक ही। किन्तु यह अपनी आत्मा ही अपने दुःखों और सुखों की कर्ता है और उन्हें नाश करने वाला भी यही आत्मा है। यही शुभ कार्य करने से मित्र के समान है और अशुभ कार्य करने से यही शत्रु के समान है। यही सदाचार में प्रवृत्त होता है और यही दुराचार में। (1)

आत्मा को अपने दुष्कृत्यों के कारण नरक की वैतरणी नदी में गोता खाना पड़ता है और कूटशालमली वृक्षों के पत्तों द्वारा छिन्न-भिन्न होना पड़ता है। तथा यही आत्मा अपने सुकृत्यों के द्वारा कामधेनु रूप होता है और नन्दन वन में विहार करता है। (2)

(1)-अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य। अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पटिठय सुपटिठयो॥

(2)- अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली। अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा में नंदनं वणं॥

(उत्तराध्ययन, 20, ग0 36-37)

अतएव- अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।

अप्पा दत्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य।।

गौतम अनादि काल की दुर्वासनाओं से ग्रस्त यह आत्मा ही दुर्दमनीय हो रहा है और यह सभी दुष्कृत्य करने के लिए सदा उद्यत रहता है। इसलिए अपने आत्मा का दमन करना चाहिए। आत्मा के दमन के लिए आवश्यक है कि मनुष्य दुष्कृत्यों का परित्याग करे और इन्द्रियों के विषयों में दौड़ने वाले अपने चंचल मन पर नियंत्रण करे। ऐसा करने से ही आत्मा इस लोक में भी सुखी रहेगा और परलोक में भी सुखी होगा।

गौतम- भगवन्, तो क्या ईश्वर नाम की कोई वस्तु है ही नहीं? यदि है तो फिर किसे ईश्वर माना जाय? और उसे मानने से क्या लाभ है?

महावीर- संसार के जिन जीवों ने अपने आत्म-गुणों के आवरण करने वाले कर्मों को जीतकर शुद्ध-बुद्ध अवस्था प्राप्त कर ली है ऐसे व्यक्ति ही ईश्वर कहलाते हैं। वे कैवल्य प्राप्त कर सर्वज्ञ और वीतराग हो जाते हैं तथा वे ही संसार के प्राणियों को हित का उपदेश देकर और संसार के दुःखों से मुक्त होने का मार्ग बतलाकर उनका संसार से उद्धार करते हैं। उनकी जो आराधना की जाती है वह किसी सांसारिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए नहीं की जाती है। किन्तु उनके समान आराधक भी ईश्वर पद को प्राप्त करे, इस भावना से की जाती है। संसार में जो मनुष्य जिस प्रकार के गुण-विशेषों की प्राप्ति करना चाहता है वह उसी प्रकार के विशिष्ट गुण-शाली पुरुष की सेवा-आराधना करता है। जो इसी प्रकार मुमुक्षु होते हैं वे कर्म-विमुक्त शुद्ध आत्माओं की आराधना करते हैं।

इस प्रकार के शुद्ध-बुद्ध हुए ईश्वर अनेक हैं। जिन्होंने कि सर्व कर्मों का नाश कर शिव-पद को प्राप्त कर लिया है। कैवल्य प्राप्ति के पश्चात् वे जब तक संसार में रहते हैं तब तक जीवन-मुक्त, अर्हत और जिन आदि नामों से कहे जाते हैं और जब वे कर्म-विमुक्त होकर शिव-पद प्राप्त कर लेते हैं तब सिद्ध, निरंजन और निराकार परमात्मा कहे जाते हैं।

अनेकान्तवाद और समन्वयवाद

गौतम- भगवन्, संसार में आज अनेक मत-मतान्तर प्रचलित हैं। कोई वस्तु को नित्य कहता है और कोई अनित्य। कोई चेतन ब्रह्म को नित्य मानता है और कोई जड़ प्रकृति को अनित्य कहता है। इस प्रकार लोग वस्तु की अनेक प्रकार से कल्पना करते हैं। तब फिर सत्य किसे माना जाय?

महावीर- गौतम, संसार की प्रत्येक चेतन और अचेतन वस्तु अनेक धर्मात्मक है। वह अपना अनादि अनन्त संतान परम्परा की अपेक्षा से नित्य है क्योंकि कभी भी किसी वस्तु का सर्वथा विनाश नहीं होता। साथ ही, प्रत्येक चेतन और अचेतन वस्तु की दशा, अवस्था या पर्याय प्रतिक्षण बदलती रहती है। यह बात पहले बताई गई है। वस्तु के गुण धर्मों में भी सदृश और विसदृश परिवर्तन होता रहता है अतः वह अनित्य भी है। अल्पज्ञ मनुष्य जिस वस्तु को जिस दृष्टि से देखता है वह वस्तु केवल उतनी ही नहीं है, किन्तु उसमें अनन्त दृष्टिकोणों से देखे जाने की क्षमता है। क्योंकि उसमें अनन्त धर्म विद्यमान हैं। यतः संसार का प्रत्येक मनुष्य सर्वज्ञ नहीं है, अतः वह अपने दृष्टिकोण से वस्तु के जिस किसी एक धर्म को देखता है तो उसी रूप में मान लेता है। यही कारण है कि आज विश्व में अनेक मत-मतान्तर प्रचलित हैं। यदि ये सभी मतवादी अपनी-अपनी दुराग्रही हटवादिता रूप एकान्त दृष्टि को छोड़कर अनेकान्त दृष्टि से देखें तो उन्हें ज्ञात हो जाय कि जो वस्तु द्रव्य दृष्टि से नित्य है वही वस्तु पर्याय-दृष्टि से अनित्य भी है। गौतम, क्या तुमने कभी विचार किया है कि प्रकृति ने प्रत्येक प्राणी को दो नेत्र क्यों दिये? एक या तीन नेत्र क्यों नहीं दिये? यदि दो ही दिये तो एक मस्तक के आगे की ओर दिया होता है और दूसरा मस्तक के पीछे की ओर? जिससे कि उसे आगे का भी देखता और पीछे का भी देखता रहता। परन्तु प्रकृति ने ऐसा नहीं किया। और भी देखो- सर्व प्राणियों में मनुष्य सबसे अधिक बुद्धि-शाली है, प्रकृति ने उसके दोनों नेत्रों को समान स्तर पर देते हुए भी बीच में नाक की दीवाल क्यों खड़ी कर दी? प्रकृति के इस सहज निर्माण में एक भारी रहस्य छिपा हुआ है। वह कहती है कि हे संसार के अल्पज्ञ मानवों, तुम जिस अपनी दृष्टि से वस्तु को जैसा समझ रहे हो, वह केवल वैसी ही नहीं है किन्तु नाक के समान बीच में अवस्थित एकान्तवाद की दीवाल के दूसरी ओर भी देखो कि वह दूसरी अपेक्षा से भी वैसी ही है या उससे भिन्न है? तुम जिस कार्य को अपनी दृष्टि से अच्छा समझ रहे हो उसे ही दूसरे की अपेक्षा से देखो कि वह उसकी भी दृष्टि से अच्छा है या नहीं? इस प्रकार दूसरे की दृष्टि से देखने पर तुम्हें ज्ञात होगा कि जिसे मैं

अपनी दृष्टि से अच्छी समझ रहा हूँ वह बात दूसरे की दृष्टि से अच्छी नहीं है। तुम जिसे अपना पिता मान रहे हो वह तुम्हारी अपेक्षा से पिता है, यह बात सत्य होते हुए भी वह दूसरों का भी पिता ही हो यह बात सत्य नहीं है। वह अपने पिता की अपेक्षा पुत्र भी है, अपने मामा की अपेक्षा भान्जा भी है और अपने भान्जे की अपेक्षा मामा भी है। इस प्रकार वही तुम्हारा पिता विभिन्न संबंधों की अपेक्षा पुत्र, मामा, भान्जा आदि अनेक रूप भी हैं। यही बात वस्तु स्वरूप में भी समझना चाहिए। वस्तु जहां द्रव्य दृष्टि से नित्य है, वहीं पर्याय दृष्टि से अनित्य भी है। द्रव्य दृष्टि से वह सत् होते हुए भी असत् या क्षणभंगुर भी है।

संसार के विभिन्न मतावलम्बियों का कथन उन अंधे पुरुषों के समान है जो कि हाथी के एक-एक अंग को पकड़ करके उसे ही पूरा हाथी मान लेते हैं। किन्तु चक्षुष्मान पुरुष को हाथी के सर्व अंग प्रत्यक्ष दीखते हैं, अतः वह उन अंधों को परस्पर में लड़ते झगड़ते देखकर उनकी कलह को दूर करने और हाथी का यथार्थ दर्शन एवं ज्ञान कराने के लिए यही कहेगा कि भाईयो तुम लोगों का कथन हाथी के विभिन्न अंगों की अपेक्षा सत्य है। परन्तु हाथी एक ही अंग रूप नहीं है किन्तु अनेक अंग वाला है। तुम लोगों ने उसके एक-एक अंग को ही पकड़ रखा है और आंखों के न होने से तुम्हें उसके अन्य अंग नहीं दीखते हैं। किन्तु जैसे तुम्हारे हाथ, पैर, मस्तक, उदर आदि अनेक अंग हैं और जिसका तुम स्वयं अनुभव करते हो उसी प्रकार हाथी के भी अनेक अंग हैं। अतः तुम सब अपना-अपना दुराग्रह छोड़कर और आपस में समन्वय कर के देखोगे तो तुम्हें ज्ञात हो जायगा कि अमुक अंग की अपेक्षा जैसे मेरा मानना सत्य है वैसे ही अन्य अंगों की अपेक्षा दूसरों का मानना भी सत्य है।

गौतम, यही बात वस्तु-स्वरूप के दर्शन में भी समान रूप से लागू होती है। यदि सब लोग एकान्तवाद का दुराग्रह छोड़कर अनेकान्तवाद का आश्रय लें तो फिर सब का भ्रम दूर हो जायेगा और वस्तु के स्वरूप का सब को यथार्थ दर्शन होने लगेगा।

अनेकान्तवाद यह पद तीन शब्दों के मेल से बना है इसमें “अन्त” शब्द धर्म-वाचक है और वाद का अर्थ बोलना या कथन करना है। प्रत्येक वस्तु अनेक धर्म वाली है अतः उसे अनेक धर्म रूप कहना ही अनेकान्तवाद है। यह अनेकान्तवाद सभी एकान्तवादियों का समन्वय करता है। जैसे- वस्तु को नित्य मानना द्रव्य दृष्टि से सत्य है वैसे ही उसे क्षणभंगुर या विनश्वर मानना पर्याय-दृष्टि से सत्य है। इस प्रकार अनेकान्तवाद एकान्तवादियों को वस्तु का यथार्थ स्वरूप दिखलाता है।

गौतम- भगवन्, स्यादवाद किसे कहते हैं?

महावीर- एक वस्तु के अनेक धर्मों का कथन एक साथ एक शब्द के द्वारा संभव नहीं है। एक शब्द के द्वारा कही गई वस्तु एक अपेक्षा से सत्य हो सकती है पर, सभी अपेक्षाओं से नहीं। इसी अपेक्षावाद के कथन को स्यादवाद कहते हैं।

‘स्यात्’ पद का अर्थ कथंचित् है। अर्थात् किसी अपेक्षा से वस्तु नित्य भी है और किसी अपेक्षा से वह अनित्य भी है। ऐसा कथन करना ही स्यादवाद है। इसी का दूसरा नाम अपेक्षावाद है।

गौतम- प्रमाणवाद किसे कहते हैं?

महावीर- अनन्त धर्मात्मक वस्तु के जानने वाले यथार्थ ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। प्रमाण की अपेक्षा वस्तु स्वरूप के कथन करने को प्रमाणवाद कहते हैं।

गौतम- नयवाद किसे कहते हैं?

महावीर- वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। उसके एक अंश के जानने वाले ज्ञान को नय कहते हैं। उस नय की अपेक्षा वस्तु-स्वरूप के प्रतिपादन करने को नयवाद कहते हैं। सत्य नयवादी अपनी अपेक्षा वस्तु के एक विवादित धर्म को मुख्य-रूप से कहता हुआ भी अविवक्षित धर्म का निषेध नहीं करता है किन्तु गौण रूप से उसे भी स्वीकार करता है। पर जो किसी एक धर्म को ही स्वीकार करके अन्य धर्म का निषेध करता है, या उसकी अपेक्षा नहीं रखता है वह नय नहीं, किन्तु कुनय या नयाभास है ।

गौतम- प्रमाणवाद और नयवाद में क्या अन्तर है?

महावीर- प्रमाणवाद वस्तु के समस्त धर्मों का एक साथ प्रतिपादन करता है और नयवाद विभिन्न नयों की अपेक्षा वस्तु के विभिन्न धर्मों का एक-एक करके प्रतिपादन करता है। वस्तु का कथन शब्दों के द्वारा ही किया जा सकता है, अतः जितने भी वचन बोलने के मार्ग हैं उतने ही नयवाद होते हैं। (1)

इस प्रकार स्वयं वस्तु-स्वरूप के यथार्थ दर्शन करने के लिए प्रमाणवाद और नयवाद की उपयोगिता है, तथा दूसरों को उस वस्तु का यथार्थ दर्शन कराने के लिए अनेकान्तवाद और स्याद्वाद की उपयोगिता है।

भगवान् के इन सूत्र रूप बीज पदों को सुनकर गौतम को श्रुत-ज्ञानावरण कर्म का विशिष्ट क्षयोपशम प्राप्त हुआ और उन्होंने प्रमाण, नय और स्याद्वाद विस्तृत ज्ञान प्राप्त कर लिया। तत्पश्चात् उन्होंने विस्तार के साथ इन सब का श्रुत ज्ञान के द्वादशांग में विवेचन किया जो आज दर्शन शास्त्र के ग्रन्थों में उपलब्ध है।

(1) जावइया वयणपहा तावइया चेव होंति णयवादा।

जावइया णयवादा तावइया चेव होंति वयणपहा॥ (सन्मति सूत्र, 3, गा0 47)

यह तो सर्व विदित है कि भगवान् महावीर के समय मगध देश का अधिपति श्रेणिक बिम्बसार था और मिथ्या धर्म का ही अनुयायी था। यतः महात्मा बुद्ध भगवान् महावीर से पहले प्रव्रजित हुए थे और उन्होंने भगवान् पार्श्वनाथ के सन्तानीय पिहितास्त्रव मुनि से जिन-दीक्षा ली थी। लगभग छह वर्ष तक जैन साधु की कठिन तपस्या करते हुए भी जब उन्हें कोई ऋद्धि-सिद्धि या विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई और वे उग्र तपस्या से घबरा गये तब उन्होंने जैन साधु वेष को छोड़ दिया और आत्मा परलोक आदि पर से उनका विश्वास उठ गया। किन्तु संसार अनित्य है, यहां कोई वस्तु स्थायी और सुखदायी नहीं है + अतः मनुष्य को सांसारिक क्लेशों से छूटने के लिये हिंसादि पापों को छोड़कर सत् कर्म करते रहना चाहिये, इस प्रकार का वे सर्व साधारण को उपदेश देते हुए विचरने लगे और रक्ताम्बर धारण कर अपने मन्तव्यों का प्रचार करने लगे।

जब बुद्ध अपने इन विचारों का प्रचार करते हुए राजगृह आये तब वहां का शासक श्रेणिक बिम्बसार उनके परिचय में आया और उनके उपदेश से प्रभावित होकर बुद्ध धर्म का अनुयायी हो गया। वैशाली के अधिपति महाराज चेटक- जो कि जन्म से ही जैन धर्म पालन करते थे और भ० पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रावक थे- तथा भ० महावीर के नाना थे- उनकी छोटी पुत्री चेलना के रूप पर मुग्ध होकर उसके साथ विवाह करने के लिए लालायित हुए। परन्तु चेटक किसी भी विधर्मी नरेश के साथ उसका संबंध करने के लिये तैयार नहीं थे, अतः श्रेणिक ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अभय कुमार को इसके लिए तैयार किया और उसने वैशाली जाकर और स्वयं छद्मवेश से जैन धर्मी बनकर तथा एकान्त में चेलना को श्रेणिक की ओर आकर्षित कर गुप्त रीति से उसे राजगृह ले आया और राजा श्रेणिक ने उसे अपनी पट्टरानी बना लिया।

विवाह होने के पश्चात् जब चेलना को ज्ञात हुआ कि श्रेणिक तो बुद्ध धर्म का अनुयायी और जैन धर्म का प्रबल द्वेषी है, तब वह मन ही मन बहुत दुःखी रहने लगी, पर वेचारी विवश थी। श्रेणिक एक ओर तो उसके रूप पर अति मुग्ध थे और अपना अधिकांश समय उसी के साथ बिताते थे, तथा अन्य रानियों के पास जाते तक न थे। किन्तु दूसरी ओर चेलना को चिढ़ाने जैन धर्म को छुड़ाने एवं बुद्ध धर्म को स्वीकार करने के लिए अनेक प्रकार के कुचक्र किया करते थे, तथा जैन साधुओं की भरपूर निन्दा और बौद्ध साधुओं की भूरि-भूरि प्रशंसा किया करते थे। जब कभी बौद्ध साधु विहार करते हुए राजगृह नगर आते

तो वे उनको आमंत्रित करते और उनके दिव्य ज्ञान की प्रशंसा करके चलना को ही उनके आहार कराने का भार सौंपते थे।

एक बार चलना ने भोजनार्थ आमंत्रित बौद्ध साधुओं की परीक्षा करने का निश्चय किया। यतः वह जैन धर्म पर अटल श्रद्धा रखने वाली थी, अतः उसने यह कहकर कि अभी भोजन तैयार होने में कुछ बिलम्ब है- आये हुए साधुओं को उपस्थान-शाला में बैठाकर राजा श्रेणिक के साथ धर्म-चर्चा करने के लिए कहा। इधर तो वे साधु श्रेणिक के साथ धर्म-चर्चा करने लगे और उधर चलना ने न साधुओं की एक-एक पाद-रक्षिका (जूती) को दासी के द्वारा मंगवाकर और उनके अत्यन्त छोटे-छोटे टुकड़े करवाकर खीर में पकवा दिया।

जब रसोई तैयार हो गई तब उसने साधुओं को भोजन के लिए बुलवाया और दिखाऊ भक्ति के साथ नाना प्रकार के स्वादिष्ट भोजन कराये। जब वे भोजन करके जाने लगे और अपनी एक-एक पाद-रक्षिका को यथा स्थान नहीं पाया तो वे इधर उधर ढूँढ़ने लगे। जब बहुत खोजने पर भी वे नहीं मिलीं, तब हंसती हुई चलना उनके सामने आई और बोली- आप लोग तो दिव्य ज्ञानी हैं, फिर अपनी ही पाद-रक्षिकाओं को भी नहीं ढूँढ़ पाये हैं? यह सुनकर और हत-प्रभ होकर वे लोग बोले - महारानी जी हम लोगों को ऐसा दिव्य ज्ञान कहाँ संभव है? वह तो हमारे गुरु बुद्ध-देव तक को भी नहीं है। यह सुनकर चलना बोली- जब आप अपने उदरस्थ अपनी ही वस्तु को नहीं जान सकते हैं तब दूसरों के पूर्व भवों का क्यों मिथ्या सम्भाषण किया करते हैं? चलना की यह बात सुनकर सभी साधुओं ने लज्जित होते हुए जो वमन किया तो पाद-रक्षिकाओं के चर्म -खण्ड उन्हें दृष्टिगोचर हुए। वे लोग इस अपमान को नहीं सहन कर सके और उन्होंने उपस्थान-शाला में जाकर चलना रानी के इस दुष्कृत्य को कहा और उसकी भरपूर निन्दा करते हुए वे यह कहकर चले गये कि आगे से हम लोग कभी आपके राज-भवन में नहीं आयेंगे।

उन बौद्ध साधुओं के जाते ही क्रोध से लाल होते हुए श्रेणिक चलना के पास आकर बोले - तूने हमारे धर्म गुरुओं के साथ ऐसा दुष्कृत्य क्यों किया? चलना हंसती हुई मधुर -वाणी में बोली- नाथ आप ही तो कहा करते थे कि हमारे धर्म गुरु बड़े दिव्य ज्ञानी हैं और तुम भी हमारे बुद्ध धर्म को अंगीकार करलो। मैंने भी कहा था कि यदि मेरी परीक्षा में वे खरे प्रमाणित होंगे तो मैं जैन-धर्म छोड़कर बुद्ध-धर्म को स्वीकार कर लूंगी।+ तदनुसार आज उनके दिव्य ज्ञान की परीक्षा करने के लिये मैंने यह कार्य किया है। श्रेणिक ने चलना की बात सुनकर मुख से तो कुछ नहीं कहा पर भीतर ही भीतर कुढ़कर रह गये और मन में

इसका बदला लेने का निश्चय किया। इसके बाद उन्होंने चेलना के शयनागार में आना जाना छोड़ दिया।

एक बार जब श्रेणिक वन-विहार करके लौट रहे थे तब एक निर्जन स्थान पर ध्यानावस्थित एक जैन साधु को देखा। देखते ही उनकी प्रतिशोधाग्नि भड़क उठी और बदला लेने के विचार से वे साधु के समीप गये। यद्यपि वे उसे जान से मार देने के भाव से गये थे, परन्तु साधु की प्रशान्त मुद्रा को देखकर और 'बुद्ध के जीवा नो हंतव्वा' इस उपदेस वाक्य का स्मरण कर कि किसी प्राणी को नहीं मारना चाहिये- उन्होंने वहीं समीप में किसी के द्वारा तत्काल के मारे हुए सांप को उनके गले में डाल दिया और मन ही मन हर्षित होते हुए वापिस राज-भवन आ गये।

तीन दिन के बाद जब श्रेणिक को साधु पर सांप डालने की बात याद आई तो वे प्रसन्न होते हुए रात्रि के समय चेलना के शयनागार में गये। कुछ देर तक प्रेमालाप करने के पश्चात् उन्होंने चेलना को चिढ़ाने के लिए अपने बदला लेने की बात कह सुनाई। सुनते ही चेलना बोली- नाथ, आपने यह क्या किया? यह दुष्कृत्य करके आपने घोरातिघोर पाप-कर्मों का बंध कर लिया है। श्रेणिक हंसते हुए बोले- प्रिये, वह सांप को फेंककर कभी का भाग गया होगा। चेलना बोली- स्वामिन, यदि वह सच्चा जैन साधु है तब अभी तक भी वह उसी प्रकार से ध्यानावस्थित होगा। क्यों कि जैन साधु इस प्रकार के उपसर्ग आने पर उनके दूर होने तक खान-पान तो दूर की बात है, हिलते डुलते तक भी नहीं हैं। श्रेणिक बोले- सुबह चलकर इसका निर्णय हो जायेगा।

प्रातःकाल होते ही चेलना के आग्रह पर उसे साथ लेकर और रथ में बैठकर श्रेणिक वहां पहुंचे तो साधु को तथैव ध्यानस्थ देखकर हत्-प्रभ हो कीलित से खड़े रह गये। सांप के घावों से निकले हुए रक्त की गन्ध पाकर असंख्य कीड़ियां साधु के शरीर पर चढ़ी हुई उसे खा रही थी। परन्तु साधु सुमेरु -वत् अडोल-अकम्प, प्रशान्त भाव के साथ आत्म-चिन्तन में निमग्न थे। चेलना हाहाकार करती हुई उनके समीप गई और हाथ से सांप को उठाकर दूर फेंक आई और कोमल वस्त्र से शरीर के ऊपर चढ़ी हुई कीड़ियों को उसने दूर किया। जब साधु ने देखा कि मेरा उपसर्ग दूर हो गया तब उन्होंने अपने नेत्र खोले। उनके नेत्र खोलते ही श्रेणिक उनके चरणों पर गिर पड़े और बार-बार पश्चाताप करते हुए अपने दुष्कृत्य के लिए क्षमा मांगने लगे।

जब साधु ने अपने सामने उपस्थित श्रेणिक और चेलना को क्षमायाचना करते हुए देखा तो मन्द स्मित पूर्वक मधुर प्रशान्त वाणी में बोले- राजन्, इसमें आपका कोई अपराध नहीं है। मेरे ही पूर्व कर्मों का तीव्र उदय आ गया था सो उसमें आप निमित्त बन गये। मैं तो इससे बहुत प्रसन्न हूँ कि कर्म का जो फल दीर्घकाल तक मुझे भोगना पड़ता उससे मैं अल्प काल में मुक्त हो गया हूँ।

इस घटना ने राजा श्रेणिक के ऊपर भारी प्रभाव डाला। कुछ दिनों के पश्चात् भगवान् का समवशरण विपुलाचल पर्वत पर आया जैसे ही यह समाचार रानी चेलना के कानों तक पहुंचा तो वह श्रेणिक को साथ लेकर भ0 महावीर की वन्दना के लिए गई। जब श्रेणिक समवशरण के समीप पहुंचे और वहां की अलौकिक शोभा देखी तो आश्चर्यचकित होकर रह गये। जैसे ही समवसरण में प्रवेश कर भगवान् के सामने पहुंचे तो उनकी प्रशान्त मुद्रा को देखकर नतमस्तक हो तीन बार प्रदक्षिणा देकर और नमस्कार कर यथा स्थान बैठ गये। भगवान् की देशना सुनते हुए श्रेणिक के हृदय में एक अन्तर्द्वन्द चल रहा था कि मुनि के गले में सांप डालकर जो मैंने महा पाप उपार्जन किया है उससे मैं कैसे मुक्त हो सकूंगा?

भगवान् से यह अन्तर्द्वन्द छिपा न रहा और उन्होंने श्रेणिक को संबोधित करते हुए कहा- अहो श्रेणिक, साधु के गले में सांप डालकर दुर्भावों के द्वारा जो नरक-आयु का महान बंध कर लिया है, उससे तो छुटकारा होना असंभव है। किन्तु यदि तुम शुद्ध हृदय से अपने दुष्कृत्य की आलोचना करोगे तो वह घट कर अवश्य अल्प स्थिति वाला हो जायगा, तथा भविष्य के सुन्दर निर्माण के लिए मार्ग प्रशस्त हो जायगा।

बुद्ध-धर्म से प्रभावित होने के कारण श्रेणिक अभी तक आत्मा, परलोक और स्वर्ग-नरकादिक को नहीं मानते थे। अतः उन्होंने सर्व प्रथम भगवान् से पूछा- भगवन्, यह आत्मा क्या वस्तु है? और परलोक या स्वर्ग-नरकादिक क्या संभव हैं? मेरे विचार से तो यह दृश्यमान जगत् पानी में बबूलों के समान यों ही उत्पन्न होता और विनष्ट होता रहता है। उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। कृपा कर मुझे समझाइये कि ये सब क्या वस्तुएं हैं। श्रेणिक के ऐसा पूछने पर भगवान् ने आत्मा का अस्तित्व, परलोक और पुण्य-पाप का विस्तार से वर्णन किया, जिसे सुनकर उनका सन्देह दूर हो गया और उन्होंने जैन-धर्म को अंगीकार कर लिया।

आत्म-सिद्धि

यह पहले बतलाया गया है कि गौतम को जीव के विषय में शंका थी और वे उसे कोई स्वतन्त्र द्रव्य न मान कर पृथ्वी आदि भूतों से उत्पन्न होने वाली और पुनः उन्हीं में विलीन होने वाली वस्तु ही मानते थे। नास्तिक मती चार्वाक और प्राचीन या अर्वाचीन अनेक दार्शनिक लोग आज भी आत्मा को कोई स्वतन्त्र पदार्थ न मान कर पृथ्वी आदि भूतों से उत्पन्न हुआ ही मानते हैं। राजा श्रेणिक को भी आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व में शंका थी। अतः शंका समाधान द्वारा आत्मा की सिद्धि की जाती है।

शंका- पृथ्वी भूत चतुष्टय या भूत-पंचक+ के अतिरिक्त प्रथक् आत्मा नाम की कोई वस्तु दिखाई नहीं देती है। अतः आत्मा को स्वतन्त्र वस्तु मानना ठीक नहीं है?

समाधान- यह ठीक है कि आत्मा इन्द्रियों से दिखाई नहीं देती है किन्तु स्व-संवेदन प्रत्यक्ष से उसकी प्रतीति सभी प्राणियों को होती है। स्व-संवेदन या अनुभव सब प्रमाणों में श्रेष्ठ प्रमाण है। प्रत्येक आत्मा को मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं इत्यादि रूप से अनुभव शरीर से भिन्न ही होता है इसलिए आत्मा शरीर से भिन्न है। दूसरी बात यह है कि दो वस्तुओं का भेद उनके गुण-धर्म के भेद से ही सिद्ध होता है। आज तक वैज्ञानिक लोग सौ से अधिक तत्त्व (Elements) मानते हैं। एक तत्त्व दूसरे रूप में परिवर्तित नहीं हो सकता। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व की विभिन्नता पृथक् गुण-धर्म से ही ज्ञात होती है। इन तत्त्वों में से ऐसा कौन सा तत्त्व है जिसमें चैतन्य पाया जाता हो? यदि ऐसा कोई तत्त्व नहीं है तो आत्मा को उन सब से एक भिन्न ही पदार्थ मानना पड़ेगा।

शंका- यद्यपि पृथ्वी आदि किसी एक तत्त्व में चैतन्य नहीं है फिर भी अनेक तत्त्वों के सम्मिश्रण से चैतन्य प्राप्त होता है। जैसे कि शरीर को पैदा करने वाले एक-एक वस्तु में मादकता नहीं होती, किन्तु उन सब के मिश्रण से मादकता पैदा हो जाती है।

समाधान- मादकता कोई नई वस्तु नहीं है। प्रत्येक खाद्य पदार्थ में वह मादकता पाई जाती है। रोटी आदि में भी मादकता होती है। इसी कारण भोजन करने के बाद निद्रा आलस्य आदि उत्पन्न होते हैं। जिन वस्तुओं से शराब बनती है उनमें भी मादकता है। वही उन वस्तुओं के सम्मिश्रण से अधिक प्रमाण में प्रकट होती है। वस्तुतः यह कोई भिन्न जाति की शक्ति नहीं है जो नई पैदा हुई हो। खाने-पीने की सात्विक वस्तुओं में यह मादकता अल्प मात्रा में होती है। इसलिए हम उसका वेदन नहीं कर पाते। तामसिक या पौष्टिक खाद्य-पदार्थों में वह

मादकता अधिक परिमाण में होती है तब उसे निद्रा, तन्द्रा आलस्य आदि नामों से कहते हैं। महुआ आदि जिन पदार्थों से शराब बनाई जाती है उन में वह मादकता प्रचुर परिमाण में पाई जाती है और फिर उसके समुदाय से अनेक दिनों तक सड़ने एवं अन्य वस्तुओं के सम्मिश्रण से वह विपुलता के साथ प्रकट होती है। इसलिए उसमें मादकता या नशा का अनुभव होने लगता है। पर यथार्थ में वह कोई भिन्न वस्तु नहीं है।

दूसरे जो शक्ति भिन्न-भिन्न अणुओं में नहीं होती है वह उनके समुदाय रूप स्कन्ध में भी नहीं पाई जा सकती ऐसा विज्ञान का नियम है। साथ ही विज्ञान का यह भी सिद्धान्त है कि शक्ति (Energy) न तो नई पैदा होती है और न उसका विनाश होता है। इसलिए मदिरा में कोई नई शक्ति नहीं मानी जा सकती। वह महुआ आदि की शक्तियों का रूपान्तर मात्र है। अब यह विचारणीय है कि चैतन्य किस शक्ति का रूपान्तर है? पुद्गल (Matter) में जितने गुण उपलब्ध होते हैं उनमें कोई भी गुण ऐसा नहीं है जिसका रूपान्तर 'चैतन्य' कहा जा सके। यहां यह बात स्मरण रखना चाहिये कि एक गुण का रूपान्तर कभी दूसरे गुण-रूप नहीं होता। काले रंग का नीला रंग हो जायगा। परन्तु रहेगा रंग का रंग ही रस नहीं बन जायगा। इसी प्रकार रस का रूपान्तर रस, गंध का रूपान्तर गंध, और स्पर्श का रूपान्तर स्पर्श ही होगा। रस, गंध, स्पर्श और रूप का रूपान्तर ज्ञान या चैतन्य नहीं हो सकता। इसलिए मानना चाहिये कि ज्ञान या चैतन्य एक स्वतन्त्र गुण है। वह किसी अन्य रूपादि गुण का रूपान्तर नहीं है। अतएव वह न उत्पन्न ही हो सकता है और न विनष्ट ही। क्यों कि शक्ति का उत्पाद और विनाश नहीं होता।

शंका- जब हमारे शरीर को किसी पदार्थ की ठोकर लगती तब त्वचा के समीपवर्ती स्नायुओं में कम्पन पैदा होता है। शरीर के प्रत्येक भाग के स्नायुओं का सम्बन्ध मस्तिष्क के साथ है। इसलिए त्वचा के समीपवर्ती प्रत्येक कम्पन का प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ता है, जिससे हमें वेदन होता है। मस्तिष्क के ऊपर पड़ने वाला यह प्रभाव ही चैतन्य है। इसलिए इसे पृथक् वस्तु नहीं माना जा सकता।

समाधान- स्नायुओं की प्रक्रिया ठीक है परन्तु उससे चैतन्य का पृथक् अस्तित्व नष्ट नहीं होता। स्नायुओं से मस्तिष्क में कम्पन हो सकता है, उसके आकार में सूक्ष्म परिवर्तन हो सकता है, परन्तु आकार का सूक्ष्म परिवर्तन या कम्पन चैतन्य नहीं है। यदि कम्पन का नाम चैतन्य हो तब तो सभी पदार्थ सचेतन कहलाएंगे। कम्पन से चैतन्य हुआ, यह एक बात है

और कम्पन से चैतन्य प्रकट हुआ कहा जा सकता है किन्तु कम्पन को चैतन्य नहीं कह सकते। चैतन्य प्रकट होने में कम्पन निमित्त कारण है।

हमें जो वेदन या अनुभव होता है उसका निमित्त कारण मस्तिष्क है। क्यों कि मस्तिष्क के 'मैटर' में जितने रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि गुण धर्म हैं उनमें से चैतन्य किसी का भी विकार नहीं है। कारण कि चैतन्य किसी रूप रस आदि का नाम नहीं है। स्नायु-प्रक्रिया से हम वेदन या अनुभव के निमित्त कारणों का परिज्ञान कर सकते हैं किन्तु उपादान कारण का हमें पता नहीं लग सकता है। इतने पर से यह नहीं कहा जा सकता कि वहां कोई उपादान कारण नहीं है। उपादान कारण है तो, परन्तु वह अदृश्य है और अदृश्य होने से उसका अभाव नहीं माना जा सकता। (जो कारण स्वयं कार्य-रूप परिणत होता है उसे उपादान कारण कहते हैं जैसे- घड़े के लिए मिट्टी उपादान कारण है। जो कारण कार्यरूप परिणत नहीं होते, किन्तु सहायक मात्र होते हैं उन्हें निमित्त कारण कहते हैं। जैसे घड़े के लिए कुम्हार, दण्ड, चक्र आदि)

अनेक पदार्थ ऐसे हैं कि जिनके विषय में हम ठीक ठीक कुछ भी नहीं जानते फिर भी उनके कार्य का अनुभव करते हैं। जैसे- विद्युत (बिजली) विद्युत क्या है? इसका वैज्ञानिक जगत कुछ भी उत्तर नहीं दे पाया है। फिर भी विद्युत के कार्य प्रकाश, गति आदि का हमें परिज्ञान होता है और उससे हम अनेक प्रकार के काम भी लेते हैं। इसी प्रकार सुख दुःख-संवेदन या अन्य पदार्थ के परिज्ञान का उपादान कारण आत्मा क्या है? इसके विषय में भले ही हम कुछ न कह सकें, फिर भी वह एक भिन्न पदार्थ है। यह हमें मानना पड़ता है। जब कि चैतन्य मस्तिष्क के गुण का रूपान्तर नहीं है (भले ही मस्तिष्क के गुण उस व्यक्ति में निमित्त होते हैं) तो वह अन्य किसी का रूपान्तर है। यह मानना पड़ता है। जिसका यह रूपान्तर है वही आत्मा है। वह हमारे लिए अदृश्य या अवक्तव्य भले ही हो परन्तु विद्युत के समान अनुमेय अवश्य है। दो पदार्थों के संघर्षण या सम्मिश्रण से विद्युत पैदा होती है। परन्तु हम संघर्षण या सम्मिश्रण को विद्युत नहीं कह सकते। संघर्षण और सम्मिश्रण तो उसका निमित्त कारण है। इसी प्रकार स्नायु मस्तिष्क आदि की क्रिया को हम चैतन्य नहीं कह सकते हैं। वह तो उसका निमित्त कारण है।

शंका- रूप, रस, गंध और स्पर्श आदि का विकार चैतन्य नहीं है वह प्रथक गुण है, यह बात ठीक है। परन्तु जिस प्रकार पुद्गल में रूपादि गुण हैं उसी प्रकार उसमें एक चैतन्य गुण भी मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है? पुद्गल का प्रत्येक परमाणु चैतन्य है, किन्तु जिस

प्रकार परमाणु सूक्ष्म होने से उसके रूपादि गुण अदृश्य रहते हैं उसी प्रकार परमाणु में रहने वाले चैतन्य की मात्रा भी इतनी अल्प होती है कि हमें ज्ञात नहीं होती। किन्तु जब वे परमाणु मस्तिष्क आदि के रूप में बहुत से एकत्रित हो जाते हैं तब उनका चैतन्य विशाल रूप में प्रतीक होने लगता है। इस प्रकार चैतन्य एक प्रथक गुण होने पर भी वह पुद्गल से भिन्न आत्म द्रव्य को सिद्ध नहीं कर सकता।

समाधान- गुण के भेद से ही गुणी में भेद माना जाता है। इसलिए जब तक पुद्गल परमाणुओं में चैतन्य सिद्ध न हो जाय तब तक चैतन्य वाला द्रव्य एक नया द्रव्य ही मानना पड़ेगा। परमाणु को हम किसी भी इन्द्रिय से ग्रहण नहीं कर सकते। जो पिण्ड इन्द्रियों से ग्रहण होते हैं उनके टुकड़े होते हुए हम देखते हैं। इसलिए हम अनुमान करते हैं कि इनका कोई सबसे छोटा टुकड़ा भी होगा। पुद्गल का जो सबसे छोटा टुकड़ा है वही परमाणु है। कोई गुण नया नहीं पैदा होता। इसलिए परमाणु पिण्ड रूप स्कन्धों में जितने गुण पाये जाते हैं उतने ही गुण परमाणुओं में माने जाते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि स्कन्धों में हम जितने गुण सिद्ध कर सकते हैं उससे एक भी अधिक गुण परमाणुओं में नहीं कह सकते। जब परमाणु अदृश्य है तब किसी गुण की सत्ता पहले स्कन्धों में ही सिद्ध करना चाहिए। परमाणुओं के गुणों से स्कन्ध में गुण सिद्ध नहीं किये जा सकते। किन्तु स्कन्ध के गुणों से परमाणु में गुण सिद्ध किये जा सकते हैं। साधारण स्कन्धों में चैतन्य सिद्ध नहीं होता इसलिए परमाणुओं में चैतन्य कैसे माना जा सकता है? जिन मस्तिष्क स्कन्धों में चैतन्य प्रतीत होता है उनके विषय में यह विवाद ही चल रहा है कि वह चैतन्य उन स्कन्धों का है अथवा उनसे विभिन्न किसी दूसरे द्रव्य का? मस्तिष्क में चैतन्य तभी सिद्ध हो सकता है जब कि परमाणुओं में चैतन्य सिद्ध हो जाय। और परमाणुओं में चैतन्य तभी सिद्ध हो सकता है जब कि मस्तिष्क आदि में चैतन्य सिद्ध हो जाय। जब तक यह अन्योन्यात्रय दोष दूर न हो जाय, तब तक गुण के भेद से गुणी में भेद होता है, इस न्याय के नियम के अनुसार चैतन्य वाले पदार्थ को एक भिन्न द्रव्य ही मानना पड़ेगा ।

इसके अतिरिक्त यदि रूप रस आदि के समान परमाणुओं में चैतन्य माना जायगा तो सर्वव्यापी एक अनुभव न होगा। बहुत से परमाणु मिलकर के एक पिण्ड रूप भले ही हो जावें, परन्तु एक परमाणु का रूप दूसरे परमाणु का नहीं बन सकता। और न सब परमाणुओं का रूप एक बन सकता है। प्रत्येक परमाणु के गुण भिन्न-भिन्न हैं और वे सदा भिन्न ही रहते हैं। ऐसी दशा में शरीर के प्रत्येक अवयव का या परमाणु का चैतन्य भिन्न-भिन्न होगा।

किन्तु क्रोध, मान, माया, लोभ, हर्ष शोक, सुख, दुःख आदि आत्मा की जितनी वृत्तियां हैं, वे शरीर के प्रत्येक परमाणु की भिन्न-भिन्न नहीं हैं। किन्तु सर्व शरीर में एक समय एक ही वृत्ति होती है। अतएव सिद्ध होता है कि ये वृत्तियां परमाणुओं की नहीं हैं। किन्तु सर्व शरीर में व्यापक किसी अन्य वस्तु की है। उस व्यापक और खण्ड अखण्ड वस्तु का नाम आत्मा है।

शंका- सर्व शरीर में जो चैतन्य का अनुभव होता है वह भ्रम है। चैतन्य का अनुभव तो केवल मस्तिष्क में होता है किन्तु मस्तिष्क से संबंध रखने वाला नाड़ी-जाल सारे शरीर में फैला हुआ है। इसलिए सारे शरीर में चैतन्य प्रतीत होता है?

समाधान- मस्तिष्क भी एक परमाणु का बना हुआ नहीं है। वह भी अगणित परमाणुओं का पिण्ड है। इसलिए मस्तिष्क का भी एक चैतन्य नहीं कहा जा सकता किन्तु मस्तिष्क में जितने परमाणु हैं एक समय में उतने ही क्रोध, मान, आदि भाव होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता है। इसलिए अन्त में जाकर सारे शरीर में व्यापक एक अखण्ड तत्त्व मानना पड़ता है।

शंका- अनेक परमाणु मिलकर जब बन्ध जाते हैं तब उनके गुण एक रूप प्रतीत होते हैं। जैसे मिश्री की एक डली का स्वाद एक प्रतीत होता है। यद्यपि मिश्री की डली के प्रत्येक परमाणु का स्वाद भिन्न-भिन्न है। इसी प्रकार मस्तिष्क के या शरीर के प्रत्येक परमाणु का चैतन्य तो भिन्न-भिन्न है, किन्तु सब परमाणुओं के पारस्परिक बन्ध के कारण वह एक रूप प्रतीत होता है।

समान- स्कन्धों में गुणों की प्रतीति एक रूप होने लगती है यह बात मिथ्या है। एक ही स्कन्ध में अनेक रूप रस आदि पाये जाते हैं। एक ही आम किसी अंश में हरा और किसी अंश में पीला होता है, ऊपर मीठा और गुठली पर खट्टा होता है। जिन स्कन्धों में हमें अंश-अंश गत विशेषता नहीं प्रतीत होती है वहां भी सदृशता होती है, एकता नहीं। मिश्री की डली का एक अंश दूसरे अंश के समान है, एक नहीं। मस्तिष्क के परमाणु यदि एक सदृश हैं तो उनका चैतन्य एक सदृश होगा, एक नहीं। परन्तु एक सदृश्य भी हम तब कहें जब वहां बहुत से चैतन्य हों। समानता बहुतों में होती है, एक में नहीं।

इस विषय में एक और महत्वपूर्ण बात कही जा सकती है- दूसरे पदार्थ के ज्ञान में हमें अनेक में एक का भ्रम हो सकता है क्यों कि दूसरे पदार्थ का ज्ञान हमें इन्द्रियों के द्वारा करना पड़ता है। और इन्द्रियों की तुला (तराजू) इतनी स्थूल है कि प्रत्येक परमाणु की तौल

उससे नहीं की जा सकती। परन्तु स्वानुभव में यह बात नहीं है। स्वानुभव चैतन्य का निर्विवाद-स्वरूप है। जहां चैतन्य अभिव्यक्त होता है वहां पर अन्य वस्तु का ज्ञान हो या न हो, परन्तु अपना ज्ञान तो होता ही है। इसलिए मस्तिष्क या शरीर के प्रत्येक परमाणु को अपना अनुभव होगा। दो का स्वानुभव कभी एक नहीं हो सकता। यदि मस्तिष्क का प्रत्येक परमाणु अपना-अपना अनुभव करता तो समग्र शरीर की या सम्पूर्ण मस्तिष्क की जो एक वृत्ति पाई जाती है वह किसकी मानी जायगी? वह अखण्ड वृत्ति एक परमाणु की तो कही नहीं जा सकती। अन्यथा शेष परमाणु निरर्थक पड़ जायेंगे। और सब मिलकर एक स्वानुभव कर नहीं सकते क्यों कि चैतन्य को प्रत्येक परमाणु का स्वतन्त्र गुण कहा जा सकता है, न कि संयोगज-कार्य । इस प्रकार चैतन्य एक स्वतन्त्र गुण है और तद्वान् गुणी भी स्वतन्त्र है उसी को आत्मा जीव आदि नामों से कहते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त युक्तियों से यह बात निश्चित हो जाती है कि जीव पंच-भूतों से या जड़ तत्त्वों से एक भिन्न ही सचेतन तत्त्व है और उसकी प्रत्यक्ष प्रतीति स्वसंवेदन से होती है।

भगवान् ने उस जीव का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है-

अरसमरूवमगंधं अव्वतं वेदणागुणमसदं।

जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्विट्ठसंठाणं॥ (प्रवचनसार, 2-80)

जिसमें न कोई रस है, न रूप और न किसी प्रकार की गंध है अतएव अव्यक्त है, शब्द रूप भी नहीं है, किसी भौतिक चिन्ह से भी जिसे नहीं जाना जा सकता और न जिसका कोई निर्दिष्ट आकार ही है उस चैतन्य गुण विशिष्ट द्रव्य को जीव कहते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि जिसका चेतना गुण है वह जीव द्रव्य है। वह द्रव्य से भिन्न है। क्यों कि उसमें रूप, रस, गंध और आकार होता है। यह जीव चैतन्य स्वरूप है। अर्थात् जानने देखने रूप उपयोग वाला है। अमूर्त है। अपने कर्मों का कर्ता है। उनके फल का भोक्ता भी है। और कर्मोदय से प्राप्त शरीर के बराबर है।

जीव का असाधारण लक्षण चेतना है और वह चेतना ज्ञान दर्शन स्वरूप है। अर्थात् जो जानता और देखता है वह जीव है। जीव में मूर्तिक रूप, रस आदिक गुण नहीं पाये जाते अतः वह अमूर्त है। यह जीव अपने द्वारा बांधे गये कर्मों के फल को भोगते समय जिन भावों से परिणत होता है उन अपने भावों का कर्ता कहा जाता है। वस्तुतः जीव अपने भावों

का कर्ता है उसी प्रकार उनका भोक्ता भी है। यदि आत्मा सुख दुःख का भोक्ता न हो तो सुख दुःख की अनुभूति ही नहीं हो सकती और अनुभूति चैतन्य का धर्म है। जीव कर्मोदय से जब जैसा छोटा बड़ा शरीर पाता है तब वह उस शरीर प्रमाण रहता है। क्यों कि जीव के प्रदेशों में संकोच और विस्तार की शक्ति है। जैसे दीपक छोटे या बड़े जिस स्थान में रखा जाता है उसका प्रकाश उसके अनुसार ही या तो संकुचित हो जाता है या फैल जाता है। उसी प्रकार आत्मा भी प्राप्त हुए छोटे या बड़े शरीर के आकार का हो जाता है। किन्तु प्रदेशों के संकोच होने पे उनमें कोई कमी नहीं होती और न विस्तार होने पर कोई वृद्धि ही होती है। आत्मा के प्रदेश सभी अवस्थाओं में असंख्यात ही रहते हैं। सुख दुःख आदि के वेदन सर्वांग में ही होता है और शरीर बाहर नहीं होता। अतः आत्मा शरीर प्रमाण ही है।

कुछ लोग आत्मा को अणु-प्रमाण या वट-कणिका प्रमाण मानते हैं परन्तु उनका यह कथन उचित नहीं है क्यों कि सर्वांग में ही सुख-दुःख आदि का संवेदन होता है। इसी प्रकार कुछ लोग आत्मा को सर्व व्यापक मानते हैं। उनका भी कहना ठीक नहीं है। क्यों कि शरीर से बाहर किसी को भी अपने सुख दुःखादि की प्रतीति नहीं होती है। इसलिए आत्मा न अणु परमाणु मात्र है और न सर्व व्यापक ही। किन्तु शरीर प्रमाण ही है।

आत्मत्व से परमात्मत्व की ओर

जब से श्रेणिक को यह ज्ञात हुआ कि मेरे दुर्मोच-नरकायु-कर्म बंध गया है, तब से वे सांसारिक कार्यों में उद्विग्न से रहने लगे और जब तक भगवान् विपुलाचल के पर्वत पर विराजे तब तक प्रतिदिन उनकी देशना सुनने को जाते और अपनी शंकाएं कह कर भगवान् से उनका समाधान प्राप्त करने लगे। भगवान् के सम्पर्क में आने के पूर्व तक वे यतः बुद्ध के अनुयायी थे और बुद्ध ने आत्मा, पर-लोक और मुक्ति आदि को अव्याकृत कह कर उन पर अपना कोई निश्चित मन्तव्य नहीं प्रकट किया था, अतः उन्हीं को जानने के लिए श्रेणिक की जिज्ञासा उत्तरोत्तर बढ़ने लगी।

एक दिन उन्होंने पूछा- भगवन्, यह बताइये कि सांसारिक मोह-जाल में पड़े इस आत्मा का उद्धार कैसे हो सकता है?

भगवान् ने कहा- श्रेणिक सांसारिक मोह-जाल में फंसने का प्रधान कारण आत्म-विषयक अज्ञान और वस्तुस्वरूप-विषयक मिथ्या धारणा है। जब तक जीव इस अज्ञान और मिथ्या-धारणा रूप मिथ्यात्व को दूर नहीं करेगा तब तक उसका उद्धार सम्भव नहीं है।

श्रेणिक- भगवन्, यह मिथ्यात्व क्या वस्तु है?

भगवान्- श्रेणिक, मिथ्यात्व का अर्थ है- मिथ्या या विपरीत दृष्टि। अर्थात् विपरीत श्रद्धा को मिथ्यात्व कहते हैं। यह जीव जब अपने आत्म-स्वरूप को भूलकर शरीर आदि पर द्रव्य में आत्म-बुद्धि करता है, तब इसके समस्त विचार और क्रियाएं शरीराश्रित व्यवहारों में उलझी रहती हैं। लौकिक यश लाभ आदि की दृष्टि से यह धर्म का आचरण करता है पर इसे स्व-पर-विवेक नहीं रहता। पदार्थों के स्वरूप में भ्रान्ति बनी रहती है। कल्याण के मार्ग में इसकी सच्ची श्रद्धा नहीं होती। यह मिथ्यात्व गृहीत और अनुगृहीत के भेद से दो प्रकार का है। अनादि कालीन मिथ्या धारणा-वश जो अज्ञान और यथार्थ श्रद्धा का अभाव होता है वह अगृहीत मिथ्यात्व है और जो कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु के उपदेशादि द्वारा अतत्त्व श्रद्धान् होता है वह गृहीत मिथ्यात्व है। इन दोनों ही मिथ्यात्वों से इसे तत्त्व-रुचि जागृत नहीं होती और वह अनेक प्रकार की देव, गुरु तथा लोक-मूढ़ताओं को धर्म मानता है। अनेक प्रकार के ऊंच-नीच भेदों की सृष्टि कर के मिथ्या अहंकार का पोषण करता है। वह जिस किसी रागी द्वेषी और असर्वज्ञ देव को, जिस किसी भी वेष-धारी पाखण्डी गुरु को तथा सांसारिक विषय-पोषक जिस किसी भी शास्त्र को भय, आशा, स्नेह और लोभ से मानने को तैयार हो जाता

है। न उसका कोई सिद्धान्त होता है और न व्यवहार। थोड़े से प्रलोभन से वह सभी अनर्थ करने को प्रस्तुत हो जाता है। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि तप और शरीर के मद से उन्मत्त रहता है और दूसरों को तुच्छ समझकर उनका तिरस्कार करता है। भय स्वार्थ घृणा पर-निन्दा आदि दुर्गुणों का केन्द्र होता है। इसकी समस्त प्रवृत्तियों के मूल में स्वरूप-विभ्रम और मिथ्या धारणा रहती है। उसे आत्म-स्वरूप का कोई भान नहीं होता। अतः वह बाह्य पदार्थों में लुभाया रहता है। इस अज्ञान-मूलक मिथ्या धारणा और श्रद्धा को ही मिथ्यात्व कहते हैं।

जब तक जीव की यह मिथ्या-दृष्टि या विपरीत श्रद्धा रहेगी तब तक उसका ज्ञान भी अज्ञान या मिथ्या ज्ञान ही है और उसकी सभी प्रवृत्तियां भी मिथ्यात्व रूप ही बनी रहती हैं। इसका कारण यह है कि मिथ्या-दृष्टि जीव के जो भी आचार और विचार होते हैं वे सब सांसारिक मोह-जाल में उलझाने वाले ही होते हैं, सुलझाने वाले नहीं। इस मिथ्या श्रद्धान् ज्ञान और आचरण का नाम ही क्रमशः मिथ्या-दर्शन, मिथ्या-ज्ञान और मिथ्या-चारित्र्य है। अनादि काल से प्रत्येक जीव इस मिथ्या-त्रयी से ग्रस्त है, अतः इस जन्म-मरण रूप संसार में नाना योनियों के भीतर दुःखों को भोगता हुआ जा रहा है। इस मिथ्या-त्रयी को ही मिथ्यात्व कहते हैं।

श्रेणिक- भगवन्, इस मिथ्यात्व से छूटने का उपाय बताइये?

भगवान्- श्रेणिक, इस मिथ्यात्व से छूटने के लिए यह आवश्यक है कि आत्मा का यथार्थ श्रद्धान किया जाय, उसके स्वरूप को भली-भांति से जाना जाय और तदनुकूल सम्यक् प्रवृत्ति की जाय। इन्हें ही क्रमशः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य कहते हैं।

सम्यग्दर्शन

श्रेणिक- भगवन्, सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं?

भगवान्- मैं क्या हूं, मैं कभी सुखी और दुःखी क्यों होता हूं, मुझे यह भव-भ्रमण क्यों करना पड़ता है, भव क्या है, और उसकी उत्पत्ति कैसे होती है? मुक्ति क्या है और उसकी प्राप्ति कैसे होती है? इत्यादि बातों की यथार्थ जानकारी होने पर चित्त में आत्मतत्त्व का जो दर्शन या साक्षात्कार होता है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। जब तक जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता तब तक उसकी समस्त क्रियाएं दिग्मूढ नाविक के समान विपरीत दिशा में ही होती रहती हैं। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए जहां सदुपदेश का सुनना, कषायों का मन्द करना

और विवेक करना आवश्यक है वहीं उसके आठ अंगों का धारण करना भी आवश्यक है। वे आठ अंग इस प्रकार हैं- निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ-दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना। इनका स्वरूप इस प्रकार है-

मैं अजर-अमर हूं, मेरे सुख दुःख का विधाता दूसरा कोई नहीं किन्तु मैं ही हूं। मैं सब पर-वस्तुओं से भिन्न, अखण्ड ज्ञान-दर्शन-स्वरूप हूं, इस प्रकार की दृढ़ श्रद्धा का होना और उसमें किसी भी प्रकार की शंका नहीं करना निःशंकित गुण है। इस गुण की प्राप्ति होने पर जीव को किसी भी प्रकार का लौकिक या पारलौकिक भय नहीं रहता। यहां तक कि वह मरण से भी निर्भय रहता है। वह मरण को शरीर का परिवर्तन मात्र समझने लगता है।

दूसरा निःकांक्षित अंग है। यतः सम्यग्दृष्टि पुरुष वस्तु-स्वरूप से भलीभांति परिचित हो जाता है और संसार के किसी भी पदार्थ को अपना नहीं मानता है, अतः वह सभी लौकिक कार्यों को अनासक्त-भाव से करने लगता है। एवं अपने दैनिक कर्तव्यों को सावधानी पूर्वक करते हुए भी उनसे किसी भी प्रकार के लौकिक या पार-लौकिक लाभ की आकांक्षा नहीं रखता।

तीसरा अंग निर्विचिकित्सा है। विचिकित्सा नाम ग्लानि या घृणा का है। सम्यग्दृष्टि पुरुष किसी भी प्राणी से घृणा नहीं करता, क्यों कि वह सब में अपने समान ही आत्माराम का निवास देखता है। वह सचेतन प्राणियों की तो बात ही क्या, अचेतन अनिष्ट और अपवित्र मल-मूत्रादि जैसी गन्दी वस्तुओं से भी घृणा वहीं करता। प्रत्युत यह मानता है कि अन्न, दूध केशर कपूर इलायची और जल जैसे उत्तम और निर्मल सुगन्धित पदार्थ भी उस अशुचि शरीर के संसर्ग से ही अशुद्ध और गन्दे हो जाते हैं इस कारण सम्यग्दृष्टि जीव किसी से भी घृणा नहीं करता और सभी प्राणियों को अपने समान मानता है। उसकी दृष्टि में कोई प्राणी अछूत नहीं है। वह केवल बुरे कार्य करने को और काम क्रोधादि विकारी भावों को ही अछूत मानता है। और उनसे बचने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

चौथा अंग अमूढ दृष्टि है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाने पर जीव की दृष्टि मूढ़ता और अज्ञान से रहित हो जाती है अतएव उसकी समस्त क्रियाएं विवेकयुक्त होने लगती हैं। वह मूढ़ता पूर्ण सभी लौकिक निःसार रुष्टियों का परित्याग कर देता है। वह कुल-परम्परागत देवी-देवताओं की उपासना पूजा में सत्य का अन्वेषण करने लगता है। इस गुण के कारण सम्यक्त्वी जीव ज्यों-ज्यों वस्तु स्वरूप का और उनके कार्य-कारण सम्बन्ध का विचार करता है त्यों-त्यों उसे अनुभव होने लगता है कि यह जगत अनादिनिधन है, इसे

किसी ने बनाया नहीं है, यह स्वयं वृक्ष-बीज की सन्तान परम्परा के समान अनादि से चला जा रहा है और अनन्त काल तक चला जायगा। इसके अतिरिक्त वह यह भी अनुभव करने लगता है कि मुझे कोई दूसरा सुख दुःख नहीं देता, किन्तु मेरे ही भले-बुरे कार्य मुझे सुख दुःख देते हैं। इसी विश्वास के बल पर वह ईश्वर से भी छुटकारा पा लेता है जिसके विषय में कहा जाता है कि “ यह अज्ञ प्राणी अपने सुख दुःख में अनीश है”- स्वयं स्वामी नहीं है, किन्तु ईश्वर का प्रेरा हुआ कभी स्वर्ग में जाकर वहां के सुख भोगता है और कभी नरक में जाकर दुःख भोगता है।

ऊपर बतलाये गये ये चारों व्यक्ति से सम्बन्ध रखते हैं, अतएव आत्म-कल्याणार्थी पुरुष को अपने भीतर इनका प्रकट करना आवश्यक है। शेष चार अंग व्यक्ति के साथ समष्टि से भी सम्बन्ध रखते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जहां व्यक्ति को अपने भीतर निःशंकित आदि गुणों का धारण करना आवश्यक है वहां उसे मानव समाज के साथ भी कुछ कर्तव्यों का पालन करना आवश्यक होता है।

पांचवां अंग उपगूहन है। दूसरों के दोषों को ढकने को और अपने दोषों के प्रकट करने को उपगूहन कहते हैं। मनुष्य को कभी दूसरे के दोष देखने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। यदि कदाचित् पर का कोई दोष दृष्टिगोचर हो जाय, या कर्ण-कुहर में पड़ जाय तो उसके ढकने का प्रयत्न करना चाहिए।

छठा अंग स्थितिकरण है। यदि कोई व्यक्ति किसी कारणवश धर्म से पतित हो रहा है तो उसे जैसे भी बने धर्म में स्थिर रखने का प्रयत्न करना चाहिए, उसकी सब झंझटों और विपदाओं को दूर कर जिस तरह से भी सम्भव हो धर्म में स्थिर रखना और स्वयं धर्म में दृढ़ रहना स्थितिकरण अंग है।

सातवां अंग वात्सल्य है। श्रेयो मार्ग पर चलने वाले सभी सधर्मी बन्धुओं में सहज स्नेह और निष्कपट व्यवहार रखना वात्सल्य कहलाता है। जैसे - सद्यः- प्रसूता गाय अपने बछड़े पर अत्यन्त गाढ़ प्रेम रखती है और उसकी सर्व प्रकार से रक्षण और पालन-पोषण करती है और उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष को अपने साधर्मी भाइयों का तन मन धन से संरक्षण और संपोषण करना चाहिए। आठवां अंग प्रभावना है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य अपने भीतर उत्तम गुणों को प्रकट करे। साथ ही सन्मार्ग का संसार में प्रचार और प्रसार करे। एवं संसार में बढ़ रहे दुःख क्लेश और अज्ञान को दूर करने के लिए अपनी शक्ति भर प्रयत्न करें।

बहिरात्मा का स्वरूप

जब तक जीव को आत्म-विषयक ज्ञान और श्रद्धान नहीं हो जाता, तब तक वह मिथ्या-दृष्टि और मिथ्या-ज्ञानी ही रहता है। इसे ही बहिरात्मा कहते हैं। बहिरात्मा इस पार्थिव शरीर को ही अपनी आत्मा मानता है, इसलिए शरीर के भिन्न होने पर वह अपना जन्म और शरीर के विनाश होने पर अपना मरण मानता है। शरीर के गोरे काले होने से वह अपने को गोरा या काला समझता है, शरीर के स्थूल या कृश होने से अपने को स्थूल या कृश मानता है, शरीर के दुर्बल होने से अपने को दुर्बल, एवं शरीर के सबल होने से अपने को सबल मानता है, शरीर के सुरूप होने से अपने को सुरूप और शरीर के कुरूप होने से अपने को कुरूप मानता है। इसी प्रकार शरीर के सुखी होने से अपने को सुखी और शरीर के दुःखी होने से अपने को दुःखी मानता है। यह बहिरात्मा मनुष्य देह में स्थित आत्मा को मनुष्य, तिर्यच शरीर में स्थित आत्मा को तिर्यच, देव शरीर में स्थित आत्मा को देव और नारक शरीर में स्थित आत्मा को नारकी मानता है। किन्तु वस्तुतः आत्मा उस प्रकार का नहीं है क्यों कि वह अनन्त ज्ञान दर्शन सुख और शक्ति का भंडार है, स्वानुभव के गम्य और सदा अपने स्वरूप में अवस्थित रहता है। तथापि मोह के महात्म्य से यह संसार की जिस अवस्था को प्राप्त होता है बहिरात्मा उसे ही अपना स्वरूप समझने लगता है। यह मूढात्मा जिस प्रकार अपने अचेतन देह को अपनी आत्मा समझता है उसी प्रकार पर के अचेतन देह को पर-आत्मा से अधिष्ठित देखकर उसे पर की आत्मा मानता है। “यह मेरी आत्मा है और यह पर की आत्मा है” इस प्रकार शरीर में स्व-पर का आत्म-विषयक निश्चय होने से आत्म-स्वरूपानभिज्ञ बहिरात्मा जीव के पुत्र स्त्री माता पितादि के सम्बन्ध-विषयक विभ्रम या मोह उत्पन्न होता है। उस विभ्रम या मोह से अविद्या नामका संस्कार दृढ़ होता है, जिसके कारण अज्ञानी लोग जन्मान्तर में शरीर को ही आत्मा मानते हैं। शरीर में आत्म-बुद्धि होने से शरीर के संयोगी या सम्बन्धी स्त्री पुत्रादि को यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, इस प्रकार की अनेक कल्पनाएं कर उनके कारण सुख और दुःख का अनुभव किया करता है। इस मूढात्मा को जब तक हेय-उपादेय-विवेक नहीं होता तब तक वह पांचों इन्द्रियों के विषयों में सदा निमग्न रहता है।

बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव को अपने आत्मा की भलाई-बुराई का परिज्ञान नहीं होता है इसलिए वह आत्मा के परम शत्रु स्वरूप इन्द्रिय विषयों को बड़ी आसक्ति से सेवन करता है। सांसारिक वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए निरन्तर छटपटाता रहता है। युद्धों में असंख्य प्राणियों का संहार करता है और अपनी बढ़ती हुई आशाओं को पूर्ण करने का

असफल प्रयत्न करता रहता है। वह राक्षसी और आसुरी वृत्ति को धारण करता है, प्रमादी आलसी और अति निद्रालु होता है, क्रोध मान माया दम्भ और लोभ से युक्त होता है, काम-सेवन में आसक्त एवं भोगोपभोग के साधन जुटाने में संलग्न रहता है और सोचा करता है कि आज मैंने यह पा लिया है, कल मुझे यह प्राप्त करना है, मेरे पास इतना धन है और आगे मैं इतना कमाऊंगा, मेरा अमुक शत्रु है, मैंने अमुक शत्रु को मार दिया है और अमुक को अभी मारूंगा। मैं ईश्वर हूं। जगत का स्वामी हूं और ये सब मेरे सेवक और दास हैं। मेरे समान दूसरा और कौन है? मैं कुलीन हूं और ये सब अकुलीन हैं। इस प्रकार के विचारों से यह बहिरात्मा प्राणी सदा घिरा रहता है। जब तक जीव की धारणाएं और प्रवृत्तियां उक्त प्रकार की बनी रहती हैं तब तक उसे बहिरात्मा या मिथ्यात्वी कहते हैं। जब तक यह मिथ्यात्व नहीं छोड़ेगा तब तक उसका संसार से उद्धार होना असम्भव है।

भगवान् की यह दिव्य देशना सुनकर श्रेणिक मन ही मन विचारने लगे- अहो, आज तक मैं मिथ्यादृष्टि ही रहा और इसी कारण भव-वन में भटक रहा हूं। अब मुझे कैसे इस मिथ्यादृष्टि से छुटकारा मिले? यह सोचकर उन्होंने भगवान् से पूछा-

भगवन्, मुझे इस मिथ्यादृष्टि से छुड़ाने का उपाय बताइये?

भगवान् ने कहा- श्रेणिक, इस मिथ्या-बुद्धि को छोड़कर बाह्य-विषयों में दौड़ती हुई इन्द्रियों की प्रवृत्ति को रोककर अन्तरंग में प्रवेश करो और ज्ञानदर्शानात्मक अपनी अन्तर्ज्योति में आत्म-बुद्ध करो और उसे ही अपनी आत्मा मानो तथा यह समझो कि मेरी आत्मा ज्ञान दर्शनमयी शाश्वत नित्य है, उसका कभी विनाश नहीं होता। इसके अतिरिक्त जितने भी बाह्य पदार्थ हैं वे सब मेरे से भिन्न हैं। नदी-नाव के संयोग के समान मेरा कर्म-संयोग-जनित ही सम्बन्ध है पर यथार्थ में किसी का किसी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आज जिसे तुम अपना शत्रु समझ रहे हो वह आज से पहिले असंख्यवार तुम्हारा मित्र रहा है और आज जिसे मित्र समझ रहे हो वह असंख्यवार तुम्हारा शत्रु रहा है। यही बात माता-पिता, स्त्री-पुत्र और भाई-बहिन आदि के विषय में भी समझना चाहिए। अतः किसी को अपना मानकर उससे राग करना और दूसरे को पराया मानकर द्वेष करने की बुद्धि का त्याग करो।

अन्तरात्मा का स्वरूप

जब यह जीव पर में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि का त्याग कर अपने आत्म स्वरूप को ही अपना मानने लगता है तब उसे अन्तरात्मा या सम्यग्दृष्टि कहते हैं। इसके प्राप्त होने पर ही जीव के भव-भ्रमण परित्याग का सूत्रपात होता है।

श्रेणिक- भगवन्, अन्तरात्मा या सम्यग्दृष्टि की वृत्ति कैसी होती है? इसे विस्तार से बतलाइये।

भगवान्- जिस व्यक्ति को सच्ची दृष्टि प्राप्त हो जाती है, उसे आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है वह बाहिर से अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी कर लेता है। फिर उसकी दृष्टि में न कोई शत्रु रहता है और न कोई मित्र रहता है। उसके लिए सम्पूर्ण प्राणी समान हो जाते हैं। वह समझने लगता है कि मेरे ही पुण्य कर्म के उदय से दूसरे लोग मेरे साथ मित्रता का व्यवहार करते हैं और मेरे ही पाप कर्म के उदय से दूसरे लोग मेरे साथ शत्रुता का व्यवहार करते हैं अतएव निश्चय से दूसरा व्यक्ति न मेरा शत्रु है और न मित्र ही। इस प्रकार अन्तरात्मा पुरुष दूसरे के द्वारा किये गये सन्मान और अपमान में हर्ष अलाभ और विषाद का अनुभव नहीं करता। वह बाहिरी वस्तु के लाभ में न हर्षित होता है और न में दुःखी ही होता है।

अन्तरात्मा संसार के सभी कार्यों में आसक्ति-भाव का त्याग कर देता है और आसक्ति भाव से केवल अपने कर्तव्यों का पालन करता रहता है। उसे सदा इस बात का ध्यान रहता है कि अब मेरी प्रवृत्ति आत्मा के प्रतिकूल न हो। वह अपनी ही भूलों और अपने ही दोषों के देखने-खोजने और उनके निकालने में उद्यत रहने लगता है।

श्रेणिक- भगवन्, क्या बहिरात्मा के समान अन्तरात्मा भी एक ही प्रकार का है? अथवा उसके भेद भी हैं?

भगवान्- श्रेणिक, अन्तरात्मा तीन प्रकार के होते हैं। एक वे- जो विवेक को प्राप्त कर सांसारिक विषयों से विरक्त तो रहने लगते हैं किन्तु उनका परित्याग करने में असमर्थ रहते हैं। ऐसे जीवों को जघन्य श्रेणी का अन्तरात्मा जानना चाहिए। जो सांसारिक विषयों से विरक्त होने के साथ उनका आंशिक परित्याग भी करते हैं ऐसे अणुव्रतधारी श्रावकों को मध्यम अन्तरात्मा कहते हैं। जो सर्व पापों का यावज्जीवन के लिए परित्याग कर आत्म-साधना में संलग्न रहते हैं ऐसे निर्ग्रन्थ अनगार तपस्वी साधु-सन्तों को उत्तम अन्तरात्मा कहते हैं।

इनमें से जघन्य अन्तरात्मा तो चारों ही गतियों के जीव हो सकते हैं। मध्यम अन्तरात्मा मनुष्य और सभी पशु-पक्षी भी हो सकते हैं। किन्तु उत्तम अन्तरात्मा केवल मनुष्य ही हो सकता है।

श्रेणिक- भगवन्, जघन्य अन्तरात्मा का स्वरूप विस्तार से समझाइये?

भगवान्- श्रेणिक, जिसे आत्म साक्षात्कार हो जाता है उसे अपने आत्मा की दृढ़ प्रतीति हो जाती है इस कारण उसकी बहिर्मुखी प्रवृत्ति दूर होकर अन्तर्मुखी हो जाती है। अन्तर्मुखी प्रवृत्ति हो जाने पर भी वह अपनी परिस्थितियों के कारण बाहरी पदार्थों का सम्बन्ध-विच्छेद नहीं कर सकता, धन-गृहादि को एवं कुटुम्बीजनों को पर जानते हुए भी उन्हें छोड़ने में अपने आप को असमर्थ पाता है, हिंसा करने, झूठ बोलने और चोरी आदि करने को बुरा जानता हुआ भी उन्हें करने के लिए विवश होता है। उसकी प्रवृत्ति बाहर से भले ही भली न दिखे, पर भीतर से उसे अपने बुरे कार्यों पर भारी ग्लानि होने लगती है और वह मन ही मन अपनी दुष्प्रवृत्तियों पर पश्चाताप भी कर्ता रहता है तथा अनुचित कार्यों को नहीं करने का संकल्प भी कर्ता है। परन्तु वह अपने संकल्प को पूरा करने में सफल नहीं हो पाता। ऐसी मनोवृत्ति वाले आत्म-साक्षात्कारी जीव को असंयत सम्यग्दृष्टि या जघन्य अन्तरात्मा कहते हैं। वह सभी लौकिक कार्यों को करते हुए भी उनमें आसक्त नहीं होता, सभी प्राणियों को अपने समान देखने लगता है और उनके सुख-दुःख को अपने समान मानने लगता है। वह सांसारिक दुःखों के या सुखों के अवसरों पर रोते या हंसते हुए भी भीतर से संविग्न ही रहता है और भावना किया करता है कि कब वह अवसर आये जब कि मैं इन सांसारिक बन्धनों से छूटकर सत्-चित्-आनन्दमय अपने आत्मा में ही निमग्न रहूँ। इस प्रकार की भावना वाला यह जघन्य अन्तरात्मा भी मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय के निमित्त से बंधने वाली 41 कर्म-प्रकृतियों के नवीन कर्मबन्ध को नहीं करता है। वह नरक गति में उत्पन्न नहीं होता। यदि मिथ्यात्व दशा में उसने सातवें भी नरक-आयु का बंध कर लिया हो तो वह भी घट कर पहिले ही नरक में उत्पन्न होता है नीचे के नरकों में नहीं। वह तिर्यच गति में भी उत्पन्न नहीं होता। यदि मिथ्यात्व दशा में तिर्यच आयु का बंध हो तो वह भोग-भूमिज उत्तम पंचेन्द्रिय पशुओं में ही उत्पन्न होता और वहां से देव-योनि को प्राप्त करता है। यह स्त्री और नपुंसक जीवों में भी नहीं उत्पन्न होता है। यदि मनुष्यों में उत्पन्न होगा तो उच्च-कुल जाति और उत्तम वंश में ही महान वैभवशाली प्रतापी एवं सौभाग्यशाली होगा। यदि देव-योनि में जायगा तो वहां पर भी हीन देवों में न उत्पन्न होकर महा प्रभावशाली इन्द्रादिकों में ही

उत्पन्न होगा। और कुछ समय के बाद वह मनुष्य पर्याय पाकर और संयम को धारण कर मुक्ति को प्राप्त करेगा।

अविरत सम्यग्दृष्टि जीव सदा संसार के सब प्राणियों पर मैत्री भाव रखता है और भावना किया करता है कि संसार के सभी प्राणी सुखी हों, संघी प्राणी रोग-रहित हों, सभी आनन्द से रहें और नित्य नये कल्याणों को देखें। कोई भी जीव दुःख को प्राप्त न हो, कोई भी प्राणी पापों को न करे और यह सारा संसार दुःखों से छूट जाय। उसके हृदय गुणी जनों को देखकर आनन्द की धारा प्रवाहित होने लगती है और उनके प्रति अपना आन्तरिक हर्ष व्यक्त करता है। वह दीन-दुःखी प्राणियों को देखकर करुणा से द्रवित हो जाता है और उनके उद्धार की भावना एवं चेष्टा करता रहता है। उसके हृदय में अपने निन्दकों के प्रति भी कोई द्वेष-भाव नहीं रहता। और अपने शत्रुओं पर भी मध्यस्थ-भाव रखता है।

मध्यम अन्तरात्मा का स्वरूप और ग्यारह प्रतिमा

श्रेणिक- भगवन्, मध्यम अन्तरात्मा का स्वरूप विस्तार से समझाइये?

भगवान्- श्रेणिक, जो जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर पापों का आंशिक रूप से त्याग करते हैं उन श्रावकों को मध्यम अन्तरात्मा कहते हैं + यह बात पहिले बतला चुके हैं। उनके गुण विकास की अपेक्षा ग्यारह पद या भेद होते हैं। उनका स्वरूप इस प्रकार है-

- 1- पहला दार्शनिक पद है। इस पद का धारी सम्यग्दर्शन का निर्दोष और निरतिचार पालन करता है, सभी प्रकार के व्यसनों का त्यागी होता है, मद्य मांस, मधु और जिन में त्रस जीव पाये जाते हैं ऐसे पत्र पाल पुष्पादि के खाने का त्यागी होता है और अर्हत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं के प्रति बहु सम्मान और पूज्य भाव रखता है। यह सत्य पथ का पथिक और उन्मार्ग का त्यागी होता है।
- 2- व्रत प्रतिमा- इस पद का धारक श्रावक हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का स्थूल रूप से त्याग कर पंच-अणुव्रत का धारी होता है। वह तीन गुण व्रत और चार शिक्षा व्रत रूप सप्त-शीलों का भी पालन करता है और जीवन के अन्त में समाधि पूर्वक प्राणों का परित्याग करता है।

- 3- सामायिक प्रतिमा- इस पद का धारक श्रावक प्रातः मध्यान्ह और सायंकाल समता भाव की भावना करते हुए सर्व सावध योग का कम से कम एक मुहूर्त के लिए परित्याग कर आत्म-चिन्तन करते हुए सामायिक करता है।
- 4- प्रोषध प्रतिमा- इस पद का धारक श्रावक प्रत्येक मास की अष्टमी, चतुर्दशी एवं अन्य पर्व के दिनों में अन्न-पानादि चारों प्रकार के आहार का सोलह पहर तक त्याग करके उपवास करता है और घर गृहस्थी के सभी आरम्भ-समारम्भ का त्याग कर धर्म-ध्यान में अपना समय बिताता है।
- 5- सचित्त त्याग प्रतिमा- इस पद का धारक श्रावक दया की मूर्ति होता है और इसलिए वह सचित्त कन्द-मूल फल शाक-पत्रादि को नहीं खाता और न जल को ही पीता है। अपने वस्त्रादिक भी वह प्रासुक जल से ही धोता है और प्रासुक जल से ही स्नानादि करता है।
- 6- रात्रि भोजन त्याग प्रतिमा- इस पद का धारक रात्रि में चारों प्रकार के आहार का तो त्यागी होता ही है, किन्तु जब तक दो घड़ी सूर्योदय के बाद दो घड़ी काल व्यतीत न हो जाय और इसी प्रकार सायंकाल के समय दो घड़ी सूर्यास्त के होने में रह जाय- इसके बीच में ही खान-पान करता है। तथा यह दिन में अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करता है।
- 7- ब्रह्मचर्य प्रतिमा- इस पद का धारक श्रावक स्त्री मात्र के सेवन का यावज्जीवन के लिए त्याग कर निर्दोष ब्रह्मचर्य का पालन करता है।
- 8- आरम्भ त्याग प्रतिमा- इस पद का धारक श्रावक सर्व प्रकार के आरम्भों का त्याग कर देता है, नवीन आर्थोपार्जन भी नहीं करता। किसी भी प्रकार के सचेतन वाहन का उपयोग नहीं करता और अपने लिए भी भोजन आदि नहीं बनाता। घर वाले जो भी खान-पान की सामग्री बनाकर उसे देते हैं उसे ही संतोष के साथ खा-पीकर शेष सारा समय धर्म-ध्यान में ही व्यतीत करता है।
- 9- परिग्रह त्याग प्रतिमा- इस पद का धारी श्रावक अपने पास के बाहरी दसों प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर सन्तोषमय जीवन व्यतीत करता है और अपनी सम्पत्ति पुत्र और कुटुम्बीजनों में विभाजित कर देता है।
- 10- अनुमति त्याग प्रतिमा- इस पद का धारी श्रावक परिग्रह में, विवाहादिक में एवं सभी प्रकार के लौकिक कार्यों में अपनी सम्मति नहीं देता। और घर में उसी प्रकार निर्लिप्त भाव से रहता है जैसे जल में कमल।

11- उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा- इस पद का दारक श्रावक घर का त्याग कर और साधु-जनों के समीप जाकर सचेलक साधु की दीक्षा को अंगीकार करता है, एक वस्त्र खण्ड रखता है और भिक्षा-वृत्ति से गोचरी कर एक बार ही अनुद्दिष्ट भोजन करता है। यह अपने लिए बने हुए खान-पान और वस्त्रादि का भी त्यागी होता है और साधु के समान सदा निर्द्वन्द्व भाव से आत्म-साधना करता हुआ स्वाध्याय, ध्यान और तपश्चरण में संलग्न रहता है।

सम्यग्ज्ञान

इस अन्तरात्मा के ज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान कहते हैं। मुक्तिरूपी भवन पर पहुंचने के साधन तीन सोपान हैं जिनमें सम्यग्दर्शन प्रथम सोपान है और सम्यग्ज्ञान दूसरा सोपान है तथा सम्यक्चारित्र मुक्ति का तीसरा सोपान है।

श्रेणिक- भगवन्, सम्यग्ज्ञान का स्वरूप विस्तार से समझाइये?

भगवान्- सम्यग्ज्ञान शब्द का अर्थ है- सच्चा ज्ञान। जो वस्तु जैसी है उसे हीनता या अधिकता से रहित यथार्थ रूप से जानने को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। संसार में पदार्थ अनन्त हैं और प्रत्येक पदार्थ के गुण पर्याय भी अनन्त हैं, उन सब का यथार्थ ज्ञान सर्वज्ञ हुए बिना जन-साधारण को सम्भव नहीं है। यद्यपि सम्यग्ज्ञान की पूर्णता अनन्त ज्ञानी सर्वज्ञ और सर्व दर्शी होने पर ही होती है, तथापि जो ज्ञान आत्म-कल्याण का साधक है, प्रयोजन भूत तत्त्वों का ज्ञायक है और हेय-उपादेय का निर्णायक है। वह सम्यग्दृष्टि के प्रकट हो जाता है। वस्तुतः सम्यग्दृष्टि का स्व-पर विवेक ही सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

ज्ञान के अनेक भेद-प्रभेद हैं। एक आत्म साधक के लिए उन सब का विस्तृत ज्ञान हो या न हो पर उसे कम से कम स्व-पर का विवेक तो होना ही चाहिये। साथ ही दुःख और दुःख के कारण, तथा सुख और सुख के कारणों का ज्ञान होना भी आवश्यक है। यतः जीव का मुख्य उद्देश्य सांसारिक दुःखों से छूटने का है अतः उसे अपने जीव का और मुक्ति का ज्ञान होना ही चाहिए। इस प्रकार जीव और मोक्ष ये दो तत्त्व ज्ञातव्य हैं। जीव जिन कर्मों से बंधा हुआ है उन जड़ अचेतन तत्त्वों के ज्ञान को अजीव-तत्त्व का ज्ञान कहते हैं। जीव जिन कारणों से कर्मों को अपने भीतर आकर्षित करता है उनके जानने को आश्रव तत्त्व का ज्ञान कहते हैं। तथा जिन कारणों से वह कर्म बंधन से बंधता है उन कारणों का जानना बंध तत्त्व का ज्ञान है। जिन कारणों से वह आने वाले नवीन कर्मों को रोकता है उन कारणों के जानने

को संवर तत्व का ज्ञान कहते हैं और पुरातन बंधे हुए कर्मों को कैसे दूर किया जा सकता है उन उपायों के जानने को निर्जरा-तत्व का ज्ञान कहते हैं। तथा सत्-चित आनन्दमय आत्मा की शुद्ध दशा के जानने को मोक्ष-तत्व का ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार जीव-अजीव आश्रव बंध संवर निर्जरा और मोक्ष इन सात प्रयोजन भूत तत्वों को जानने को ही सम्यग्ज्ञान कहते हैं। सातों तत्वों का यथार्थ ज्ञान प्रत्येक सम्यग्दृष्टियों को सम्यक्ज्ञानी कहा जाता है।

तदन्तर भगवान् ने और भी विस्तार के साथ सातों तत्वों का भेद-प्रभेद बतलाते हुए सूक्ष्म विवेचन किया,+ जो आज अध्यात्म ग्रन्थों में निबद्ध उपलब्ध है।

सम्यक्चारित्र

श्रेणिक- भगवन्, सम्यक्चारित्र किसे कहते हैं?

भगवान्- श्रेणिक, संसार के कारणभूत राग-द्वेष को और उनके बढ़ाने वाले हिंसादि पापों के त्याग करने को सम्यक्चारित्र कहते हैं। वस्तुतः मुक्ति का साधन भूत धर्म दो प्रकार का है- एक विचारात्मक और दूसरा आचारात्मक। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ये दोनों विचारात्मक धर्म हैं। तथा सम्यक्चारित्र आचारात्मक धर्म है। जब तक मनुष्य का आचरण पवित्र नहीं हो जाता, तब तक केवल विचारों से ही अभीष्ट की सिद्धि या दुःखों से विमुक्ति नहीं हो सकती। मनुष्य के सद् विचार उस भूमिका का निर्माण करते हैं जिसके कारण मनुष्य कि प्रवृत्ति कदाचार छोड़कर सदाचार की ओर अग्रेसर होती है।

सांसारिक दुःखों के मूल कारण हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पांच पाप ही हैं। इन पापों के सेवन से आत्मा अनादि काल से ही चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करता और दुःख भोगता हुआ चला आ रहा है। यतः कर्म बंध के मूल कारण ये पांचों पाप ही हैं अतः इनका त्याग करना व्यवहार चारित्र है और आत्म स्वरूप में स्थिर होना निश्चय चारित्र है। जब तक मनुष्य व्यवहार चारित्र को अंगीकार नहीं करता तब तक वह आत्म स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकता।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक हिंसादि पांचों पापों का यावज्जीवन के लिए मन, वचन, काय एवं कृत-कारित-अनुमोदना से सर्वथा त्याग करना सम्यक्चारित्र है। उसका पूर्ण रूप से परिपालन गृह-त्यागी साधु ही कर सकते हैं। अतः उनके चारित्र को सकल चारित्र कहते हैं। जो मनुष्य अपनी परिस्थितियों के कारण उक्त पापों का सर्वथा परित्याग करने में असमर्थ होते हैं वे उनका स्थूल रूप से एक देश त्याग करते हैं,+ अतः उनके चारित्र को देश

चारित्र कहते हैं। उत्तम अन्तरात्मा निर्ग्रन्थ साधु सकल चारित्र के धारक होते हैं और मध्यम अन्तरात्मा श्रावक देश चारित्र का धारक होता है। देश चारित्र का विवेचन श्रावक के ग्यारह पदों को बतलाते हुए कर दिया गया है। अब सकल चारित्र का वर्णन किया जाता है।-

सकल चारित्र के तेरह भेद हैं- पांच महाव्रत, पांच समिति, और तीन गुप्ति

पांच महाव्रतों में पहला अहिंसा महाव्रत है। त्रस और स्थावर जीवों की मन वचन काय और कृतकारित अनुमोदना से यावज्जीवन के लिए हिंसा का त्याग करना अहिंसा महाव्रत है। सर्व प्रकार के असत्य का और अप्रिय कुटुक एवं अहितकर वचनों के बोलने का यावज्जीवन के लिए त्याग करना सत्य महाव्रत है। बिना दिये हुए तृण और मृण्मय वस्तु तक को भी नहीं लेना, रखी या भूली हुई वस्तु को नहीं उठाना और पर-द्रव्य हरण का यावज्जीवन के लिए त्रिकरण और त्रियोग से त्याग करना अचौर्य महाव्रत है। मनुष्य तिर्यच और देवगति सम्बन्धी सर्व प्रकार की स्त्रियों में तता काष्ठ पुस्त, भित्ति आदि पर अंकित स्त्री-चित्रों में राग भाव का त्याग कर यावज्जीवन के लिए त्रिकरण और त्रियोग से निर्मल ब्रह्मचर्य का पालन करना ब्रह्मचर्य महाव्रत है। सभी प्रकार के चेतन और अचेतन बाहरी दसों प्रकार के तथा अन्तरंग चौदह प्रकार के परिग्रह का त्रिकरण और त्रियोग से यावज्जीवन के लिए त्याग करना अपरिग्रह महाव्रत है।

इन पांचों महाव्रतों की रक्षा के लिए जो चलने फिरने और खाने-पीने में सावधानी रखी जाती है उसे समिति कहते हैं। उसके पांच भेद हैं- ईर्या-समिति अर्थात् दिन में मार्ग के प्रासुक हो जाने पर चार हाथ भूमि को शोधते हुए गमन करना। बोलने की सावधानी को भाषा समिति कहते हैं। भोजन संबंधी छियालीस दोषों से रहित प्रासुक अन्न-पानादि को स्वाध्याय और ध्यान की सिद्धि के लिए ग्रहण करना एषणा समिति है। ज्ञान के उपकरण शास्त्र पुस्तक आदि का और संयम के उपकरण पिच्छिका और कमंडल आदि का यत्न पूर्वक उठाना और रखना आदाननिक्षेपण समिति है। निर्जन्तु और प्रासुक भूमि पर मल-मूत्र का विसर्जन करना उत्सर्ग समिति है।

मन के संकल्पों विकल्पों को दूर कर उसे नियंत्रित रखना मनोगुप्ति है। अनावश्यक वचनालाप का त्याग कर मौन धारण करना वचन-गुप्ति है। और निरर्थक गमनागमन एवं शरीर संचालनादि का त्याग करना कायगुप्ति है।

उक्त तेरह प्रकार के चारित्र की रक्षा करने के लिए यह आवश्यक है कि पांचों इन्द्रियों के इष्ट-अनिष्ट विषयों में राग-द्वेष का त्याग करे। तथा प्रतिदिन सामायिक

चतुर्विंशति स्तव, वन्दना प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यकों का पालन करे। इन गुणों के अतिरिक्त साधु को अपने सिर और दाढ़ी के बालों का अपने हाथों से उखाड़ना (केशलुंच) वस्त्रादि का त्याग करना, यावज्जीवन स्नान का त्याग, भूमि पर शयन, गृहस्थ के घर निरालम्ब खड़े रहकर पाणि-पात्र से भोजन, अदन्त धावन और एक बार आहार करना इन गुणों का भी पालन करना चाहिए।

ये साधु जन यतः इन्द्रिय-जयी होते हैं। अतः उन्हें जितेन्द्रिय कहते हैं। ये दिशा रूप अम्बर को धारण करते हैं अर्थात् वस्त्र-रहित जीवन यापन करते हैं अतः इनको दिगम्बर कहते हैं। घर के त्याग कर देने से वे अनगर कहलाते हैं। और मौन पूर्वक आत्म-साधना में संलग्न रहते हैं इसलिए इन्हें मुनि कहते हैं।

परमात्मा का स्वरूप और प्राप्ति का उपाय

श्रेणिक- भगवन्, परमात्मा किसे कहते हैं?

भगवान्- श्रेणिक, जिन्होंने कर्मों का नाश कर दिया और अनन्त ज्ञान दर्शन सुख वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय को प्राप्त कर लिया है ऐसे शुद्ध बुद्ध सर्वज्ञ को परमात्मा कहते हैं। उस परमात्मा के दो भेद हैं- सकल परमात्मा और निकल परमात्मा। जो चार घाति कर्मों का नाश कर वीतराग और सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन जाते हैं ऐसे हितोपदेशी अर्हत परमेष्ठी को सकल परमात्मा कहते हैं। जो आठों कर्मों का नाश कर और शरीर का परित्याग कर जन्म जरा मरण के चक्र से छूटकर शिव पद को प्राप्त लेते हैं ऐसे सिद्ध परमेष्ठी को निकल परमात्मा कहते हैं।

श्रेणिक- भगवन्, यह बताइये कि संसारी आत्मा परमात्मा कैसे बन सकता है?

भगवान्- श्रेणिक, पहिले मनुष्य मिथ्यात्व का परित्याग करे और सम्यक्त्व को धारण कर बहिरात्म बुद्धि को दूर करे और अन्तरात्मा बने। पुनः सर्व संकल्प विकल्पों से रहित होता हुआ और परमात्मा का ध्यान करता हुआ उत्तरोत्तर आत्म-विकास करे।

श्रेणिक- भगवन्, आत्म विकास का साधन क्या है?

भगवान्- श्रेणिक, आत्म विकास के लिए गुणस्थानों का आश्रय लेना चाहिए।

गुण-स्थान

श्रेणिक- भगवन्, गुण-स्थान किसे कहते हैं और वे कितने होते हैं तथा उनका आश्रय किस प्रकार लिया जाये?

भगवान्- श्रेणिक, आत्मा के उत्तरोत्तर गुणों के विकास को गुण-स्थान कहते हैं। गुण-स्थान के चौदह भेद हैं + - 1- मिथ्यादृष्टि, 2- सासादन-सम्यग्दृष्टि, 3- सम्यग्मिथ्यादृष्टि, 4- असंयतसम्यग्दृष्टि, 5- देशसंयत, 6- प्रमतसंयत, 7- अप्रमतसंयत, 8- अपूर्वकरणसंयत, 9-अनिवृत्करणसंयत, 10- सूक्ष्म-साम्परायसंयत, 11- उपशान्तकषायसंयत, 12- क्षीणकषायसंयत, 13-सयोगिकेवली और 14- अयोगिकेवली

1-मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान- जिन जीवों के मिथ्यात्व कर्म के उदय से अपने हिता-हित के विचार करने की शक्ति नहीं होती वे मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं। इन्हें ही बहिरात्मा

कहते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर असंजी पचेन्द्रिय तक के सभी जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं और पचेन्द्रियों में बहु भाग जीव अपनी मिथ्या धारणाओं के कारण मिथ्यादृष्टि ही होते हैं। किन्तु उनके भीतर भी आत्मा के ज्ञानादिक गुण पाये जाते हैं इसलिए उनको प्रथम गुणस्थान वर्ती कहा जाता है।

2-सासादनसम्यग्दृष्टि- गुण-स्थान- सासादन नाम सम्यग्दर्शन की विराधना का है। जो जीव सम्यक् प्राप्त कर और मिथ्यात्व को छोड़कर असंतसम्यग्दृष्टि बनता है वह जब वहां से गिरता है तब इस दूसरे गुणस्थान में आता है। और इस गुणस्थान में कुछ समय तक रहकर प्रथम गुणस्थान में आ जाता है। दूसरा गुणस्थान नीचे से चढ़ते समय नहीं, किन्तु चौथे गुणस्थान से गिरते समय होता है।

3-सम्यग्मिथ्यादृष्टि- दर्शन मोहनीय कर्म का एक भेद सम्यग्मिथ्यात्व है। जब चतुर्थ गुणस्थान वर्ती जीव के इस कर्म का उदय होता है तब वह वहां से गिरकर तीसरे गुणस्थान में कुछ काल के लिए आ जाता है। उस समय उसके परिणाम न केवल सम्यक्त्वरूप ही होते हैं और न केवल मिथ्यात्वरूप ही। किन्तु जैसे दही और गुड़ के मिलाने पर एक भिन्न ही प्रकार का खट्मिट्ठा स्वाद होता है उसी प्रकार इस गुणस्थान वर्ती जीव के भी तत्त्व और अतत्त्व के श्रद्धान रूप मिश्रित भाव होते हैं। यह जीव अल्पकाल तक (एक अन्तर्मुहुर्त) रहकर या तो ऊपर चौथे गुणस्थान में पहुंच जाता है, या गिरकर पहिले गुणस्थान में आ जाता है।

4- असंयतसम्यग्दृष्टि- जिस जीव की दृष्टि तो सम्यक् हो जाती है किन्तु जो किसी भी प्रकार के संयम को धारण करने में असमर्थ रहता है ऐसे जघन्य अन्तरात्मा को असंतसम्यग्दृष्टि कहते हैं। यह चौथा गुणस्थान है।

5- देशसंयत गुणस्थान- जो त्रस जीवों की हिंसा का त्यागी है ऐसे श्रावक व्रत धारी मध्यम अन्तरात्मा को देश-संयत कहते हैं। चौथे गुणस्थान की अपेक्षा इसके परिणाम अधिक विशुद्ध होते हैं।

6- प्रमत्तसंयत गुणस्थान- जो सकल चारित्र को पालन करते हुए भी प्रमाद-युक्त रहता है ऐसे उत्तम अन्तरात्मा साधु को प्रमत्तसंयत कहते हैं। पांचवें गुणस्थान की अपेक्षा इसके परिणाम और भी अधिक विशुद्ध होते हैं, क्योंकि यह पांचों पापों का सर्वथा त्यागी होता है।

7- अप्रमत्तसंयत गुणस्थान- छठा गुणस्थानवर्ती साधु जब प्रमाद रहित अवस्था में रहता हुआ आत्म चिन्तन में संलग्न रहता है तब उसे अप्रमत्तसंयत कहते हैं। साधु सदा आत्म चिन्तन में संलग्न नहीं रह सकता, अतः जब वह आहार-विहारादि क्रियाओं को करता है तब पुनः प्रमत्तसंयत गुणस्थान को प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार मनुष्य के नेत्र खुलते और बंद होते रहते हैं इसी प्रकार साधु की प्रमत्त और अप्रमत्त दशा भी अन्तर्मुहूर्त में बदलती रहती है। इस प्रकार न कोई साधु सदा छठे गुणस्थान में ही रहता है और न सदा सातवें में ही। किन्तु एक दिन में सैकड़ों बार उसका दोनों गुणस्थानों में आवागमन होता रहता है। और यह क्रम जीवन के अन्त तक चलता रहता है।

सातवें गुणस्थान के दो विभाग हैं + - स्व-स्थान अप्रमत्त और सात्तिसय अप्रमत्त। स्वस्थान अप्रमत्तसंयत के सातवें से छठे में और छठे से सातवें गुणस्थान में परिवर्तन होता रहता है। किन्तु जो जीव अपने विशिष्ट परिणामों के द्वारा और अपूर्व विशुद्धि के द्वारा ऊपर के गुणस्थानों में चढ़कर मोह के उपशमाने या विनाश करने का प्रयत्न करते हैं उनके सात्तिसय अप्रमत्त दशा होती है। इस दशा को प्राप्त हुए जीव मोह कर्म के उपशम के लिए उपशम श्रेणी पर चढ़ते हैं और मोह कर्म के क्षपण करने के लिए जो उद्यत होते हैं वे जीव क्षपक श्रेणी पर चढ़ते हैं। उपशम श्रेणी के चार गुणस्थान होते हैं- आठवां, नौवां, दसवां और ग्यारहवां। जो जीव मोह कर्म का क्षपण करने में असमर्थ होते हैं वे उसे उपशमाने का प्रयत्न करते हैं और उसका उपशम करते हुए ग्यारहवें उपशान्त मोह गुणस्थान को प्राप्त कर लेते हैं। यतः मोह कर्म का उपशम अन्तर्मुहूर्तकाल से अधिक हो नहीं सकता अतः ग्यारहवें गुणस्थान में चढ़ा हुआ जीव वहां पर कुछ क्षण तक और वीतरागता का अनुभव करके भी वापिस मोह कर्म के उदय आ जाने से नीचे गिर जाता है। और छठे गुणस्थान में आ जाता है। इस प्रकार इन चार गुणस्थानों पर चढ़ने का नाम ही उपशम श्रेणी है। किन्तु जो जीव प्रबल पुरुषार्थी और तद्भव मोक्षगामी होते हैं और क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेते हैं वे जीव क्षपक श्रेणी पर चढ़ते हैं। इस श्रेणी के भी चार गुणस्थान होते हैं- आठवां, नौवां, दसवां और बारहवां। उपशम श्रेणी पर चढ़ने वाला दसवें गुणस्थान में मोह कर्म का उपशम कर ग्यारहवें गुणस्थान में पहुंचता है। किन्तु क्षपक श्रेणी पर चढ़ने वाला दसवें गुणस्थान में पहुंचकर और मोह कर्म का क्षय कर एकदम बारहवें गुणस्थान में पहुंचता है।

8- अपूर्वकरणसंयत गुणस्थान- करण शब्द का अर्थ परिणाम है। जो परिणाम आज तक जीव को इसके पहिले नहीं हुए उन्हें अपूर्व कहते हैं। सात्तिसय अप्रमत्त दशा भी

ध्यानावस्था में ही होती है। वही जीव जब परिणामों की उतरोतर अनन्तगुणी विशुद्धि करता हुआ अपूर्वकरण परिणामों को प्राप्त होता है तब उसे अपूर्वकरणसंयत कहते हैं। यद्यपि इस गुण स्थान में किसी कर्म का उपशम या क्षय नहीं होता है किन्तु उसके लिए आवश्यक तैयारी अवश्य होती है और जीव के परिणाम प्रति समय विशुद्ध-विशुद्धतर होते जाते हैं। जिनके द्वारा यह अष्टमगुण स्थानवर्ती समाधिस्थ साधु प्रति समय नवीन बंधने वाले कर्मों का स्थिति-अनुभाग अल्प-अल्पतर बांधता है और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा असंख्यात गुणित क्रम से करता जाता है।

9-अनिवृत्तिकरणसंयत गुणस्थान- आठवें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्तकाल तक अपूर्व परिणामों की विशुद्धि के साथ बढ़ता हुआ वही समाधिस्थ साधु नवें गुणस्थान में प्रवेश करता है। यदि उसने उपशम श्रेणी के साथ इस गुण स्थान में प्रवेश किया है तो यह मोह कर्म की संज्वलन लोभ को छोड़कर शेष समस्त प्रकृतियों का उपशम करता है और यदि क्षपक श्रेणी के साथ इस गुण स्थान में प्रवेश किया है तो वह यहां पर संज्वलन लोभ को छोड़कर शेष समस्त मोह-प्रकृतियों का क्षय कर डालता है। इस गुणस्थान का काल भी अन्तर्मुहूर्त ही है।

10-सूक्ष्मसाम्परायसंयत गुणस्थान- जो जीव मोह कर्म का उपशम करता हुआ इस गुण स्थान में प्रवेश करता है वह यहां पर शेष रहे हुए सूक्ष्म लोभ का भी उपशम करता है। जो जीव मोह कर्म का क्षपण करता हुआ इस गुण स्थान में प्रवेश करता है वह यहां पर सूक्ष्म लोभ का भी क्षय कर देता है। इस गुणस्थान का काल भी अन्तर्मुहूर्त ही है।

11-उपशांतकषायसंयत गुणस्थान- उपशम श्रेणी पर चढ़ा हुआ जीव दसवें गुण स्थान में सूक्ष्म लोभ का उपशम कर इस गुणस्थान में आता है और अन्तर्मुहूर्त तक कषायों के उपशम होने से वीतरागता का अनुभव करता है। पुनः कषाय का उदय आ जाने से वह वापिस नीचे गिर जाता है। इस गुणस्थान का काल भी अन्तर्मुहूर्त ही है।

12-क्षीणकषायसंयत गुणस्थान- क्षपक श्रेणी पर चढ़ा हुआ संयत दसवें गुणस्थान में मोह कर्म का सर्वथा क्षय कर इस गुण स्थान में प्रवेश करता है। अतः क्षीण मोह भी इसका नाम है। इस गुण स्थान के अन्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का नाश कर वह कैवल्य को प्राप्त करता है और उसी समय तेरहवें गुण स्थान में पहुंच जाता है। इस गुणस्थान का काल भी अन्तर्मुहूर्त ही है।

13-सयोगिकेवली गुणस्थान- उक्त प्रकार से चारों घाति कर्मों का नाश करता हुआ वह संयत इस गुणस्थान में प्रवेश करता है और घाति कर्मों के नाश हो जाने से क्रमशः अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य का धनी हो जाता है। यही जीवन-मुक्त दशा है और इसे ही सकल परमात्मदशा कहते हैं। केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाने से इस गुणस्थानवर्ती को केवली कहते हैं और योगों के विद्यमान होने से सयोगि कहते हैं। इस गुणस्थानवर्ती संयत को भी अर्हत कहते हैं और ये ही सर्वज्ञ और वीतराग होने से सत्य धर्म की यथार्थ देशना देकर संसार के प्राणियों का उद्धार करते हैं।

14-अयोगिकेवली गुणस्थान- तेरहवें गुणस्थान में रहते हुए अर्हत परमेष्ठी जीवन भर धर्म देशना करते हुए विचरते हैं। जब जीवन का अन्तर्मुहुर्तकाल शेष रह जाता है तब वे देशना और विहार आदि मन वचन काय के व्यापार का निरोध कर इस गुणस्थान में प्रवेश करते हैं। योगों के अभाव हो जाने के कारण ही इन्हें अयोगिकेवली कहा जाता है। इस गुणस्थान का काल अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पंच ह्रस्व अक्षरों से उच्चारण प्रमाण है। इतने अल्पकाल में ही चार अघाति कर्मों का विनाश कर वे सिद्ध बुद्ध निरन्जन और निर्विकार होते हुए शरीर का परित्याग कर शिव-पद को प्राप्त करते हैं और सिद्ध लोक में जाकर सदा के लिए विराजमान हो जाते हैं। वहां से उनका फिर कभी संसार में पुनरागमन नहीं होता। वे वहां अनन्त सुख भोगते हुए निजानन्द रस में लीन रहते हैं।

ध्यान का स्वरूप, भेद तथा उनका फल

श्रेणिक- भगवन्, आपने आत्म-विकास के लिए जो परमात्मा के ध्यान करने के लिए कहा सो ध्यान किसे कहते हैं?

भगवान्- श्रेणिक, मन की चंचल वृत्ति को छोड़कर एकाग्र होने का प्रयत्न करने को ध्यान कहते हैं। ध्यान के चार भेद हैं- आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान।

इनमें आर्त और रौद्र ध्यान संसार के कारण हैं और धर्म एवं शुक्ल ध्यान मोक्ष के कारण हैं।

प्रश्न- आर्तध्यान किसे कहते हैं?

उत्तर- इष्ट वस्तु के वियोग होने पर उसके पाने के लिए चिंतवन करना, अनिष्ट वस्तु के संयोग होने पर उसके दूर करने के लिए निरन्तर विचार करना, रोग-वेदना आदि से पीड़ित होने पर उसके दूर करने के लिए रात-दिन हाय-हाय करना और तपस्या आदि के फल स्वरूप आगामी भव में मनुष्य और देवों के सुख पाने के लिए निदान करना, धन कमाने के लिए चिन्तित रहना और इसी प्रकार अन्य नाना प्रकार की चिन्ताओं से चिन्तित रहना आर्तध्यान है। इस आर्तध्यान के प्रभाव से मनुष्य तिर्यच योनि में उत्पन्न कराने वाले कर्मों का उपार्जन करता रहता है।

प्रश्न- रौद्रध्यान किसे कहते हैं?

उत्तर- हिंसा करने में आनन्द मानना, बात-बात में दूसरों से लड़ने के लिए उद्यत रहना, असत्य कर्कश और कठोर वचन बोलते हुए आनन्द मानना, चोरी करने, कराने और चोरी का माल लेने में हर्षित होना, पांचों इन्द्रियों के विषय सेवन करने में मस्त रहना और रात-दिन परिग्रह को संचित करते रहना रौद्रध्यान है। इस रौद्रध्यान से मनुष्य नरकों में उत्पन्न होने का कर्म उपार्जन करता रहता है। इसलिए इन दोनों प्रकार के दुर्ध्यानों से बचना चाहिए।

प्रश्न- धर्मध्यान किसे कहते हैं?

उत्तर- संसार के सब जीव सुखी हों, सब निरोग रहें, सब आनन्द-मंगल को प्राप्त हों, कोई दुःख को न भोगे, सब सांसारिक दुःखों से मुक्त हों, सब सन्मार्ग पर चलें इस प्रकार की भावना रखना धर्मध्यान है। इस धर्मध्यान का प्रारम्भ अविरत-सम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थान में हो जाता है + और इसका उत्कृष्ट रूप सातवें गुण स्थान में प्राप्त होता है जब कि यह जीव कर्मों के उपशमन करने के लिए या क्षपण करने के लिए उपशम श्रेणी और

क्षपक श्रेणी पर चढ़ता है। धर्मध्यान का साक्षात फल स्वर्ग-प्राप्ति और परम्परा फल मुक्ति-प्राप्ति है।

प्रश्न- आपने भगवन् सातवें गुस्थान का काल अन्तर्मुहुर्त बताया और यह भी कहा कि साधु सदा छठे और सातवें गुण स्थान में आता जाता रहता है, तब यह ध्यान कैसे सम्भव है?

उत्तर- श्रेणिक, जब साधु छठे गुणस्थान में रहता है तब संसार के अनित्य, अशरण आदि स्वरूप का चिन्तन करता है और जब सातवें गुणस्थान में पहुंचता है तब पद्मासन आदि किसी एक आसन से मूर्तिवत् अचल बैठकर मौन-पूर्वक आत्म-चिन्तन करता है। आत्म-चिन्तन की दशा में ही उत्कृष्ट धर्मध्यान होता है।

प्रश्न- आत्म-चिन्तन किस प्रकार किया जाता है?

उत्तर- आत्मा के वीतराग स्वरूप की भावना करते हुए समाधिस्थ साधु विचार करता है कि मैं तो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य का स्वामी हूं। यह शरीर और उसके साथ सम्बन्ध रखने वाले सर्व पदार्थ मेरे से सर्वथा भिन्न हैं। न वे कभी मेरे स्वरूप हो सकते हैं और न मैं कभी उनके स्वरूप हो सकता हूं। इस प्रकार का विचार करता है। उस समय यदि उसका मन इन्द्रिय-विषयों की ओर चला जाय तो वह विचार करता है कि हे आत्मन्, इन गज मीन भ्रमर पतंग और मृगादि प्राणियों को देखो- जो एक-एक इन्द्रियों के वश में पड़कर अपना सर्वनाश करते हैं, तो पांचों इन्द्रियों के विषयों की ओर दौड़ने वाले तुझे कितने दुःख नहीं प्राप्त होंगे? अतः तू उनकी लालसा की ओर से अपना मुख मोड़ और जिस आत्म स्वरूप का आज तक आत्म-लाभ नहीं हुआ और जिसके बिना आज तक संसार परिभ्रमण कर रहा है-उसका चिन्तन कर। इस प्रकार के चिन्तन से धीरे-धीरे आत्मिक शक्ति का विकास होने लगता है और वह आत्मिक तेज से सम्पन्न होता जाता है। इस ध्यान की अवस्था में योगी को जो परमानन्द प्राप्त होता है वह वचनों से अवर्णनीय है। और इस प्रकार की भावना के बल से वह आत्म-विकास की ओर बढ़ता है।

जब यह आत्मा चारों ओर से अपनी प्रवृत्ति हटाकर, इन्द्रियों के विषय प्रवृत्ति और चंचलता को भी रोककर अपने आप में स्थिर होने का प्रयत्न करता है तभी उसे आत्म स्वरूप की प्राप्ति होती है। उस ध्यानावस्था में ज्ञानी पुरुष विचारता है कि जब मैं अजर-अमर हूं तब मेरी मृत्यु नहीं हो सकती। फिर उसका भय क्यों हो? जब मुझ चैतन्य मूर्ति के कोई व्याधि नहीं हो सकती तब उसकी व्यथा मुझे क्यों हो? ये बाल, युवा और वृद्ध

अवस्थाएं तो पुद्गल रूप शरीर की होती हैं फिर इन अवस्थाओं के परिवर्तन से मुझे रंच-मात्र भी दुःखी नहीं होना चाहिए। इस प्रकार विचार करते हुए जब आत्मा में संकल्प विकल्पों से रहित निर्विकल्प अवस्था प्राप्त होती है तब उसे ही समाधि या स्वात्मानुभूति कहते हैं। जैसे-जैसे आत्मा का शुद्ध स्वरूप सन्मुख आता जाता है वैसे-वैसे ही स्वानुभव में आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रतिभासित होने लगता है। उस समय उसके कर्ता और भोक्ता पने का मान नहीं होता, किन्तु ज्ञाता और दृष्टा रूप का ही अनुभव होता है।

इसी निर्विकल्प ध्यानवस्था में योगी उपशम या क्षपक श्रेणी पर चढ़ता है उस समय उसके भीतर शुद्धोपयोग के निमित्त से शुक्लध्यान प्रकट होता है। इस शुक्लध्यानावस्था का नाम ही समाधि है। इस समय चित्त की वृत्ति एकदम स्थिर हो जाती है, + उसे ध्याता, ध्यान और ध्येय का भी विचार नहीं रहता। वह निर्वात स्थान में अवस्थित दीपक की ज्योति के समान एक स्थिर रूप में रहता हुआ पूर्व-भव-संचित कर्मों की प्रति समय असंख्यात गुणित क्रम से निर्जरा करता है और एक अन्तर्मुहुर्त काल में ही चारों घाति कर्मों का नाश कर अर्हत अवस्था को प्राप्त कर लेता है। और अन्त में चार अघाति कर्मों का भी नाश कर सिद्ध-पद पा लेता है।

भगवान् की इस दिव्य देशना को सुनकर श्रेणिक के सम्यक्त्व की विशुद्धि बढ़ी और उन्होंने दर्शन मोहनीय की मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ का क्षय कर क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त किया। तदन्तर उन्होंने दर्शन-विशुद्धि आदि षोडश कारण भावनाओं का चिन्तवन प्रारम्भ किया और भगवान् महावीर के पाद-मूल में बैठे हुए ही तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया। जिनके प्रभाव से आने वाली उत्सर्पिणी काल के तीसरे आरे में वे पद्मनाभ नाम के प्रथम तीर्थंकर होंगे।

भगवान् महावीर के समय वैशाली अति समृद्धि-शाली नगरी थी। उसके समीप वाणिज्य ग्राम नाम का एक समृद्ध व्यापारिक प्रतिष्ठान था। वहां पर आनन्द नाम का एक बहुत बड़ा धनी सेठ रहता था। उसके पास अपार सम्पत्ति थी। उसकी सम्पत्ति के विषय में बताया गया है कि चार करोड़ रुपया उसके कोषागार में सदा सुरक्षित रहता था। चार करोड़ रुपया व्याज पर दिया हुआ था और चार करोड़ रुपया व्यापार में लगा हुआ था (1)। उसके चार गोकुल थे और प्रत्येक गोकुल में दस-दस हजार गायें थीं। उसके पांच सौ हलों की खेती होती थी। उसके यहां पांच सौ गाड़ियां थीं जो व्यापार के लिए देश-देशान्तरों को जाया-आया करती थीं। अनेक बाग बगीचे थे जिन में नाना प्रकार के फल और फूल वाले वृक्ष थे। सारे राज्य पर उसकी धाक थी और सभी राज्याधिकारी उसका सन्मान करते थे।

आनन्द सेठ पहिले बुद्ध धर्म का अनुयायी था। और वह धर्म देशना के सुनने के लिए प्रायः उनके ही पास जाया-आया करता था। एक बार जब विहार करते हुए भगवान् महावीर का समवसरण वैशाली आया तो नगर निवासी और समीपवर्ती ग्रामों का जन-समुदाय उनकी वन्दना करने और देशना सुनने के लिए उमड़ पड़ा। आनन्द सेठ भी अपने परिवार के साथ गया और भगवान् की वन्दना करके यथास्थान बैठकर धर्म-देशना सुनने लगा।

भगवान् की धर्म देशना इतनी प्रभावक हुई कि जिसे सुनकर सैंकड़ों पुरुषों ने घर का परित्याग करके अनगारी दीक्षा ग्रहण की और महाव्रत-धारी साधु बन गये। आनन्द सेठ भी बहुत प्रभावित हुआ और राज्याधिकारियों, अनेक स्वजन-परिजनों एवं मित्रों को दीक्षित हुआ देखकर सोचने लगा- अहो, ये लोग धन्य हैं जो सबसे मोह छोड़कर दीक्षित हो गये हैं। परन्तु मेरा मोह तो कितना प्रगाढ़ है कि न सम्पत्ति से ही छूट रहा है और न कुटुम्ब-परिवार से ही। मन ही मन कहने लगा- मैं क्या करूं, क्या मेरा उद्धार नहीं होगा? इस प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व से कुछ बेचैनी का अनुभव करता हुआ बोला-

-
- (1)- तस्सणं आणन्दस्स गाहावइस्स चतारि हिरण्णकोडीओ निहाणपउताओ,
चतारि हिरण्णकोडीओ वड्ढिपउताओ, चतारि हिरण्णकोडीओ पवित्थर-
पउताओ, चतारि वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं होत्था ॥
-

भगवन्, मैं आपके इस निर्ग्रन्थ प्रवचन का श्रद्धान करता हूं, प्रतीति करता हूं, आपका प्रवचन मुझे बहुत रुचिकर लगा है, आपने जैसा कहा है वह सत्य है, यथार्थ है और धर्म का स्वरूप ऐसा ही है। मैं इसे चाहता हूं, ग्रहण करने की भावना रखता हूं। किन्तु जैसे-जैसे अनेक राज्याधिकारी, नगर रक्षक, सेठ-साहूकार और मेरे अनेक कुटुम्बी जन मुंडित होकर और घर-बसर छोड़कर अनगारी प्रवृज्या के धारक हो गये हैं उस प्रकार से मैं घर-बार छोड़ने और मुंडित होकर अनगारी प्रव्रज्य धारण करने के लिए अपने को असमर्थ पाता हूं। अतः भगवन् मैं आपके पास पांच अणुव्रत और सात शिक्षा व्रत रूप बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म को धारण करता हूं।

भगवान् ने कहा- हे देवानुप्रिय, जैसे सुख हो वैसा करो, प्रतिबन्ध मत करो। तत्पश्चात् आनन्द सेठ ने यथा विधि एक-एक करके जब चार अणुव्रतों को स्वीकार कर लिया और पांचवें अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने का अवसर आया तो सोचने लगा कि जितना मेरे पास आज परिग्रह है उसमें से रति भर भी छोड़ने के लिए मेरा मोह दूर नहीं हो रहा है। अब मैं क्या करूं? यह विचार कर उसने भगवान् से पूछा-

भगवन्, परिग्रह परिमाण व्रत की क्या विधि है?

भगवान् ने कहा- वर्तमान में जितना परिग्रह हो उसमें से आवश्यकता के अनुसार रखकर शेष का परित्याग करना उत्तम परिग्रह परिमाण व्रत है। जो ऐसा करने में असमर्थ हो वह वर्तमान में जितना है उसका नियम रखकर नवीन उपार्जन का परित्याग करे, यह मध्यम परिग्रह परिमाण अणु व्रत है और जो ऐसा भी नहीं कर सके तो दुगने, तिगुने आदि के रखने का नियम कर आगे के उपार्जन का त्याग करे। यह जघन्य परिमाण अणु व्रत है।

भगवान् का यह उत्तर सुनकर और कुछ क्षण तक विचार कर आनन्द बोला- भगवन् मेरे पास आज जितनी सम्पत्ति है उससे अधिक के उपार्जन का मैं परित्याग करता हूं और मध्यम परिग्रह परिमाण व्रत अंगीकार करता हूं।

(1)- तए णं से आणन्दे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तिए धम्मंसौच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ जाव एवं वयासी- “सद्दहामि णं भन्ते निग्गन्थं पावयणं, पतियामि णं भन्ते---से जहेयं तुव्वे वयह ति कटु जहा णं देवाणुप्पियाणं अंतिए वहवे राईसरतलवरमाडम्बियकोडुम्बियसेटिठसत्थवाहप्पभिइया मुणडा भविता अगाराओ अणगारियं पव्वइया, नौ खलु अहं तहा संचाएमि मुण्डे जाव पव्वइतए। अहं णं देवाणुप्प्याणं अन्तिए

पंचाणुव्वइयं सतसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि। अहासुहं देवाणुप्पिया,
मा पडिबन्धं करेह।” (उपासक दसा 1, 12 I)

तत्पश्चात् आनन्द ने एक-एक करके सातों शिक्षा-व्रतों को स्वीकार किया और श्रावक धर्म को धारण करके भगवान् का उपासक हो गया। जब वह भगवान् की वन्दना करके घर पर आया तो उसने अपने कर्म-कारों को आदेश दिया- आज मेरे पास जितनी सम्पत्ति है और धन-धान्यादि का जितना संग्रह है उस सब की सूची बनाकर मुझे दो। जब सब परिग्रह की सूची आनन्द को दी गई तब उसने कर्म-कारों से कहा- आगे से कोई भी देन-लेन या क्रय-विक्रय मेरे से पूछे बिना न किया जाय। यह कहकर उसने सब को विसर्जित कर दिया।

दूसरे दिन प्रातः काल ही गोकुल से गायों का दुहा हुआ और सैकड़ों घड़ों में भरा हुआ दूध आया। सदा तो घर के लिए आवश्यक दूध रखकर शेष को बेच दिया जाता था। किन्तु अब तो वह नवीन उपार्जन का त्याग कर चुका था अतः उसने कर्म-कारों से कहा- आज से आगे दूध बेचा नहीं जायगा। कर्म-कारों ने पूछा- फिर इस दूध का क्या किया जाय? आनन्द बोला- जिन लोगों के यहां बाल-बच्चे हैं और दूध का प्रबन्ध नहीं है उनके यहां आज से जन-संख्या के अनुसार दूध भेजा जाय। कर्म-कारों ने आदेश को स्वीकार किया और नगर भर में उस दिन से गरीबों के यहां दूध वितरित होने लगा।

कुछ देर के बाद फलों से लदी हुई अनेक गाड़ियां बगीचों से आईं। उनके लिए भी आनन्द ने आदेश दिया- आज से फल आपण (बाजार) में बिकने नहीं जायेंगे क्यों कि बिक्री का धन मैं कहां जमा करूंगा? मैंने तो नवीन अर्थ संग्रह का त्याग कर दिया है। कर्म-कारों ने पूछा- इन फलों का क्या किया जाय? आनन्द ने कहा जिनके यहां फलादि के साधन नहीं हैं ऐसे लोगों के घर यथोचित मात्रा में प्रतिदिन फल भिजवाए जाएं। आदेश के अनुसार वैसा ही किया जाने लगा।

कुछ दिनों के पश्चात् खेतों से धान्य की भरी हुई गाड़ियां आईं। आनन्द ने अपनी सूची देखकर कहा- इतने धान्य को कोष्ठागार में रखकर शेष अन्य अभाव-पीड़ित जनों के यहां भिजवा दिया जाय। क्यों कि उसे बेचने नवीन धन को कहां जमा किया जायगा?

वर्ष के अन्त में लोगों के यहां से- जो चार करोड़ रुपया व्याज पर था उसके व्याज का लाखों रुपया आया। आनन्द ने सोचा- इसे घर में तो रख नहीं सकता। क्यों कि रखने पर

परिग्रह-परिमाण का उल्लंघन होता है। कुछ क्षण सोचने के पश्चात नगर में घोषणा करा दी कि जिसे भी व्यापार के लिए पूंजी की आवश्यकता हो वह मेरे पास से पूंजी ले जावे। जब लोग आये तो उन्हें यथोचित पूंजी देकर कहा- इसके वापिस करने की चिन्ता मत करना, जब तुम्हारे पास पर्याप्त धन हो जाय तो तुम भी किसी आवश्यकता वाले व्यक्ति को इसे पूंजी के लिए दे देना।

इसी प्रकार वर्ष के अन्त में व्यापार से प्राप्त उधार धन के द्वारा दान-शाला, औषधालय, स्वाध्यायशाला और धर्मशाला आदि का निर्माण कराना प्रारम्भ कर दिया और कुछ वर्षों में उसके द्वारा अनेक नगरों में अनेक संस्थाएं स्थापित कर दी गईं। जब गोकुल के अधिकारियों ने आकर के कहा- आज इतनी गायों ने प्रसव किया है उनका क्या किया जावे? तब अपनी स्वीकृत संख्या के अतिरिक्त शेष पूर्व प्रसूता गायों को गरीबों के घर दूध पीने के लिए भिजवा दिया।

आनन्द श्रावक के इस परिग्रह -परिमाण व्रत से उसके सारे नगर-निवासी और देशवासी सुख सम्पन्न हो गये। और सभी के मुखों से ये शब्द निकलने लगे- अहो, देखो- आनन्द ने भगवान् महावीर के समीप अपरिग्रह व्रत को स्वीकार करके सारे नगर और देश में आनन्द ही आनन्द कर दिया है। आनन्द के द्वारा स्थापित संस्थाओं में आकर सहस्रों अभाव-पीड़ित, अनाथ और रुग्ण मनुष्य शरण पाकर उसका यशोगान करने लगे। इस प्रकार आनन्द श्रावक के निमित्त से भ० महावीर के धर्म की चारों ओर प्रशंसा होने लगी और अनेकानेक स्त्री-पुरुष श्रावक धर्म को स्वीकार कर श्रावक और श्राविका बन गये।

आनन्द श्रावक इस प्रकार अपनी मूल सम्पत्ति को सुरक्षित रखकर के भी दानवीर बन गया और उसके द्वारा भगवान् के शासन की महती प्रभावना हुई। इस प्रकार भ० महावीर ने 30 वर्ष तक सारे भारत वर्ष में विहार करते हुए धर्म-देशना दी और असंख्य जीवों ने उसे अंगीकार कर अपना जन्म सफल किया।

भगवान का संघ परिवार

भगवान् के चतुर्विध संघ की संख्या इस प्रकार थी-साधु 14000, केवली 700, मनःपर्ययज्ञानी 500, अवधिज्ञानी 13000, वैक्रियिक ऋद्धिधारी 900, पूर्वधारी 300, वादी 400, आर्यिका 36000, श्रावक 100000, श्रावक 300000, श्राविका 300000 । इनके अतिरिक्त असंख्य देवी-देवताओं ने, अगणित मनुष्यों और पशुओं ने सम्यहदर्शन को धारण किया।

भगवान् महावीर की भाषा

भगवान् महावीर ने अपना प्रवचन अर्द्ध-मागधी भाषा में दिया था। इस भाषा में आधे शब्द मगध देश में बोली जाने वाली भाषा के थे और आधे शब्द भारत के विभिन्न प्रान्तों में बोली जाने वाली 18 देशी भाषाओं के थे। इस कारण सारे भारत के सभी देशवासी लोग उनके प्रवचन को सरलता से समझ लेते थे। अट्ठारह भाषाओं के नाम इस प्रकार हैं-

- 1- ब्राह्मी, 2- हंसी, 3- उडिया, 4- खरोष्ट्री, 5- यवनी, 6- तुरुष्की, 7- कीरी, 8- द्रावडी,
- 9- सैन्धवी, 10- मालवी, 11- नागरी, 12- लाटी, 13- पारसी, 14-चाणक्यी, 15-यक्षी,
- 16- राक्षसी, 17- भूती और 18-द्रामली ।

भगवान् महावीर का केवलीकालिक विहार

दिगम्बर ग्रन्थों में जिस प्रकार भ० महावीर के छद्मस्थकालीन बारह वर्ष के चातुर्मासों का कोई उल्लेख नहीं मिलता है, उसी प्रकार केवली-काल के तीस वर्षों के चातुर्मासों का भी कोई वर्णन नहीं मिलता। किन्तु श्वे० ग्रन्थों में छद्मस्थकाल के चातुर्मासों के समान केवली-काल के चातुर्मासों का तथा विहार-स्थलों का विस्तृत वर्णन मिलता है। पाठकों की जानकारी के लिए यहां पर उनका विवरण संक्षिप्त में दिया जाता है।

केवलीकाल का प्रथम वर्ष

केवलज्ञान प्राप्त करने और समवसरण रचना होने के बाद भगवान् ने प्रथम चातुर्मास राजगृह में व्यतीत किया। नगर निवासियों ने आकर भगवान् की वन्दना की और धर्मदेशना सुनी। राजा श्रेणिक ने सम्यक्त्व स्वीकार किया और अभय कुमार आदि ने श्रावक-धर्म ग्रहण किया। गणधरों के समागम की बात तो पहले बतलाई ही जा चुकी है। तत्पश्चात् श्रेणिक के पुत्र राजकुमार मेघ और नन्दिषेण ने भी भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण की। मेघकुमार राजा श्रेणिक की धारिणी से उत्पन्न हुए अत्यन्त प्रिय पुत्र थे। जब ये गर्भ में आये तब इनकी माता को बरसते हुए मेघों के समान वन-विहार का दोहिला उत्पन्न हुआ था, इस कारण इनका नाम मेघकुमार रखा गया।

मेघकुमार का विवाह आठ सुन्दर कन्याओं के साथ कर दिया गया और ये जब उनके साथ सुखपूर्वक रह रहे थे तभी भ० महावीर का राजगृह पदार्पण हुआ। सब लोगों के साथ ये भी भगवान् की वन्दना के लिए गये और उनकी देशना सुनी। देशना सुनकर ये संसार, देह और भोगों से इतने विरक्त हुए कि घर आते ही इन्होंने अपने माता-पिता से

दीक्षित होने के लिए आज्ञा मांगी। माता-पिता ने इन्हें बहुत समझाया और तपस्वी जीवन के भयंकर दुःखों को बताया और कहा- वत्स, अभी संसार के सुख भोगों और वृद्धावस्था में दीक्षा ग्रहण करना। इन्होंने कहा- कौन जानता है कि कल क्या होगा? इसलिए मैं एक दिन भी अब संसार में नहीं रहना चाहता हूँ और अब आत्म-कल्याण में ही लगना चाहता हूँ। जब मेघकुमार किसी तरह नहीं माना तो माता-पिता ने दीक्षा लेने की आज्ञा दे दी और उन्होंने भ0 महावीर के पास जाकर संयम स्वीकार कर लिया।

दीक्षा के प्रथम दिन ही रात्रि को जब सोने का दिन आया तो नव-दीक्षित होने के कारण इन्हें सब साधुओं के अन्त में सोने के लिए स्थान मिला। रात्रि को शारीरिक शंका निवारणार्थ जाते-आते हुए साधुओं के पैरों की धूलि इनके शरीर पर गिरी और पदाघात भी हुआ। इन्हें इस कारण नींद नहीं आई और सोचने लगे अहो, जब मैं दीक्षित नहीं हुआ था तब मेरे वन्दनार्थ आने पर ये साधु-गण कैसे मधुर शब्दों में सम्बोधन कर मेरे साथ संलाप करते थे और आज मेरे दीक्षित होते ही मेरे ऊपर से पदाघात करते और पाद-रज गिराते हुए आ-जा रहे हैं। यह अपमान और कष्ट मैं नहीं सहन कर सकूंगा। प्रातःकाल ही मैं भगवान् से कहकर और दीक्षा छोड़कर वापिस घर को चला जाऊंगा। दूसरे दिन प्रातःकाल जब मेघ-मुनि भगवान् के पास पहुंचे तब भगवान् ने कहा- अहो मेघ, आज रात्रि में तुम्हें ऐसा विकल्प हुआ है। मेघमुनि बोले हां, भगवान् आप का कहना सत्य है। भगवान् ने कहा अहो मेघ, क्या तुम इससे पहिले वाले भव की बात भूल गये हो जब तुम हाथी की पर्याय में थे और प्रचंड जलवर्षा के समय जब तुम अपने मंडल में अपने परिवार के साथ खड़े हुए थे उस समय छोटे मोटे प्राणी आकर तुम्हारे नीचे त्राण पाने की भावना से आकर खड़े हो गये। कान में खुजली उत्पन्न होने से जैसे ही तुमने खुजलाने के लिए अपना पैर उठाया वैसे ही एक शशक आकर वहां खड़ा हो गया। जैसे ही तुम अपना पैर नीचे रखने को उद्यत हुए कि शशक की उपस्थिति देखकर तुम पैर उठाये ही तीन दिन-रात तक तदवस्थ खड़े रहे। जब वर्षा शांत हुई और नीचे खड़े हुए सब प्राणी चले गये तब तुम चलने के लिए उद्यत हुए किन्तु पैर अकड़ जाने से चल न सके। और तुरन्त धड़ाम से भूमि पर गिर पड़े। तुमने शांत भावों से प्राण छोड़े और मरण कर श्रेणिक के पुत्र हुए हो। हाथी की पर्याय में तो तुमने इतनी सहनशीलता दिखलाई, और आज जरा सी बात में ही अधीर हो गये हो। यह सुनते ही मेघ-मुनि को जातिस्मरण हो गया और उन्होंने अपनी आलोचना कर दुष्कृत का प्रायश्चित्त किया। पुनः धर्म में दृढ़ होकर निष्ठापूर्वक संयम का पालन कर अन्त में संन्यास पूर्वक मरण कर विजय

नामक अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए। इसी प्रकार नन्दिषेण भी तपस्या कर देवलोक को प्राप्त हुए।

केवलिकाल का द्वितीय वर्ष

राजगृह में वर्षा-काल पूर्ण कर विहार करते हुए भगवान् ने विदेह की ओर प्रस्थान किया। जब वे क्षत्रिय कुण्डग्राम पहुंचे तब राजकुमार जमालि ने भगवान् की देशना से प्रभावित होकर 500 क्षत्रिय-कुमारों के साथ दीक्षा ग्रहण की। पुनः जनगण को संबोधन करते हुए भगवान् ने इस वर्ष का वर्षा-काल वैशाली में बिताया।

केवलिकाल का तृतीय वर्ष

वैशाली से विहार कर भगवान् वत्स-देश की राजधानी कौशाम्बी पधारे। उस समय कौशाम्बी में राजा सहस्त्रानीक का पौत्र और शतानीक तथा मृगावती का पुत्र उदयन राज्य करता था। वहां उदयन की भूवा एवं शतानीक की बहन जयन्ती श्रमणोपासका थी। भगवान् के पधारने पर उदयन अपनी मां मृगावती और जयन्ती के साथ वन्दना करने के लिए गया। जयन्ती ने भगवान् की देशना सुनकर कई प्रश्न किये। यथा-

जयन्ती- भगवन्, जीव हल्का कैसे होता है और भारी कैसे होता है?

भगवान्- हिंसा आदि पापों के आचरण से और मिथ्यात्व के सेवन से जीव भारी होता है और चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करता है। और इन्हीं पापों की निवृत्ति से जीव हल्का होता है और संसार सागर को सहज में ही पार कर लेता है।

जयन्ती- भव्यपना जीव में स्वभाव का होता है या किसी निमित्त से?

भगवान्- भव्यपना जीव में स्वभाव से ही होता है। किसी निमित्त से नहीं।

जयन्ती- क्या सब भव्य-जीव मोक्ष जाने वाले हैं?

भगवान्- हां, सब भव्य-जीव मोक्ष जाने वाले हैं।

जयन्ती- भगवन् यदि सब भव्य जीवों की मुक्ति मानी जाय तो क्या संसार कभी भव्य-जीवों से शून्य हो जायगा?

भगवान्- नहीं जयन्ती, + जैसे- सर्व आकाश की प्रदेश श्रेणी अन्य श्रेणियों से घिरी हुई है और अनन्त प्रदेशों वाली है उसमें से एक-एक प्रदेश यदि प्रति समय निकाला जाय तो

भी आकाश के सर्व प्रदेश अनन्त-काल में भी समाप्त नहीं होंगे। उसी प्रकार भव्य जीवों में से निरन्तर मुक्त होते रहने पर भी संसार में भव्य जीव कभी समाप्त नहीं होंगे। क्यों कि वे अनन्त हैं। अथवा जैसे- घंटे को निरन्तर बजाते रहने पर भी उसमें से शब्द निकलना कभी समाप्त नहीं होंगे।

जयन्ती- भगवन्, सोता हुआ मनुष्य अच्छा या जागता हुआ?

भगवान्- कुछ जीव सोये हुए अच्छे और कुछ जागते हुए अच्छे। जो अधर्माचरण करते हैं उनका सोना अच्छा है, क्यों कि सोती दशा में वे अधर्माचरण और जीव-घात से बचेंगे। किन्तु जो जीव धर्माचरण करते हैं और किसी जीव को दुःख नहीं पहुंचाते हैं उनकी जागते रहना अच्छा है क्यों कि इससे वे स्व-पर का कल्याण करेंगे।

इस प्रकार जयन्ती ने भगवान् से अनेक प्रश्न पूछे और भगवान् से सयुक्तिक उत्तर पाकर जयन्ती अत्यन्त प्रसन्न हुई और उसने संयम ग्रहण कर आत्म-कल्याण किया।

कौशाम्बी से विहार कर भगवान् श्रावस्ती आये। यहां पर सुमेना भद्र और सुप्रतिष्ठ ने भगवान् की देशना से प्रबुद्ध होकर दीक्षा ग्रहण की और वर्षों तक संयम पालन कर दोनों ने विपुलाचल पर्वत से मुक्ति प्राप्त की।

कौशाम्बी से विहार कर भगवान् वाणिज्यग्राम आये। यहां पर भगवान् की देशना से प्रबुद्ध होकर अनेक लोगों ने दीक्षा ग्रहण की और आनन्द सेठ ने श्रावक व्रत अंगीकार किये। (जिसका वर्णन आनन्द श्रावक शीर्षक में पहिले किया जा चुका है।) इस वर्ष का वर्षाकाल भगवान् ने वाणिज्यग्राम में ही बिताया।

केवलिकाल का चतुर्थ वर्ष

वर्षाकाल समाप्त होने पर भगवान् ने वाणिज्यग्राम से मगध की ओर विहार किया और ग्रामानुग्राम उपदेश देते हुए राजगृह पधारे। उस समय वहां के प्रमुख सेठ शालिभद्र ने भगवान् के उपदेश से प्रभावित होकर अपनी 32 स्त्रियों और दिव्य भोगों को छोड़कर संयम अंगीकार किया।

कहा जाता है कि शालिभद्र के पिता मरण कर देव हुए थे वे अपने पुत्र और पुत्र-वधुओं को नित्य नये वस्त्राभूषण आदि पहुंचाया करते थे। शालिभद्र की माता भी मुक्त हस्त से अपने पुत्र और पुत्र-वधुओं के लिए सर्व प्रकार की सुख-सुविधा का ध्यान रखती थीं। जिन

रत्न-कम्बलों को राजा श्रेणिक भी व्यापारी से नहीं खरीद सका उन्हें खरीदकर और उसके बत्तीस खण्ड कर पुत्र-वधुओं को पैर पोंछने के लिए दे दिये थे।

जब शालिभद्र ने दीक्षा लेने का विचार किया तो उसने प्रतिदिन एक-एक स्त्री को संबोधित कर उससे अनुज्ञा प्रारम्भ किया। जब यह बात शालिभद्र की बहिन सुभद्रा को ज्ञात हुई तो उसने अपने पति धन्ना सेठ से अपने भाई के वैराग्य की प्रशंसा की। धन्ना ने कहा यह भी कोई वैराग्य है? जिसे सचमुच में वैराग्य होता है वह घरबार को एकदम छोड़कर चला जाता है। सुभद्रा ने कहा- कहने और करने में बहुत अन्तर है। कहना आसान है और करना कठिन होता है। यह सुनकर धन्ना सेठ को बात लग गई और बोला- लो यह चला मैं संयम लेने के लिए। यह कहकर वह घर से निकला और अपने साले शालिभद्र के घर जाकर उसे ललकारा + अरे, क्यों समय व्यर्थ खो रहा है? चल मेरे साथ, अपन दोनों साथ संयम अंगीकार करेंगे। बहनोई की ललकार सुनते ही शालिभद्र भी तत्काल घर से निकला और भगवान् के चरणों में जाकर दोनों ने संयम को धारण कर लिया। नाना प्रकार की तपस्या करते हुए दोनों ने वैभारगिरि पर संथारा स्वीकार किया और मरण कर सर्वार्थसिद्धि विमान में वे दोनों उत्पन्न हुए।

इस प्रकार सहस्रत्रो नर-नारियों को उपदेश कर दीक्षा देते हुए भगवान् ने वर्षाकाल राजगृह में ही बिताया।

केवलिकाल का पंचम वर्ष

वर्षाकाल समाप्त होने पर भगवान् ने चंपा की ओर विहार किया। भगवान् की आवागमन की बात सुनकर वहां का राजा दत्त सपरिवार वन्दना के लिए आया। भगवान् की दिव्य-देशना सुनकर राजकुमार महाचन्द्र प्रतिबोध को प्राप्त हुआ। और राजवैभव तथा 500 रानियों का परित्याग कर दीक्षित हो गया।

यहां से विहार कर भगवान् वाणिज्यग्राम पधारे और वहीं पर वर्षाकाल बिताया।

केवलिकाल का छठा वर्ष

वर्षाकाल समाप्त होने पर भगवान् ने वाराणसी की ओर विहार किया और ग्रामानुग्राम दिव्य-देशना देते हुए वे वाराणसी पहुंचे। भगवान् का आगमन सुनकर वहां के राजा जितशत्रु वन्दना के लिए गये और नगर निवासी भी। भगवान् की देशना सुनकर अनेक

नर-नारियों ने श्रावक धर्म अंगीकार किया। जिनमें चुल्लिनी पिता, सुरादेव, श्यामा और धन्या प्रमुख थे।

वाराणसी से विहार कर भगवान् आलम्पिया पधारे। यहां पर पुद्गल नाम का एक परिव्राजक रहता था जो वेद-वेदांग का विशिष्ट ज्ञाता और तपस्वी था। किन्तु उसे कितनी ही शंकाएं थीं, उनका समाधान भगवान् से पाकर उसने संयम अंगीकार कर लिया।

आलम्बिया से विहार करते हुए भगवान् राजगृह पधारे। यहां पर धर्म-देशना सुनकर अर्जुनमाली एवं वरदत्त गाथापति ने संयम अंगीकार किया। भगवान् ने वर्षाकाल भी यहीं पर बिताया। इस समय अनेकों ने श्रावक धर्म ग्रहण किया जिनमें नन्दन मणिकार प्रमुख था।

केवलिकाल का सातवां वर्ष

वर्षाकाल समाप्त होने पर भी भगवान् कुछ दिन और राजगृह में विराजे। इस समय श्रेणिक ने पूछा- भगवन्, मैं किस उपाय से नरक-यातना से बच सकता हूं?

भगवान् ने कहा- यदि कालशौकरिक (कसाई) से हत्या छुड़वा दें, जो कि प्रतिदिन 500 भैंसों को मारता है और कपिला ब्राह्मणी से किसी को दान दिला दो तो तुम नरक यातना से छूट सकते हो। श्रेणिक ने भरसक प्रयत्न किया। पर न तो उस कसाई ने जीव-हत्या छोड़ी और न कपिला ने भी दान देना स्वीकार किया। इससे श्रेणिक बहुत दुःखी हुए। तब भगवान् ने कहा कुछ चिन्ता मत करो, तुम्हारा भी भविष्य उज्ज्वल है और नरक से निकल कर इसी भरत क्षेत्र में चौरासी हजार वर्ष बाद तुम तीर्थकर होओगे।

भगवान् के वचनों से श्रेणिक के मन में शांति का संचार हुआ और उनका मन उत्तरोत्तर भगवान् की देशना सुनने के लिए उत्सुक रहने लगा। इसी समय उन्होंने नगर में घोषणा कराई- जो कोई भगवान् के पास संयम धारण करेगा मैं उसे यथोचित सहयोग दूंगा और उसके कुटुम्ब की परिपालना भी करूंगा। घोषणा सुनकर अनेकों नगर निवासियों के साथ जालि, मयालि, उपालि, पुरुषसेन, वारिषेण, दीर्घदन्त, लष्टदन्त, वेहल्ल, बेहास, अभय, दीर्घसेन, महासेन, गूढदन्त, शुद्धदन्त, हल्ल, दुम, दुमसेन, महादुमसेन, सिन्धसेन, सिंह, महासिंहसेन, पूर्णसेन और महासेन इन तेईस राजकुमारों ने तथा नन्दा नन्दमति, नन्दोतरा, नन्दीसेनिया, मरुया, सुमरिया, महामरुता, मरुदेवा, भद्रा, सुभद्रा, सुजाता, सुमना और भूतदत्ता इन तेरह रानियों ने संयम अंगीकार किया। इस वर्ष का वर्षाकाल भी भगवान् ने राजगृह में ही व्यतीत किया।

केवलिकाल का आठवां वर्ष

वर्षाकाल समाप्त होने पर भगवान् विहार करते हुए कौशाम्बी पधारे और मृगावती रानी को संकट से मुक्त किया। क्यों कि मृगावती के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर चण्डप्रद्योत उसे अपनी रानी बनाने के लिए कौशाम्बी के चारों ओर घेरा डाले हुए था। उदयन अल्प वयस्क था इसलिए मृगावती ही राज्य का संचालन करती थी। भगवान् के पधारने की बात सुनकर वह वन्दना के लिए गई। भगवान् की देशना सुनकर वह दीक्षा लेने के लिए उत्सुक हुई और बोली- भगवन् यदि चण्डप्रद्योत आज्ञा दे देवे तो मैं आपके चरणों में दीक्षित होना चाहती हूं। यह कहकर वह वहीं पर बैठे हुए चण्डप्रद्योत से जाकर उसने अनुमति मांगी। सभा में लज्जावश वह मना नहीं कर सका और उसने दीक्षा के लिए अनुमति दे दी। मृगावती ने सहर्ष संयम धारण किया और उसके ऊपर आया हुआ शील का संकट सदा के लिए दूर हो गया।

इस वर्ष का वर्षाकाल भगवान् ने वैशाली में व्यतीत किया।

केवलिकाल का नवां वर्ष

वर्षाकाल समाप्त होने पर भगवान् मिथिला होते हुए काकन्दी पधारे। भगवान् के आगमन का समाचार सुनकर राजा जितशत्रु भी नगर निवासियों के साथ वन्दना के लिए गये। भद्रा सार्थवाहिनी का पुत्र धन्यकुमार भी भगवान् की देशना सुनने के लिए गया था। देशना सुनकर वह बहुत प्रभावित हुआ और माता की अनुज्ञा लेकर विशाल वैभव एवं बत्तीस(32) सुन्दर भार्याओं को छोड़कर उसने भगवान् के चरणों में संयम अंगीकार कर लिया।

राजा जितशत्रु ने भी इस समय नगर में घोषणा कराई कि जो भी भगवान् के पास दीक्षित होना चाहे वे निश्चिन्त होकर दीक्षा ग्रहण करें, मैं उनके कुटुम्बियों का भरण-पोषण करूंगा। महाराज की घोषणा सुनकर धन्यकुमार के साथ और भी अनेक पुरुषों ने दीक्षा ग्रहण की। धन्यकुमार केवल नौ मास तपस्या करके मरण को प्राप्त हुए और सर्वार्थ-सिद्धि विमान में उत्पन्न हुए। इनके साथ ही सुनक्षत्रकुमार भी दीक्षित हुए और वे भी सर्वार्थ-सिद्ध में उत्पन्न हुए।

काकन्दी से विहार कर भगवान् कम्पिलपुर, पूलासपुर होते हुए वाणिज्य ग्राम पधारे। कम्पिलपुर में कुण्डकौलिक ने श्रावक धर्म अंगीकार किया और पोलासपुर में

सद्दालपुत्र ने। वाणिज्यग्राम से विहार कर भगवान् वैशाली पधारे। इस वर्ष का वर्षाकाल भी भगवाने ने वैशाली में बिताया।

केवलिकाल का दसवां वर्ष

वर्षाकाल के पश्चात् भगवान् ने मगध देश की ओर विहार किया और राजगृह पहुंचे। इस बार भगवान् के उपदेस से प्रभावित होकर महान सम्पत्ति का स्वामि महासतक गाथापति भगवान् के उपदेश से प्रभावित हुआ और उसने भी आनन्द के समान श्रावक व्रत अंगीकार किये। इसी समय पार्श्व-संतानीय अनेक साधुओं ने आकर और भगवान् से अपनी शंकाओं का समाधान पाकर चतुर्याम-धर्म से पंच-महाव्रत-रूप धर्म स्वीकार किया और भगवान् के संघ में सम्मिलित हो गये।

इसी समय रोहक साधु ने भगवान् से पूछा-भगवान्, लोक पहिले या अलोक, जीव पहिले या अजीव, सिद्ध पहिले या असिद्ध? इस प्रकार के अनेक प्रश्न पूछे।

भगवान् ने कहा- अपेक्षा से दोनों पहिले भी हैं और पीछे भी हैं उनमें कोई नियत क्रम नहीं है। बीज और वृक्ष में जैसे किसी को पहिले और किसी को पीछे नहीं कहा जा सकता, क्यों कि इन दोनों की परम्परा अनादि-कालीन है।

भगवान् के उत्तर से संतुष्ट होकर वह दृढ़ श्रद्धाानी हो गया। इस प्रकार ज्ञान की गंगा बहाते हुए भगवान् ने यह वर्षाकाल भी राजगृह में बिताया।

केवलिकाल का ग्यारहवां वर्ष

भगवान् ने वर्षाकाल बिताकर वहां से विहार किया और कयंगला नगरी पधारे। वहां पर एक स्कन्दक नाम का एक परिव्राजक रहता था। वह वेदान्त का विशिष्ट अभ्यासी और वेद-वेदांग का पारगामी था। उसने भी भगवान् के पास आकर पूछा-

यह लोक सहित है या अन्त रहित? जीव. सिद्धि और सिद्ध सान्त हैं या अनन्त? किस मरण से मरता हुआ जीव घटता वा बढ़ता है?

भगवान् ने लोक के विषय में कहा- स्कन्धक, लोक चार प्रकार का है- द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक और भाव लोक। द्रव्य से लोक एक और शान्त है। क्षेत्र से लोक असंख्य योजन विस्तृत एवं शान्त है। काल से लोक अनादि और अनन्त है। तथा भाव से भी लोक अनन्त पर्यायों का भंडार है। इस प्रकार लोक शांत भी है और अनन्त भी है।

जीव, सिद्धि और सिद्ध भी द्रव्य से एक और अन्त वाले हैं। क्षेत्र से सीमित, क्षेत्र में रहते हैं अतः सान्त हैं। काल और भाव से जीव सिद्ध कभी नहीं थे ऐसा नहीं है। वे अनन्त पर्यायों के आधार हैं अतः अनन्त हैं। और तुमने जो मरण के विषय में पूछा सो मरण दो प्रकार का है- बाल-मरण, और पण्डित-मरण। बाल-मरण से संसार बढ़ता है और पण्डित-मरण से संसार घटता है।

इस प्रकार अपने प्रश्नों का सयुक्तिक उत्तर पाकर स्कन्धक अपने अनेक शिष्यों के साथ दीक्षित होकर भगवान् के संघ में सम्मिलित हो गया।

कयंगला से श्रावस्ति होते हुए भगवान् वाणिज्यग्राम पधारे और वर्षाकाल यहीं पर बिताया।

केवलिकाल का बारहवां वर्ष

वर्षाकाल के समाप्त होने पर भगवान् ने विहार किया और ब्राह्मणकुण्ड के बहुशाल उद्यान में आकर विराजमान हुए। जमालि अनगार ने यहीं पर भगवान् से प्रथक विहार करने की अनुमति मांगी और उनके मौन रहने पर अपने 500 अनुयायियों के साथ वह स्वतन्त्र विहार करने लगा।

ब्राह्मणकुण्ड से विहार करते हुए भगवान् कौशाम्बी पधारे। यहां पर इस समय पार्श्वसंतानीय अनेक साधुओं के साथ वहां के श्रावकों की तत्त्व-चर्चा चल रही थी। परन्तु श्रावक कुछ संदिग्ध थे अतः उन्होंने भगवान् से पूछा- ये साधु जो तप और संयम का फल बता रहे हैं क्या वह ठीक है? भगवान् ने कहा हां, तप और संयम का फल कर्माश्रव का निरोध और संचित कर्मविनाश है। और इसी से ही जीव सिद्धि प्राप्त करता है। इस प्रकार श्रावकों की अनेकों शंकाओं का समाधान करते हुए भगवान् ने वहां से विहार किया और राजगृह पधारे। इसी समय अभय और वेहास आदि अनेक अनगारों ने विपुलाचल पर अनशन कर देवत्व प्राप्त किया। इस बार भी भगवान् ने वर्षाकाल राजगृह में ही बिताया।

केवलिकाल का तेरहवां वर्ष

वर्षाकाल के पश्चात् विहार करते हुए भगवान् पुनः चम्पा पधारे उस समय वहां कूणिक राज्य कर रहा था। भगवान् का आगमन सुनकर वह बड़े समारोह के साथ भगवान् की वन्दना के लिए गया। देशना से प्रभावित होकर अनेकों गृहस्थों ने मुनि धर्म अंगीकार किया। उनमें श्रेणिक के पद्म, महापद्म, भद्र, सुभद्र, महाभद्र, पद्मसेन, पद्मगुल्म, नलिनिगुल्म, आनन्द और नन्दन ये दसों पौत्र प्रमुख अनेक व्यापारियों ने भी श्रावक धर्म

स्वीकार किया और अनेक स्त्रियों ने आर्या और श्राविका के व्रत ग्रहण किये। भगवान् ने चम्पा में ही वर्षाकाल बिताया।

केवलिकाल का चौदहवां वर्ष

भगवान् ने चम्पा से विदेह की ओर विहार किया। बीच में काकानन्दी के गाथापति खेमक और धृतिधर ने दीक्षा ग्रहण की। और वे संयम पालकर विपुलाचल पर सिद्ध हुए। विहार करते हुए भगवान् मिथिला पधारे और यहां पर वर्षाकाल व्यतीत किया।

वर्षाकाल के पश्चात् भगवान् विहार करते हुए अंग देश होकर चम्पा नगरी पधारे। भगवान् के आगमन का समाचार सुनकर नागरिक लोग और राजघराने की रानियां भगवान् की रानियां भगवान् की वन्दना के लिए गईं। उस समय वैशाली में युद्ध चल रहा था। एक ओर 18 गणराजा और दूसरी ओर कूणिक और उसके दस भाई अपने दलबल के साथ युद्ध में संलग्न थे। देशना समाप्त होने पर रानियों ने अपने पुत्रों के लिए पूछा- भगवान्, हमारे पुत्र युद्ध में गये हैं वे कब तक कुशल पूर्वक लौटेंगे? उत्तर में भगवान् के द्वारा पुत्रों का मरण सुनकर रानियों को अपार दुःख हुआ। वे संसार से विरक्त हो गईं और कूणिक की अनुमति से उन सभी ने संयम अंगीकार कर लिया। और तपस्या करती हुई भगवान् के साध्वी संघ में सम्मिलित हो गईं। भगवान् कुछ समय तक चम्पा में ठहरकर मिथिला पधारे और वहीं पर वर्षाकाल व्यतीत किया।

केवलिकाल का पन्द्रहवां वर्ष

वर्षाकाल समाप्त कर भगवान् ने श्रावस्ति की ओर विहार किया। कूणिक के भाई हल्ल, वेहल्ल- जिसके कारण वैशाली में युद्ध हो रहा था किसी प्रकार वहां से बचकर भगवान् के पास पहुंचे और दीक्षा लेकर भगवान् के शिष्य हो गये।

श्रावस्ति पहुंचकर भगवान् कोष्ठक चैत्य में विराजमान हुए। मंखली-पुत्र गोशालक भी उस समय श्रावस्ति में ही था और अपने धर्म का प्रचार कर रहा था। भगवान् के साथ उसकी अनेक बार बातचीत हुई परन्तु उसका मिथ्यात्व दूर न हो सका।

यहां से विहार करते हुए भगवान् मिथिला पधारे और वहीं पर वर्षाकाल व्यतीत किया।

केवलिकाल का सोलहवां वर्ष

मिथिला में वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् हस्तिनापुर की ओर पधारे। जब विहार करते हुए भगवान् श्रावस्ति पहुंचे तब वहां पर पार्श्वसंतानीय केशीकुमार अपनी साधु मण्डली के साथ ठहरे हुए थे। यहां पर गौतम और केशी का मिलन हुआ और दोनों में अनेक शंकाओं का समाधान हुआ। जिससे संतुष्ट होकर केशी ने चतुर्याम व्रत से पंचमहाव्रत रूप धर्म स्वीकार कर लिया।

जब भगवान् हस्तिनापुर पहुंचे उस समय शिवराजऋषि वल्कल पहिने तपस्या किया करता था और कन्द-मूल आदि खाकर रहता था। उसकी तपस्या से उसे विभंग ज्ञान उत्पन्न हो गया। जिससे वह सात द्वीप और समुद्र तक देखने जानने लगा। वह समझने लगा कि बस, इतना ही संसार है आगे कुछ नहीं। जब भगवान् से लोगों को ज्ञात हुआ कि इस पृथ्वी पर असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं तब यह बात शिवराजऋषि के कान तक पहुंची। शिवराजऋषि के मन में अनेक संकल्प-विकल्प पैदा हुए और इस कारण उसका विभंग ज्ञान नष्ट हो गया। तब शिवराजऋषि ने सोचा अवश्य ही मेरे ज्ञान में कमी है। महावीर का कथन सत्य होगा। यह विचार कर वे भगवान् के समीप पहुंचे। और देशना सुनकर उनका मिथ्यात्व गल गया और उन्होंने पंचमुष्ठी केश-लुंच कर जिन दीक्षा स्वीकार की। कठिन तपश्चरण करते हुए अन्त में उन्होंने सब कर्मों का क्षय कर निर्वाण प्राप्त किया।

हस्तिनापुर में अन्य अनेक लोगों ने भी संयम स्वीकार किया। उनमें पोटिल्ल अनगार प्रमुख था। कुछ समय के पश्चात् भगवान् हस्तिनापुर से विहार कर मौकानगरी होते हुए वाणिज्यग्राम पहुंचे और वहीं पर वर्षाकाल व्यतीत किया।

केवलिकाल का सत्रहवां वर्ष

वर्षाकाल पूर्ण होते ही भगवान् विदेह भूमि से मगध की ओर पधारे और विहार करते हुए राजगृह पहुंचे। उस समय बौद्ध आजीवक आदि अनेक सम्प्रदायों के अनेक साधु वहां विचर रहे थे और समय-समय पर एक दूसरे की मान्यताओं पर विचार भी किया करते थे। जब उन्होंने भगवान् की धर्मदेशना सुनी तो उनमें से अनेक ने श्रमण धर्म अंगीकार किया। उस वर्ष अनेक अनगारों ने तपस्या कर और कर्मों का नाश कर विपुलाचल से आत्मार्थ की सिद्धि की। भगवान् ने यह वर्षाकाल भी राजगृह में बिताया।

केवलिकाल का अठारहवां वर्ष

वर्षाकाल व्यतीत कर भगवान् ने चम्पा की ओर विहार किया और वहां के उपनगर पृष्ठ चम्पा में जा विराजे। वहां के राजा शाल और युवराज महाशाल ने भगवान् का उपदेश सुना और दोनों ने संसार से विरक्त होकर संयम को धारण कर लिया। इसी समय भगवान् के उपासक कामदेव के ऊपर किसी देव ने अनेक प्रकार के उपसर्ग किये। जिसे सुनकर साधुओं को बड़ा आश्चर्य हुआ। भगवान् ने कहा- निर्ग्रन्थों, तुम्हें इससे प्रेरणा लेनी चाहिए।

चम्पा से विहार कर भगवान् ने दशार्णपुर की ओर प्रस्थान किया। वहां का राजा बड़े समारोह के साथ भगवान् की वन्दना के लिए आया और देशना से प्रभावित होकर उसने संयम को अंगीकार किया।

दशार्णपुर से विहार कर विदेह प्रदेश से होते हुए भगवान् वाणिज्यग्राम आये। उस समय वहां सोमल नाम का ब्राह्मण रहता था जो वेद-वेदांग का जानकार और 500 शिष्यों का गुरु था। उसने भगवान् के पास आकर अनेक प्रश्न किये और भगवान् ने सब का सयुक्तिक उत्तर दिया। इससे सोमल बहुत प्रभावित हुआ और श्रावक धर्म स्वीकार किया।

भगवान् ने यह वर्षाकाल वाणिज्यग्राम में ही बिताया।

केवलिकाल का उन्नीसवां वर्ष

वर्षाकाल समाप्त कर भगवान् कौशल देश के साकेत, श्रावस्ति आदि नगरों में विहार करते हुए पांचाल देश पधारे और कम्पिलपुर के बाहर सहस्त्राम्रवन में विराजमान हुए। स समय वहां अम्बड नाम का एक परिव्राजक अपने 700 शिष्यों के साथ रहता था। जब उसने भगवान् के वीतरागमय निर्दोष प्रवचन सुने तो वह अपनी शिष्य मण्डली के साथ भगवान् का उपासक बन गया और परिव्राजक वेशभूषा रखते हुए भी देश संयम का पालन करने लगा। कम्पिलपुर से विहार कर भगवान् वैशाली पधारे और यहीं पर वर्षाकाल बिताया।

केवलिकाल का बीसवां वर्ष

वर्षाकाल समाप्त कर वैशाली से विहार करते हुए भगवान् पुनः वाणिज्यग्राम पधारे। जब वे धर्म-देशना दे रहे थे तब पश्वसंतानीय गांगेय मुनि वहां गये और दूर खड़े रह कर भगवन से पूछने लगे-

भगवन्- नारदजी सान्तर उत्पन्न होते हैं, अथवा निरन्तर?

भगवान् ने कहा- गांगेय, नारद सान्तर भी उत्पन्न होते हैं और निरन्तर भी उत्पन्न होते हैं।

गांगेय- भगवन्, नारद सत् उत्पन्न होते हैं या असत्?

भगवान्- गांगेय, सभी सत् उत्पन्न होते हैं। असत् कोई भी उत्पन्न नहीं होता।

गांगेय- भगवन्, सत् की उत्पत्ति कैसी और मरे हुए की सत्ता कैसी?

भगवान्- गांगेय, पार्श्व अर्हत ने लोक को शाश्वत कहा है, इसमें सर्वथा असत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् का सर्वथा नाश भी नहीं होता।

गांगेय- भगवन्, यह वस्तु तत्त्व आप स्वयं प्रत्यक्ष से जानते हैं या अनुमान से अथवा किसी आगम के आधार से।

भगवान्- गांगेय, यह सब मैं स्वयं जानता हूँ। किसी भी अनुमान अथवा आगम के आधार पर नहीं कहता, आत्म-प्रत्यक्ष से जानी हुई बात ही कहता हूँ।

इस प्रकार अनेक प्रश्नों के समुचित उत्तर पाकर गांगेय अनगार ने भ० महावीर को यथार्थ रूप से पहिचाना। जब उन्हें विश्वास हो गया कि भगवान् वास्तव में सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं तब उन्होंने भगवान् को तीन बार प्रदक्षिणा देकर नमस्कार किया और चातुर्याम परम्परा से निकलकर पंच महाव्रतिक परम्परा को स्वीकार किया।

तत्पश्चात् भगवान् वैशाली पधारे और वर्षाकल यहीं व्यतीत किया ।

केवलिकाल का इक्कीसवां वर्ष

वर्षाकाल व्यतीत कर भगवान् ने वैशाली से मगध की ओर विहार किया और अनेक स्थानों में धर्म देशना करते हुए राजगृह पधारे। उन दिनों वहां पर अनेक अन्य तीर्थिक रहते थे और अपने-अपने मत का प्रतिपादन करते हुए दूसरों के मतों का खण्डन करते थे। अन्य तीर्थिकों की मान्यता के विषय में भगवान् का अभिप्राय जानने के लिए गौतम ने भगवान् से पूछा- भगवन् - कुछ अन्य तीर्थ कहते हैं- शील (सदचार) श्रेष्ठ है, दूसरे कहते हैं- श्रुत (ज्ञान) श्रेष्ठ है, और तीसरे कहते हैं शील और श्रुत प्रत्येक श्रेष्ठ है। भगवन्, इनमें से किसे श्रेष्ठ समझा जाय?

भगवान् ने कहा- पुरुष चार प्रकार के होते हैं- 1- कुछ शील सम्पन्न ही होते हैं, श्रुत सम्पन्न नहीं होते। 2- कुछ श्रुत सम्पन्न होते हैं, शील सम्पन्न नहीं। 3- कुछ शील सम्पन्न भी होते

हैं और श्रुत सम्पन्न भी। 4- कुछ शील सम्पन्न नहीं होते और श्रुत सम्पन्न भी नहीं होते। इनमें जो शीलवान हैं पर श्रुतवान नहीं उनको मैं देशाराधक कहता हूँ। जो शीलवान नहीं पर श्रुतवान हैं उनको मैं देशविराधक कहता हूँ। जो शीलवान और श्रुतवान हैं उन्हें मैं सर्वाराधक कहता हूँ। और जो न शीलवान हैं और न श्रुतवान हैं उन्हें मैं सर्व विराधक कहता हूँ।

इस प्रकार अनेक शंकाओं का समाधान गौतम ने भगवान् से प्राप्त किया। इसके बाद अनेक देशों में धर्म देशना करते हुए भगवान् पुनः राजगृह पधारे और वहीं पर वर्षाकाल व्यतीत किया।

केवलिकाल का बाईसवां वर्ष

वर्षाकाल समाप्त होने पर भगवान् अनेक ग्राम और नगरों में धर्म देशना देते हुए ग्रीष्मकाल में पुनः राजगृह पधारे। जब गौतम गोचरी करके वापिस उद्यान की ओर आ रहे थे तब मार्ग में तब मार्ग में कोलोदाइय, शिवोदाइय आदि अनेक तीर्थिक भगवत्-प्ररूपित पंचास्तिकायों की चर्चा कर रहे थे। गौतम को देखकर वे उनके पास आये और बोले- हे गौतम, तुम्हारे धर्माचार्य श्रमण ज्ञात पुत्र धर्मास्तिकाय आदि पांच अस्ति कायों में से चार को अजीवकाय कहते हैं और एक को जीवकाय। तथा चार को अरूपीकाय कहते हैं और एक को रूपीकाय। ऐसा कहने का क्या रहस्य है?

गौतम ने कहा- हम अस्तित्व में नास्तित्व नहीं कहते और न नास्तित्व में अस्तित्व नहीं कहते। किन्तु अस्ति को अस्ति और नास्ति को नास्ति कहते हैं। हे देवान्प्रियो, इस विषय में तुम लोग स्वयं विचार करो जिससे कि इसका रहस्य समझ सको।

कालोदाई गौतम के उत्तर का रहस्य नहीं समझ सका और वह भगवान् के पास आया। भगवान् ने उसे सम्बोधन करते हुए कहा कि गौतम ने तुम्हें जो उत्तर दिया है वह यथार्थ है। कालोदाई- भगवन्, आपके माने हुए इन धर्मस्तिकाय आदि पर कोई सो, उठ, बैठ या खड़ा रह सकता है?

भगवान्- कालादई, इन धर्मस्तिकाय आदि अरूपि काय पर सोना, बैठना या चलना-फिरना नहीं हो सकता। ये सब क्रियायें केवल एक पुद्गलस्तिकाय पर ही हो सकती हैं क्योंकि वह रूपी और अजीवकाय है। अन्य पर नहीं।

कालोदायी- भगवान्, जीवों के दुष्ट विपाक रूप पाप कर्म पुदगलायस्ति में काय में किये जाते हैं या जीवास्तिका में ?

भगवान्- जीवों के दुःख विपाक रूप पापकर्म पुदगलास्तिकाय में नहीं किये जाते किन्तु जीवास्तिकाय में ही किये जाते हैं। पाप ही नहीं सभी प्रकार के कर्म जीवास्तिकाय में ही होते हैं। जड़ होने से अन्य कार्यों में नहीं किये जा सकते।

इस प्रकार भगवान् के उत्तरों से कालोदाई की शंका दूर हो गई और वह दीक्षित होकर मुनि बन गया।

राजगृह के ईशान कौण में नालन्दा नाम का एक समृद्ध उपनगर था। वहां लेव नाम का एक धनाढ्य गृहस्थ रहता था जो जैन श्रमणों का परम भक्त था। एक बार जब भगवान् नालन्दा में विराजमान थे तब पेढालपुत्र उदक नामक एक पार्श्वसन्तानीय निर्ग्रन्थ ने गौतम से अनेक प्रश्न पूछे। और उनका सयुक्तिक उत्तर पा कर वह गौतम से बोला- आयुष्मान्, मुझे पहिले इन पदों का ज्ञान नहीं था इस कारण निर्ग्रन्थ प्रवचन पर मेरी श्रद्धा नहीं थी परन्तु अब इनको सुना और समझा है अतः मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन की श्रद्धा करता हूं। यह कहकर वह गौतम के साथ भगवान् के समीप आया और पंचयामव्रत को स्वीकार कर उनके संघ में सम्मिलित हो गया। इस बार वर्षाकाल भगवान् ने नालन्दा में ही किया।

केवलिकाल का तेईसवां वर्ष

वर्षाकाल समाप्त होने पर भगवान् नालन्दा से विहार कर वाणिज्यग्राम पधारे। वहां के अनेक धनाढ्यों में सुदर्शन सेठ प्रमुख था। नगर निवासियों के साथ वह भी भगवान् की वन्दना के लिए आया। देशना के अन्त में उसने भगवान् से अपने पूर्व भव पूछे और उन्हें सुनते ही सुदर्शन को जातिस्मरण हो गया। उसके नेत्रों से आनन्दाश्रु निकलने लगे। और संसार से विरक्त होकर उसने उसी समय संयम अंगीकार कर लिया। वाणिज्यग्राम से भगवान् वैशाली आये और वहीं वर्षाकाल व्यतीत किया।

केवलिकाल का चौबीसवां वर्ष

वर्षाकाल समाप्त होने पर भगवान् ने कौशल की ओर विहार किया और ग्राम-नगरों में धर्मोपदेश देते हुए साकेत पहुंचे। वहां का निवासी जिनदेव श्रावक देशाटन करता हुआ कोटिवर्ष नगर पहुंचा। वहां का राजा किरात नामक एक भिल्लराज था। जिनदेव ने जाकर उसे ऐसे उत्तम अनेक रत्न भेंट किये जो उसके कोषागार में नहीं थे। उन्हें देखकर वह बोला- अहा,

क्या सुन्दर हैं? कहो- ऐसे रत्न कहां उत्पन्न होते हैं। कि रात राज बोला मेरी इच्छा तुम्हारे देश में चलकर रत्नों को देखने की है। परन्तु मैं तुम्हारे राजा से डरता हूं। जिनदेव ने कहा- डरने की कोई बात नहीं है मैं उनकी आज्ञा मंगवा देता हूं। यह कहकर उसने पत्र द्वारा अपने राजा की आज्ञा मंगा दी और किरात राज को लेकर वह अपने नगर लौट आया।

जब वह लौटा उस समय भगवान् साकेत में ही विराज रहे थे। अतः वह किरात राज से बोला- आज यहां रत्नों का एक बड़ा व्यापारी आया है। मेरे साथ चलो और एक से एक रत्नों को देख लो। यह कहकर किरात राज को लेकर भगवान् के समवसरण में पहुंचा। वहां के दिव्य प्रातिहार्यों को देखकर किरात राज चकित रह गया। उसने रत्नों के ढेर और मूल्य के सम्बन्ध में भगवान् से पूछा। भगवान् ने कहा- रत्न दो प्रकार के होते हैं। एक भाव रत्न और दूसरे द्रव्य रत्न। भाव रत्नों के तीन भेद हैं- दर्शनरत्न, ज्ञानरत्न, और चारित्ररत्न। इन तीनों रत्नों का विस्तृत स्वरूप समझाकर भगवान् ने कहा ये ऐसे प्रभावशाली रत्न हैं जो धारण करने वाले की प्रतिष्ठा को बढ़ाते हैं, साथ ही इस लोक और परलोक संबंधी सब कष्टों को दूर करते हैं। द्रव्य रत्न कैसे भी मूल्यवान हों पर उनका प्रभाव परिमित ही होता है। वे भवान्तर में सुख नहीं दे सकते। किन्तु भाव रत्न भवान्तर में भी सुख देते हैं।

भगवान् की रत्न विषयक यह देशना सुनकर किरात राज बहुत संतुष्ट हुआ और हाथ जोड़कर बोला- भगवन् मुझे भावरत्न दीजिए। भगवान् ने उसे दीक्षा देकर भावरत्न ग्रहण कराये। और वह संयम को स्वीकार कर भगवान् के संघ में प्रविष्ट हो गया।

भगवान् ने साकेत से चलकर पांचाल की ओर विहार किया। मार्ग में कुछ समय काम्पिल्य में ठहरे। वहां धर्म देशना देकर विहार किया और सूरसेन देश पधारे। वहां से मथुरा, सौरीपुर, नन्दीपुर आदि नगरों में धर्म देशना करते हुए और अनेक भव्यों को संयम अंगीकार कराते हुए वापिस विदेह लौट आये। और मिथला में वर्षाकाल व्यतीत किया।

केवलिकाल का पच्चीसवां वर्ष

वर्षाकाल समाप्त होने पर भगवान् ने मगध की ओर विहार किया और गांव-गांव में उपदेश देते हुए राजगृह पधारे। जब देशना के पश्चात् स्थविर अपने स्थान पर बैठे थे तब अन्य अनेक तीर्थीकों ने आकर स्थवरों से कहा- आर्यो तुम लोग त्रिविध-त्रिविध असंयत हो, अविरत हो और बाल हो। उनका आक्षेप सुनकर साधुओं ने कहा- हम किस कारण असंत, अविरत और बाल हैं? हम किसी प्रकार भी अदत वस्तु नहीं लेते किन्तु दत्त ही लेते और

खाते हैं। किसी भी प्रकार का आरम्भ नहीं करते, हिंसादि सर्व पापों के यावज्जीवन त्यागी हैं। इत्यादि प्रकार से उन्होंने तीर्थिकों के आक्षेप का सयुक्तिक उत्तर देकर उन्हें निरुत्तर कर दिया।

इसी समय कालोदायी ने भी भगवान् से अनेक प्रश्न पूछे और उनका समाधान पाकर वह बहुत सन्तुष्ट हुआ और अनेक प्रकार के तपश्चरण करता हुआ विचरने लगा। इन्हीं दिनों प्रभास गणधर ने एक मास का अनशन कर निर्वाण प्राप्त किया। भगवान् ने यह वर्षाकाल राजगृह में ही बिताया।

केवलिकाल का छब्बीसवां वर्ष

वर्षाकाल के पश्चात् अनेक स्थानों पर विहार करते हुए भगवान् ने धर्म-देशना की। वर्षाकाल समीप आने पर वे पुनः राजगृह पधारे उस समय अन्य तीर्थिक अनेक प्रकार की शंकाओं में उलझ रहे थे। उनका कहना था कि एक जीव एक समय में ईर्यापथिकी और शान्तरायि की इन दो क्रियाओं को करता है। अर्थात् जिस समय वह ईर्यापथिकी क्रिया करता है उसी समय शान्तरायि की क्रिया भी करता है और जिस समय साम्परायि की क्रिया करता है उसी समय वह ईर्यापथिकी भी करता है। जब यह प्रश्न भगवान् से पूछा गया कि क्या उनका यह कहना सत्य है? तब भगवान् ने कहा- उनका यह कथन सत्य नहीं है। जीव एक समय में एक ही क्रिया करता है। हां, देखना, बोलना जैसी दो क्रियाएं एक साथ हो सकती हैं पर एक समय में दो उपयोग छद्मस्थ के सम्भव नहीं हैं। इस प्रकार भगवान् ने अन्य तीर्थिकों के अनेक प्रश्नों का समाधान किया। जिससे अनेक निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर श्रद्धा करने लगे।

इसी वर्ष अचलभ्राता और मेलार्य गणधर ने भी निर्वाण प्राप्त किया। भगवान् ने इस वर्ष का वर्षाकाल नालन्दा में ही बिताया।

केवलिकाल का सत्ताईसवां वर्ष

वर्षाकाल के पश्चात् नालन्दा से विहार कर भगवान् विदेह देश की ओर पधारे। मार्ग में अनेक स्थानों पर देशना करते हुए मिथिला आये। यहां पर राजा जितशत्रु ने बड़े समारोह के साथ अगवानी की। यहां पर भगवान् से सूर्यमण्डल के परिभ्रमण, पौरुषी छाया, प्रकाश क्षेत्र, चन्द्र की वृद्धि-हानि और गृहों के उपराग आदि के विषय में अनेक प्रश्न भगवान् से पूछे गये और भगवान् से उनका विस्तृत और यथार्थ समाधान पाकर लोगों का तद्विषयक अज्ञान दूर हुआ। भगवान् ने इस वर्ष का वर्षाकाल मिथिला में ही बिताया।

केवलिकाल का अट्ठाईसवां वर्ष

वर्षाकाल के पश्चात् भगवान् विदेह देश में ही विहार करते रहे। उनकी देशना से अनेक श्रद्धालुओं ने निर्ग्रन्थ दीक्षा ली और अनेक गृहस्थों ने श्रावक के व्रत अंगीकार किये। वर्षाकाल समीप आने पर आप पुनः मिथिला पधारे और वहीं पर वर्षाकाल व्यतीत किया।

इसी समय चम्पा नगरी में रहने वाले सुदर्शन सेठ के साथ एक घटना घटी। वे स्वदार-सन्तोष व्रत के धारक सच्चे श्रावक थे। उनकी एक कपिल ब्राह्मण के साथ मित्रता थी। वे दोनों प्रायः एक दूसरे के घर आया-जाया करते और तत्व चर्चा किया करते थे। कपिल की स्त्री सुदर्शन के अतीव सुन्दर शरीर को देखकर उन पर मोहित हो गई। उसने षड्यन्त्र रचकर अपने पति की अनुपस्थिति में उनकी बीमारी का सन्देश भेजकर सुदर्शन को अपने घर बुलवा लिया। जब सुदर्शन उसके घर पहुंचे तो उसने बताया कि तुम्हारे मित्र ऊपर सो रहे हैं। जैसे ही सुदर्शन ऊपर गये वैसे ही वह घर का द्वार बन्द कर ऊपर जा पहुंची और उसने अपना मनोभाव प्रकट किया। सुदर्शन ने कहा- देवी मैं तो पुरुषत्वहीन हूं। इस प्रकार कहकर वे वहां से निकल आये।

किसी समय एक महोत्सव में सम्मिलित होने के लिए अपनी मनोरमा स्त्री के साथ रथ में बैठे उद्यान जा रहे थे। उस समय नगर की रानी अभया ने अपनी धाय और कपिल पुरोहित की स्त्री के साथ रथ में बैठी जा रही थी। गोद में सुन्दर बालक को बैठाये हुए मनोरमा को देखकर पुरोहितानी ने महारानी से पूछा यह किस की स्त्री है? रानी ने कहा- नगर सेठ सुदर्शन की पत्नी मनोरमा है। पुरोहितानी तिरस्कार के साथ बोली- कहीं नपुंसक के भी पुत्र होते हैं? रानी ने पूछा तुम कैसे जानती हो कि सुदर्शन नपुंसक है? पुरोहितानी ने सारी आप-बीती कहानी रानी को सुना दी। सुनकर हंसते हुए रानी ने कहा अरी कपिले, सेठ ने तुझे ठग लिया है। तुझसे अपना पिण्ड छुड़ाने के लिए उसने अपने को नपुंसक बता दिया सो तू सच समझ गई? तब कपिला अपनी झेंप मिटाती हुई बोली- यदि ऐसी बात है तो आप ही सेठ को वश में करके अपनी चतुराई का परिचय दें। कपिला की बातों का रंग चढ़ गया और वह मन ही मन सुदर्शन को अपने जाल में फंसाने की सोचने लगी। उद्यान से वापिस आकर रानी ने अपना अभिप्राय धाय से कहा। उसने रानी को बहुत समझाया पर वह न मानी। निदान धाय ने कुम्भकार से मिट्टी के सात पुतले बनवाये जो कि आकार प्रकार में ठीक सुदर्शन के समान थे। रात में एक पुतले को वस्त्र से ढक कर जब वह राज-भवन में घुसने लगी तो द्वारपाल ने उसे नहीं जाने दिया। उसने प्रवेश का जब हठात उपक्रम किया

तो द्वारपाल ने ज्यों ही उसे धक्का दिया तो वह पुतले को भूमि पर पटक कर रौने धौने लगी और बोली- हाय अब महारानी जी बिना पुतले के दर्शन किये पारणा कैसे करेंगी? उसकी यह बात सुनकर द्वारपाल डर गया और बोला- आज तू मुझे क्षमा कर, मुझसे भूल हो गई है आगे से ऐसी भूल नहीं करूंगा। इस प्रकार वह धाय प्रतिदिन एक-एक पुतला बिना रोक टोक के राज-भवन में लाती रही। आठवें दिन अष्टमी का दिन प्रौषाधोपवास ग्रहण कर सुदर्शन सेठ सदा की भांति शमसान में प्रतिमा-योग से अवस्थित थे तब वह धाय आधी रात में वहां गई और उन्हें अपनी पीठ पर लादकर और ऊपर से वस्त्र ढककर ले आई और रानी के महल में पहुंचा दिया रात भर रानी ने सुदर्शन को डिगाने के अनेक प्रयत्न किये। यहां तक कि उनको नंगा कर गुप्तांग का अपने हाथ से संचालन भी किया पर सुदर्शन पाषाण-मूर्ति के समान सर्वथा अचल रहे। इतने में प्रभात काल हो गया। भेद प्रकट होने के भय से रानी ने माया जाल फैलाया और चिल्लाकर कहा अरे इस दुराचारी को पकड़ो। रानी के वचन सुनकर राज सैनिकों ने सुदर्शन को पकड़ लिया और उन्हें राजा के सामने उपस्थित किया। राजा ने उन्हें प्राण-दण्ड की आज्ञा देकर चाण्डाल को सौंप दिया। शमसान ले जाते समय सुदर्शन ने यह अभिग्रह किया कि यदि किसी प्रकार मैं इस संकट से बच गया तो मुनि व्रत धारण कर लूंगा। शमसान ले जाकर चाण्डाल ने ज्यों की शूली पर चढ़ाया त्यों ही शूली पर सिंहासन बन गया और उस पर बैठे सुदर्शन को देखा। देवताओं ने आकाश से सुदर्शन के शीलव्रत की प्रशंसा करते हुए पुष्प वर्षा की।

जब राजा को यह सब ज्ञात हुआ तो वह सुदर्शन के पास आकर अपनी भूल के लिये क्षमायाचना करने लगा। सुदर्शन ने कहा- महाराज, इसमें आपका कोई दोष नहीं, दोष तो मेरे पूर्व कृत कर्म का है। तत्पश्चात् सुदर्शन ने घर आकर अपना अभिप्राय मनोरमा से कहा। उसने कहा- जो तुम्हारी गति सो मेरी गति। यह कह कर वह भी साध्वी बनने के लिए उद्यत हो गई। दोनों भगवान् के समोसरण में पहुंचे और दोनों ने संयम को धारण कर लिया। सुदर्शन उग्र तपश्चरण कर मोक्ष पधारे और मनोरमा स्वर्ग को गई।

केवलिकाल का उन्तीसवां वर्ष

वर्षाकाल के समाप्त होने पर भगवान् ने मगध की ओर विहार किया। और ग्रामानुग्राम धर्मोपदेश देते हुए राजगृह पधारे। इस समय हेमांगद देश के महाराज जीवंधर ने अपनी आठों स्त्रियों के साथ आकर भगवान् के पास संयम अंगीकर किया और उग्र तपश्चरण

कर यथा समय मोक्ष पधारे। उनकी स्त्रियां भी आर्या बनकर तपस्या करती रहीं और मरकर देवलोक गईं।

इसी वर्षाकाल में भगवान् के गणधर अग्निभूति और वायुभूति ने भी अनशन कर वैभारगिरि से निर्वाण प्राप्त किया। भगवान् ने यह वर्षाकाल भी राजगृह में ही बिताया।

केवलिकाल का तीसवां वर्ष

वर्षाकाल की समाप्ति के पश्चात् भी भगवान् कुछ समय तक राजगृह में रहे। इसी समय उनके गणधर अव्यक्त, मण्डित और अकम्पित भी एक-एक मास का अनशन पूर्ण कर निर्वाण पधारे।

राजगृह से विहार कर भगवान् ग्रामानुग्राम विचरते और धर्मोपदेश देते हुए वर्षाकाल के समीप आने पर पावा में पधारे। और अन्तिम वर्षाकाल आपने यहीं पर बिताया। कार्तिक मास के कृष्णपक्ष में वहां के राजा पुण्यपाल ने आठ अशुभ स्वप्न देखे। दूसरे दिन उन्होंने भगवान् के पास जाकर और अपने स्वप्न कहकर उनका फल पूछा।

भगवान् ने स्वप्नों का फल सुनाते हुए कहा- राजन् प्रथम स्वप्न में जो तुमने हाथी देखा है वह इस बात का सूचक है कि भविष्य में विवेकी श्रावक भी घर हाथी के समान मदोन्मत होकर रहेंगे। और संयम ग्रहण करने का विचार भी मन में नहीं लाएंगे। जो घर त्याग कर संयम ग्रहण करेंगे उनमें से अनेक संयम का परित्याग कर देंगे। विरले ही संयम को पालेंगे।

दूसरे स्वप्न में तुमने जो बन्दर को देखा है वह यह सूचना देता है कि भविष्य में बड़े-बड़े संघपति आचार्य भी बन्दर के समान चंचल प्रकृति के होंगे और व्रताचरण में प्रमाद करेंगे। जो थोड़े से संयम का पालन भी करेंगे तो असंयमी लोग उनकी अवज्ञा करेंगे।

तीसरे स्वप्न में तुमने जो क्षीरतरु (अश्वत्थ) देखा है वह सूचित करता है कि आगे क्षुद्र भाव से दान देने वाले श्रावकों को साधु नामधारी पाखण्डी लोग घेरे रहेंगे और पाखण्डियों का यहां पर बाहुल्य होगा।

चौथे स्वप्न में तुमने काक को देखा है वह सूचित करता है कि भविष्य में अधिकांश साधु अनुशासन का उल्लंघन कर और साधु-मर्यादाओं का परित्याग कर परस्पर वितण्डावाद करते हुए एक दूसरे का खण्डन करने में ही सदा तत्पर रहेंगे।

पांचवें स्वप्न में तुमने जो सिंह को विपन्नावस्था में देखा है वह यह सूचित करता है कि भविष्य में सिंह के समान तेजस्वी वीतराग जैन धर्म निर्बल होगा और धर्म की प्रतिष्ठा से विमुख हो लोग पशुओं के समान मिथ्या-मतावलम्बी साधु वेशधारियों की प्रतिष्ठा करेंगे और यहां पर अनेक मिथ्याधर्मों का प्रसार होगा।

छठे स्वप्न में मुकुलित कमल देखने का फल यह है कि आगामी काल में कुलीन व्यक्ति भी कुसंगति में पड़कर और धर्म मार्ग से विमुख होकर पापाचार में प्रवृत्त होंगे।

सातवें स्वप्न में तुमने जो उत्तम बीज को अयोग्य भूमि में गिरा हुआ देखा वह सूचित करता है कि जिस प्रकार विवेकी किसान अच्छे बीज को ऊसर भूमि में और भुने हुए बीज को उपजाऊ भूमि में बो देता है उसी प्रकार आगामी काल में श्रमणोपासक गृहस्थ भी सुपात्र को छोड़कर कुपात्र को दान करेंगे।

आठवें स्वप्न में तुमने जो रिक्त कुम्भ देखा है वह यह सूचित करता है कि भविष्य में उच्च-नामधारी साधु भी संयम से ही न होंगे और शिथिलाचारी साधुओं का बाहुल्य होगा।

भगवान् के मुखारविन्द से अपने स्वप्नों का फल सुनकर और भावी विषम स्थिति को जानकर पुण्यपाल संसार से विरक्त हो गया। उसने तत्काल राज्य वैभव को छोड़कर भगवान् की चरण-शरण में श्रमण धर्म स्वीकार कर लिया। और संयम की आराधना करता हुआ कालान्तर में कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार भगवान् साढ़े तीन मास तक पावा में उपदेश देकर भव्य-जीवों का कल्याण करते रहे।

भगवान् का निर्वाण कल्याणक

भगवान् महावीर ने जब अपना अन्तिम समय निकट देखा तब दो दिन पूर्व से देशना बन्द कर दी और प्रतिमायोग धारण कर लिया। कार्तिक कृष्णा अमावस्या के प्रातःकाल तीसरे शुक्लध्यान का आलम्बन कर योग-निरोध प्रारम्भ किया और चौदहवें गुणस्थान में पहुँचकर चौथे शुक्लध्यान के द्वारा अ, इ, उ, ऋ लृ इन पंच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण काल जितने समय तक प्रति समय असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा करते हुए उपान्त्य समय में बहत्तर (72) और अन्तिम समय में तेरह (13) अघाति कर्मों की प्रकृतियों का नाश कर कर्मलेप से विमुक्त होते हुए सिद्ध लोक में जा विराजे।

श्वेताम्बर मान्यता है कि भगवान् अन्तिम दो दिनों में भी निर्वाण होने के समय तक उपदेश देते रहे। उस समय वहाँ अनेक गणमान्य व्यक्ति उपस्थित थे। जिनमें काशी-कौशल के नौ लिच्छवी और नौ मल्ल इस प्रकार 18 गणराज्य विशेष उल्लेखनीय हैं।

श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार भ० महावीर का निर्वाण कार्तिक कृष्णा अमावस्या के प्रभातकाल में हुआ। किन्तु दिगम्बर परम्परा के अनुसार उनका निर्वाण कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी के अन्तिम प्रहर में उषाकाल के समय हुआ है।

उस समय चतुर्थ काल के 3 वर्ष साढ़े आठ मास शेष थे।

भगवान् के निर्वाण काल में चन्द्र नाम का पक्ष संवत्सर, प्रीतिवर्द्धन नाम का मास नन्दीवर्द्धन नाम का पक्ष, और उपशम नाम का दिन था। नामकरण और सर्वार्थसिद्ध मुहुर्त में श्वाति नक्षत्र के योग में भगवान् ने पदमासन से मोक्ष प्राप्त किया।

आसनादि के कम्पन से जैसे ही इन्द्रादिक देवों को भगवान् के निर्वाण-गमन का पता चला वैसे ही वे सब भगवान् का अन्तिम कल्याणक मनाने के लिए पावा में आये। यतः उस समय यहाँ पर अंधकार था (सूर्योदय के होने में विलम्ब था) अतः उन्होंने रत्न दीपकों से सर्वत्र उद्योत किया और यथानियोग भगवान् के शरीर का अन्तिम संस्कार किया।

निर्वाण काल में उपस्थित 18 गणराजाओं ने अमावस्या के दिन उपवास किया और भगवान् के निर्वाण-गमन से भाव-उद्योत के उठ जाने के प्रतीक रूप उनके संस्मरणार्थ द्रव्य-दीपकों को जलाकर अमावस्या की अन्धकारमयी रात्रि को प्रकाशमय किया। तभी से दीपावली पर्व का प्रारम्भ हुआ।(1)-----

(1)- अह सा जिणस्स निव्वाण-जामिणी सुरतनू कउज्जोया ।

दीवूसवो ति अज्जवि पहवरिर्स कीरइ जणेण ॥ (महावीर चरिउ प्र0 8, 36)

ज्वलत्प्रदीपालिक्या प्रवृद्धया सुरासुरैः दीपितया प्रदीप्तया ।

तदात्म पावानगरी सन्ततः प्रदीपिताकालतला प्रकाशो ॥

ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात्प्रसिद्धदीपालिकयात्र भारते ।

समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरं जिनेन्द्रनिर्वाणविभूतिभक्तिभाक् ॥(हरवंश066,19,21)

भ० महावीर और महात्मा बुद्ध

भ० महावीर के समकालीन प्रसिद्ध पुरुषों में शाक्य श्रमण गौतम बुद्ध का नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध एवं उल्लेखनीय है। आज संसार में बौद्ध धर्मावलम्बियों की संख्या अत्यधिक होने से महात्मा बुद्ध का नाम विश्व-विख्यात है। चीन, जापान, श्री लंका आदि अनेक देश आज उनके भक्त हैं। किन्तु एक समय था जब भ० महावीर का भक्त भी अगणित जन-समुदाय था। आज चीनी और जापानी बौद्ध होते हुए भी आमिष-(मांस) भोजी हैं। बौद्ध धर्म की स्थापना तो शाक्य पुत्र गौतम बुद्ध ने की, परन्तु जैन धर्म तो युग के आदि काल से ही चला आ रहा है।

दि० शास्त्रों के उल्लेखों के अनुसार बुद्ध का जन्म महावीर से कुछ पहिले कपिल-वस्तु के महाराज शुद्धोदन के यहां हुआ था। जब उनका जन्म हुआ, उस समय भारत में सर्वत्र ब्राह्मणों का बोलवाला था और वे सर्वोपरि माने जा रहे थे, तथा वे ही सर्व परिस्थितियां थीं, जिनका कि पहले उल्लेख किया जा चुका है। बुद्ध का हृदय उन्हें देखकर द्रवित हो उठा और एक वृद्ध पुरुष की जरा-जर्जरित दशा को देखकर वे संसार से विरक्त हो गये। उस समय भ० पार्श्वनाथ का तीर्थ चल रहा था, अतः पिहितास्त्रव नामक गुरु के पास पलास नगर में सरयु नदी के तीर पर जाकर उन्होंने दिगम्बरी दीक्षा ले ली + (1) और बहुत दिनों तक उन्होंने जैन साधुओं के कठिन आचार का पालन किया। उन्होंने एक स्थल पर स्वयं ही कहा है-

“मैं वस्त्र-रहित होकर नग्न रहा, मैंने अपने हाथों में भोजन किया, मैं अपने लिए बना हुआ उद्दिष्ट भोजन नहीं करता था, निमन्त्रण पर नहीं जाता था। मैं सिर और दाढ़ी के बालों का लोंच करता था। मैं आगे भी केशलुंच करता रहा। मैं एक जल के बिन्दु पर भी दया करता था। मैं सावधान रहता था कि सूक्ष्म जीवों का भी घात न होने पावे। “(2)

“इस प्रकार मैं भयानक वन में अकेला गर्मी और सर्दी में भी नंगा रहता था। आग से नहीं तापता था + और मुनि-चर्या में लीन रहता था। (3)”

(1)- सिरिपासणाह-तित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थो ।

पिहियासवस्स सिस्सो महासुदो बुद्धकित्तिमुणी ॥६॥ (दर्शनसार)

(2)- अचेलको होमि.....हत्थायलेखनो होमि....नाभिहितं न उद्दिस्सकतं न।

निमित्तं सादि यामि, केस- मस्सुलोचकोवि होमि, केसमस्सुलोचनानुयोगं अनुयुक्ते।
यात उद-बिन्दुम्मि पिये दया पच्च पट्टिता होमि, याहं खुद्दके पाणे विसमगते संघात
आयविस्संति ।

(3)- सो ततो सो सो ना एको तिसतके बने ।

नग्नो न च अग्नि असीनो एसना पसुतो मुनीति ॥ (महासीहनादसुत)

लगभग छह वर्ष तक घोर तपश्चरण करने और परीषह-उपसर्गों को सहने पर भी जब उन्हें न कैवल्य की प्राप्ति हुई और न कोई ऋद्धि-सिद्धि ही हुई, तब वे उग्र तपश्चरण छोड़कर और रक्ताम्बर धारण करके मध्यम मार्ग का उपदेश देने लगे। यद्यपि वे जीव घात को पाप कहते थे और उसके त्याग का उपदेश देते थे। तथापि स्वयं मरे हुए प्राणी का मांस खाने को बुरा नहीं समझते थे। मांस को वे दूध-दही की श्रेणी में और मद्यादि को जल की श्रेणी में मानने लगे और उनका उपयोग स्वयं भी करने लगे।(1) फल यह हुआ कि उनके धर्म का अनुयायी-वर्ग भी धीरे-धीरे मद्य-पायी और मांस-भोजी हो गया।

खान-पान की शिथिलता रखने पर भी उन्होंने लोगों में मिती (मैत्री) मुदिता (प्रमोद) करुणा और मध्यस्थता रूप चार प्रकार की भावनाएं रखने का उपदेश दिया। उस समय जो ब्राह्मणों का प्राबल्य था और जिसके कारण वे स्वयं हीनाचारी पापी जीवन बिताते हुए अपने को सर्वोच्च मानते थे, उसके विरुद्ध बड़े जोर-शोर के साथ अपनी आवाज बुलन्द की। उनके इन धार्मिक प्रवचनों का संग्रह 'धम्मपद' (धर्मपद) के नाम से प्रसिद्ध है और जिसे आज बुद्ध-गीता भी कहा जाता है। यह धम्मपद बुद्ध की वाणी के रूप में प्रख्यात है। उसमें के ब्राह्मण-वर्ग का यहां उद्धरण दिया जाता है। ब्राह्मण को लक्ष्य करके बुद्ध कहते हैं-

(2)- हे ब्राह्मण, विषय-विकार के प्रवाह को वीरता से रोक और कामनाओं को दूर भगा। जब तुम्हें उत्पन्न हुई नाम रूप वाली वस्तुओं के नाश का कारण समझ में आ जायेगा, तब तुम अनुत्पन्न वस्तु को जान लगे ॥1॥

जिस समय ब्राह्मण ध्यान और संयम इन दो मार्गों में व्युत्पन्न हो जाता है, उस समय उस ज्ञान-सम्पन्न पुरुष के सब बन्धन कट जाते हैं ॥2॥-----

(1)- तिमिपूरणासणेहिं अहिगय-पवज्जाओ परिव्भट्टो ।

रत्तं बरं धरित्ता पवट्टियं तेण एयंतं ॥7॥

मंसस्स णत्थि जीवो जहा फले दहिय-दुद्ध-सक्करए ।

तम्हा तं वंछित्ता तं भक्खंतो ण पाविट्ठो ॥८॥

मज्जं ण वज्जणिज्जं दवदव्वं जह तहा एदं ।

हदि लोए घोसितं पवट्ठियं सव्व सावज्जं ॥९॥ (दर्शनसार)

(2)- छिन्द सोतं परक्कम्म काये पनुद ब्राह्मण ।

संखारानं खयं जत्वा अकतंजूसि ब्राह्मण ॥१॥

यदा द्वयेसु धम्मेसु पाग्गू होति ब्राह्मणो ।

अथस्स सव्वे संयोगा अत्थं गच्छंति जानतो ॥२॥

जिसने सर्व प्रकार के बन्धन काट दिये हैं, जो निर्भय हैं, जो स्वाधीन हैं और बन्धन रहित हैं मैं उसी को ब्राह्मण कहता हूं ॥११॥

जिसने द्वेषरूपी, रागरूपी डोरी, अश्रद्धा रूपी जंजीर, और उसके साथ संबंध रखने वाली अन्य वस्तुओं को एवं अज्ञानरूप अर्थला(सांकल) को तोड़ डाला है, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूं ॥१२॥

जो आक्रोश (गाली-गलौज) वध और बन्धन को द्वेष किये बिना मैत्री भाव से सहन करता है, क्षमा के बल-वाली ही जिसकी सेना है, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूं॥१३॥

जो क्रोध-रहित है, व्रतवान है, शीलवान है, तृष्णा-रहित है, संयमी है और जो अन्तिम-शरीर-धारी है, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूं ॥१४॥

जैसे कमल-पत्र पर जल-बिन्दु नहीं ठहरता और सुई की नोंक पर सरसों का दाना नहीं टिकता, उसी प्रकार जो काम-भोगों में लिप्त नहीं होता है, मैं उसे ही ब्राह्मण कहता हूं ॥१५॥

जो यहां पर ही अपने दुःख का अन्त जानता है, उसे भार-विमुक्त और विरक्त पुरुष को मैं ब्राह्मण कहता हूं ॥१६॥----

न चाहं ब्राह्मणं भूमि योनिजं मत्तिसंभवं ।

भोवादी नाम सो होति स चे होति सकिंचनो ।

अकिंचनं अनादानं तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥10॥

सर्वसंयोजनं छेत्वा यो वे न परितस्सति ।

संगातिगं विसंयुतं तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥11॥

छेत्वा नन्धि वरतं च सन्दानं सहनुक्कमं ।

उक्खित्तपलिघ बुद्धं तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥12॥

अक्कोसं बध बंधं च अदुट्ठो यो तित्तिक्खति ।

खंतीबलं बलानीकं तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥13॥

अक्कोधनं वतवंतं सीलवंतं अनुस्सदं ।

दंतं अंतिम सारीरं तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥14॥

वारि पोक्खर-पत्तेव आरग्गेरिव सासपो ।

यो न लिंपति कामेसु तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥15॥

यो दुक्खस्स पजानाति इथेव खयमत्तनो ।

पन्नाभारं विसंयुतं तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥16॥

जिसका ज्ञान गम्भीर है, जो मेधावी है, सुमार्ग और कुमार्ग को जानता है और जिसने उत्तमार्थ को प्राप्त कर लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥17॥

जो गृहस्थ और अनगार भिक्षुओं से अलग रहता है, जो घर-घर भीख नहीं मांगता अल्प इच्छा वाला है, उसी को मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥18॥

जो विरोधियों पर भी अविरोध-भाव रखता है, जो दण्ड-धारियों में भी दण्ड-रहित है और जो ग्रहण करने वालों में भी आदान-रहित है मैं उसी को ब्राह्मण कहता हूँ ॥19॥

जो त्रस और स्थावर प्राणियों पर डंडे से प्रहार नहीं करता, न स्वयं मारता है और न दूसरों से घात कराता है, उसी को मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥20॥

जिसके राग, द्वेष, मान और मत्सर भाव इस प्रकार से नष्ट हो गये हैं जिस प्रकार से कि सुई की नौक से सरसों का दाना सर्वथा दूर हो जाता है, मैं उसी को ब्राह्मण कहता हूँ ॥21॥

जो कठोरता-रहित सत्य एवं हितकारी मधुर वचन बोलता है और किसी का अपने कटु सत्य से जी भी नहीं दुखाता है, उसी को मैं ब्राह्मण कहा हूँ ॥22॥

जो इस संसार में बड़ी या छोटी, सूक्ष्म या स्थूल, और शुभ या अशुभ किसी भी प्रकार की पर वस्तु को बिना दिये नहीं लेता है, मैं उसी को ब्राह्मण कहता हूँ ॥23॥

गंभीरपंजं मेधावी मग्गामग्गस्स कोविदं ।

उत्तमत्थं अनुप्पत्तं तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥17॥

असंसट्ठं गहट्ठेहि अनागारेहि चूमयं ।

अनोकसारि अप्पिच्छं तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥18॥

अविरुद्धं विरुद्धेसु अत्तदंडेसु निव्वुत्तं ।

सादानेसु अनादानं तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥19॥

निधाय दंडं भूतेसु तसेसु थावरेसु च ।

यो न हंति न घातेति तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥20॥

अस्स रागो च दोसो च मानो मक्खो च पातितो ।

सासपोरिव आरग्गा तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥21॥

अक्कसं विंजापनिं गिरं सच्चं उदीरये ।

याय नाभिसजे किंचि तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥22॥

योध दीधं रहस्सं वा अणुं थूलं सुभासुमं ।

लोके अदिन्नं नादियति तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥23॥

जिसे इस लोक या परलोक-संबंधी किसी भी प्रकार की लालसा नहीं रही है, ऐसे वासना-रहित विरक्त पुरुष को ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥24॥

जिसके पास रहने को घर-मकान आदि किसी भी प्रकार का आलय नहीं है, जो स्त्रियों की कथा भी नहीं कहता है, जिसे सन्तोष रूप अमृत प्राप्त है और जिसे किसी भी प्रकार की इच्छा तृष्णा उत्पन्न नहीं होती है, मैं उसी को ब्राह्मण कहता हूँ ॥25॥

जो पुण्य और पाप इन दोनों के संग से रहित है, शोक-रहित, कर्म-रज से रहित और शुद्ध है, मैं ऐसे ही पुरुष को ब्राह्मण कहता हूँ ॥26॥

जो चन्द्रमा के समान विमल है, शुद्ध है, सुप्रसन्न है और कलंक रहित है, जिसकी सांसारिक तृष्णाएं बिल्कुल नष्ट हो गई हैं, मैं ऐसे ही पुरुष को ब्राह्मण कहता हूँ ॥27॥

मोह से रहित होकर जिसने तृष्णा-रूपी कीचड़ से लथपथ, दुर्गम संसार समुद्र को तिर कर पार कर लिया है, जो आत्म-ध्यानी है, पाप-रहित है, कृत-कृत्य है, जो कर्मों के उपादान (ग्रहण) से रहित होकर निवृत्त (मुक्त) हो चुका है, मैं ऐसे ही मनुष्य को ब्राह्मण कहता हूँ ॥28॥

जो काम-भोगों को परित्याग करके अनगार बनकर परिव्रजित हो गया है, ऐसे काम-विजयी मनुष्य को ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥29॥

जो तृष्णा का परिहार करके गृह-रहित होकर परिव्राजक बन गया है, ऐसे तृष्णा-विजयी पुरुष को ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥30॥

आसा यस्स न विज्जंति अस्मिं लोके परमिह च ।

निरासयं विसंयुतं तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥24॥

यस्सालया न विज्जंति अंजाय अकथंकथी ।

अमतोगदं अनुप्पतं तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥25॥

योथ पुंज च पापं च संगं च उपच्चगा

अशोकं विरजं सुद्धं तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥26॥

चंदं व विमलं सुद्धं विप्पसन्नमनाविलं ।

नंदी भवपरिक्खीणं तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥27॥

यो पलिपथं दुग्गं संसारं मोहमच्चगा ।

तिण्णो पारगतो ज्ञायी अनेजो अकथंकथी ।

अनुपादाय निव्वुतो तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥28॥

योध कामे पहत्त्वानं अनगरो परिव्वजे ।

काम-भवपरिक्खीणं तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥29॥

योध तण्हं पहत्त्वानं अनगरो परिव्वजे ।

तण्हाभवपरिक्खीणं तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥30॥

जो मानवीय बन्धनों का त्याग कर और दिव्य (देव-संबंधी) भोगों के संयोग को भी त्याग कर सर्व प्रकार के सभी सांसारिक बन्धनों से विमुक्त हो गया है, मैं उसी पुरुष को ब्राह्मण कहता हूँ ॥31॥

जो रति (राग) और अरति (देव) भाव को त्याग कर परम शान्त दशा को प्राप्त हो गया है, सर्व प्रकार की उपाधियों से रहित है, ऐसे सर्व लोक-विजयी वीर पुरुष को मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥32॥

जो सर्व सत्त्वों (प्राणियों) के च्युति (मरण) और उत्पत्ति को जानता है, जो सर्व पदार्थों की आसक्ति से रहित है, ऐसे सुगति और बोधि को प्राप्त सुगत बुद्ध पुरुष को ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥33॥

जिसकी गति (ज्ञानरूप दशा) को देव, गन्धर्व और मनुष्य नहीं जान सकते, ऐसे क्षीण-आस्रव वाले अरहन्त को ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥34॥

जिसके आगे, पीछे या मध्य में (वर्तमान में, सामने) कुछ भी नहीं है, ऐसे अकिंचन और अनादान (आसक्ति-रहित होकर कुछ भी ग्रहण नहीं करने वाले) पुरुष को ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥35॥

जो वृषभ (धर्म का धारक) है, सर्व श्रेष्ठ है, वीर है, महर्षि है, विजेता है, निष्कम्प है, निष्पाप है, स्नातक है, बुद्ध है, ऐसे पुरुष को ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

हित्वा मानुसकं योगं दिव्वं योगं उपच्चगा ।

सव्वयोग-विसंयुतं तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥31॥

हित्वा रतिं च अरतिं च सीतीभूतं निरूपधिं

सव्वलोकाभिमुं वीरं तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥32॥

चुतिं यो वेदि सत्तानं उपपत्तिं च सव्वसो ।

असत्तं सुगतं बुद्धं तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥33॥

यस्स गतिं न जानंति देवा गंधव्व-मानुसा ।

खीणासवं अरहंतं तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥34॥

जस्स पुरे च पच्छा च मज्झे च नत्थि किंचन ।

अकिंचनं अनादानं तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥35॥

उसमं पवरं वीरं महेसिं विजिताविनं ।

अनेजं न्हातकं बुद्धं तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥36॥

जो पूर्व निवास अर्थात् पूर्व-जन्मों को जानता है, जो स्वर्ग और नरक को देखता है, जो जन्म-मरण के चक्र का क्षय कर चुका है, जो पूर्ण ज्ञानवान् है, ध्यानी है, मुनि है, और ध्येय को प्राप्त कर सर्व प्रकार से परिपूर्ण है, ऐसे पुरुष को ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥37॥

श्वेताम्बरी उत्तराध्ययन सूत्र में भी पच्चीसवें 'जन्मिइज्ज' अध्ययन के अन्तर्गत 'ब्राह्मण' के स्वरूप पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला गया है, उससे भी यह सिद्ध होता है कि भ० महावीर के समय में ब्राह्मणों का बहुत प्रभाव था, और वे यथार्थ ब्राह्मणत्व से गिरे हुए थे। श्वे० मान्यता के अनुसार उत्तराध्ययन में भ० महावीर के अन्तिम समय के प्रवचनों का संग्रह है। भ० महावीर ब्राह्मणों को लक्ष्य करके कहते हैं-

जो आने वाले स्नेही जनों में आसक्ति नहीं रखता, प्रब्रजित होता हुआ शोक नहीं करता और आर्य पुरुषों के वचनों में सदा आनन्द पाता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥1॥

जो यथाजात-रूप का धारक है, जो अग्नि में डालकर शुद्ध किये हुए और कसौटी पर कसे हुए सोने के समान निर्मल है, जो राग, द्वेष और भय से रहित है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥2॥

जो तपस्वी है, जो शरीर से कृश(दुबला-पतला) है, जो इन्द्रिय-निग्रही है, उग्र तपः साधनों के कारण जिसका रक्त और मांस भी सूख गया है, जो शुद्ध व्रती है, जिसने आत्म शान्ति रूप निर्वाण पा लिया है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥3॥

पुव्वनिवासं यो वेदि सग्गापायं च पस्सति ।

अथो जातिकखयं पत्तो अभिंचा वोसितो मुनी ।

सव्व-वोसित-वोसानं तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥37॥ (धम्मपद, ब्राह्मण-वर्ग)

जो न सज्जइ आगंतुं पव्वयंतो न सोयई ।

रमइ अज्ज-वधणम्मि तं वयं भूम माहणं ॥1॥

जायरूवं जहामट्ठं निद्धंतमल पावगं ।

राग-दोस-भयाईयं तं वयं भूम माहणं ॥2॥

तवस्सियं किसं दंतं अवचिय-मंस-सोणियं ।

सुव्वयं पत्तनिव्वाणं तं वयं भूम माहणं ॥3॥

जो त्रस और स्थावर सभी प्राणियों को भली भांति जानकर उनकी मन, वचन और काय से कभी हिंसा नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं॥4॥

जो क्रोध से, हास्य से, लोभ से अथवा भय से असत्य नहीं बोल है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥5॥

जो अल्प या बहुत सचित्त वस्तु को मालिक के दिये बिना चोरी से नहीं लेता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥6॥

जो देव, मनुष्य एवं तिर्यच संबंधी सभी प्रकार के मैथुन का मन वचन और काय से कभी सेवन नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥7॥

जैसे कमल जल में उत्पन्न होकर भी जल से लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार जो संसार में रहकर भी काम-भोगों से सर्वथा अलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥8॥

जो अलोलुप है, अनासक्त जीवी है, अनगार (गृह-रहित) है, अकिंचन है और गृहस्थों से अलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥9॥

जो स्त्री-पुत्रादि के स्नेह-वर्धक पूर्व संबंधों को, जाति-बिरादरी के मेल-जोल को तथा बन्धुजनों को त्याग कर देने के बाद फिर उनमें किसी प्रकार की आसक्ति नहीं रखता और पुनः काम-भोगों में नहीं फंसता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥10॥

तस पाणे वियाणिता संगहेण य धावरे ।

जो न हिंसइ तिविहेणं तं वयं बूम माहणं ॥4॥

कोहा वा जइ वा हासा लोहा वा जइ वा भया ।

मुसं न वयई जो उ तं वयं बूम माहणं ॥5॥

चित्तमंतमचित्तं वा अप्पं जा जइ वा बहु ।

न गिण्हइ अदत्तं जे तं वयं बूम माहणं ॥6॥

दिव्य-माणुस-तेरिच्छं जो न सेवइ मेहुणं ।

मण्स् काय-वक्केण तं वयं बूम माहणं ॥7॥

जहा पोम्मं जले जायं नोवलिप्पइ वारिणा ।

एवं अलित्तं कामहिं तं वयं बूम माहणं ॥8॥

अलोलुयं मुहाजीविं अणगारं अकिंचणं ।

असंसत्तं गिहत्थेसु तं वयं बूम माहणं ॥9॥

जहिता पुव्वसंजोगं नाइसंगे य बंधवे ।

जो न सज्जइ भोगेसु तं वयं बूम माहणं ॥10॥

सिर मुंडा लेने मात्र से कोई श्रमण नहीं होता, ओम का जाप कर लेने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता, निर्जन वन में रहने मात्र से कोई मुनि नहीं होता, और न कुशा से बने वस्त्र पहिन लेने मात्र से कोई तपस्वी ही हो सकता है ॥11॥

किन्तु समता को धारण करने से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य को धारण करने से ब्राह्मण होता है, ज्ञान से मुनि होता है और तपश्चरण से तपस्वी बनता है ॥12॥

मनुष्य उत्तम कर्म करने से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय होता है, कर्म से ही वैश्य होता है, और शूद्र भी कर्म से ही होता है। अर्थात् वर्ण भेद जन्म से नहीं होता है, किन्तु जो मनुष्य जैसा अच्छा या बुरा कार्य करता है, वह वैसा ही ऊंच या नीच कहलाता है ॥13॥

इस भांति पवित्र गुणों से युक्त जो द्विजोत्तम (श्रेष्ठ ब्राह्मण) हैं, वास्तव में वे ही अपना तथा दूसरों का उद्धार कर सकने में समर्थ होते हैं ॥14॥

न वि मुंडिण्ण समणो न ओंकारेण वंभणो ।

न मुणी रण्णवासेण कुसचीरेण ण तावसो ॥11॥

समयाए समणो होइ बंभचेरेण बंभणो ।

नाणेन मुणी होइ तवेण होइ तावसो ॥12॥

कम्ममुणा बंभणो होइ कम्ममुणा होइ खत्तिओ ।

वइसो कम्ममुणा होइ सुद्धो हवइ कम्ममुणा ॥13॥

एवं गुण-समाउत्ता जे भवंति दिउत्तमा ।

ते समत्था समुद्धत्तुं परमप्पाणमेव य ॥14॥ (उत्तराध्ययन सूत्र, अ० 15)

1- वाहित-पापो ति ब्राह्मणो समचरिया समणोत्ति बच्चति ।

पव्वाजयमत्तनो मलं तस्मा पव्वजितो ति बुच्चति ॥5॥ (धम्मपद)

समयाए समणो होए बंभचेरेण बंभणो ।

नाणेण मुणी होइ तवेण होइतापसो ॥12॥ (उत्तराध्ययन)

भ० महावीर और महात्मा बुद्ध के द्वारा निरूपित उक्त ब्राह्मण के स्वरूप पर से कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्रकट होते हैं। यथा-

(1)- जैन शास्त्रों की मान्यता है कि पंच याम (महाव्रत) का उपदेश आदि और अन्तिम तीर्थंकरों ने ही दिया है। शेष मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों ने तो चातुर्याम का ही उपदेश दिया है। तदनुसार भ० पार्श्वनाथ ने भी अहिंसा, सत्य अचौर्य और अपरिग्रह इन चर यम धर्मों का उपदेश दिया था। उन्होंने स्त्री को परिग्रह मान कर अपरिग्रह महाव्रत में ही उसका अन्तर्भाव किया है। यतः जैन मान्यता के अनुसार बुद्ध ने पहिले जैन दीक्षा ली थी, (यह पहिले बतला आये हैं।) अतः वे स्वयं भी चतुर्याम के धारक प्रारम्भ में रहे हैं। यह बात उनके द्वारा निरूपित ब्राह्मण वर्ग में भी दृष्टिगोचर होती है। ऊपर जो ब्राह्मण का स्वरूप बतलाया है उनमें से गाथांक 20 में ब्राह्मण के लिए द्रव्य-हिंसा का और गाथा 21 में भाव-हिंसा का त्याग आवश्यक बतलाया है, इस प्रकार दो गाथाओं में अहिंसा महाव्रत का विधान किया गया है। इसके आगे गाथा 22 में सत्य महाव्रत का, गाथा 23 से अचौर्य व्रत का और 24-25 वीं गाथाओं में अपरिग्रह महाव्रत का विधान है। कहने का भाव यह है कि- यहां पर ब्रह्मचर्य महाव्रत का कोई उल्लेख नहीं है।

किन्तु भ० महावीर ने ब्रह्मचर्य को एक स्वतन्त्र यमरूप महाव्रत कहा और पांचवें यमरूप से उसका प्रतिपादन किया। ऊपर उत्तराध्ययन की जो ब्राह्मण-स्वरूप वाली गाथाएं दी हैं उनमें यह स्पष्ट दिखाई देता है। वहां गाथांक 6 में अचौर्य महाव्रत का निर्देश कर गा० 7 में ब्रह्मचर्य नाम के एक यमव्रत या महाव्रत का स्पष्ट विधान किया गया है।

(2)- उक्त निष्कर्ष से बुद्ध का पार्श्वनाथ की परम्परा में दीक्षित होना और चातुर्याम धर्म से प्रभावित रहना भी सिद्ध होता है।

(3)- महावीर की ब्राह्मण-स्वरूप प्रतिपादन करने वाली केवल 15 ही गाथाएं उत्तराध्ययन में मिलती हैं, किन्तु धम्मपद में वैसी गाथाएं 41 हैं। उनमें से केवल 37 ही ऊपर दी गई हैं। गाथाओं की अधिकता दो बातें सिद्ध करती हैं एक- उस समय ब्राह्मणवाद बहुत जोर पर था। दो- ब्राह्मण अपने पवित्र कर्तव्य से गिरकर हीनाचरणी हो गये थे।

(4)- उक्त चातुर्यामवाली गाथाएं दोनों ही ग्रन्थों में प्रायः शब्द और अर्थ की दृष्टि से तो समान हैं ही, किन्तु अन्य गाथाएं भी दोनों की बहुत कुछ शब्द और अर्थ की दृष्टि से समानता रखती हैं। यथा-

(2)- धम्मपद- वारि पोक्खर-पत्ते व आरग्गेरिव सासपो ।

यो न लिंपति कम्मेसु तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥15॥

उत्तराध्ययन- जहा पोम्मं जले जायं नोवलिप्पड़ वारिणा ।

एवं लितं कम्मेहिं तम वयं भूम माहणं ॥8॥

(3)- धम्मपद- छेत्वा नन्धि वरत्तं च सन्दानं सहनुक्कमं ।

उक्तित पलिघं बुद्धं तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥12॥

उत्तराध्ययन- जहिता पुव्वसंजीगं नाइसंगे य बंधवे ।

जो न सज्जइ भोगेसु तं वयं भूम माहणं ॥10॥

(4)- धम्मपद- असंसट्ठं गहट्ठेहि अणागारेहि चूभयं ।

अनोकसारि अप्पिच्छं तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥18॥

उत्तराध्ययन- अलोलुयं मुहाजीविं अणगारं अकिंचणं ।

असंसत्तं गिहत्थेसु तं वयं भूम माहणं ॥9॥

(5)- ब्राह्मणों के हीनाचारी जीवन को देखकर बुद्ध और महावीर ने अपनी युक्त देशनाएं कीं, यह बात दोनों के उक्त प्रवचनों से स्पष्ट ज्ञात होता है। फिर भी बुद्ध के ब्राह्मण-सन्दर्भ में किये गये प्रवचनों से एक बात भली-भांति परिलक्षित होती है कि वे ब्राह्मण को एक ब्रह्म-निष्ठ, शुद्धात्म-स्वरूप को प्राप्त और राग-द्वेष-भयातीत वीतराग, सर्वज्ञ और पुण्य-पाप-दयातीत नीरज, शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध परमात्मा के आदर्श रूप को प्राप्त आत्मा को ही ब्राह्मण कहना चाहते हैं, जैसा कि 'ब्रह्मणि शुद्धात्म-स्वरूपे निरतो ब्राह्मणः' इस निरुक्ति से अर्थ प्रकट होता है।

(देखो ऊपर की गई धम्मपद की 21, 26, 28, 31, 33 आदि नम्बर वाली गाथाएं।)

महावीर ब्राह्मणवाद के विरोध में बुद्ध के साथ रहते हुए भी अहिंसावाद में उनसे अनेक कदम आगे बढ़ जाते हैं। यद्यपि बुद्ध ने त्रस स्थावर के घात का निषेध ब्राह्मण के लिए आवश्यक बताया है, तथापि स्वयं मरे हुए पशु के मांस खाने को अहिंसक बतलाकर

अहिंसा के आदर्श से वे स्वयं गिर गये हैं, और उनकी उस जरा-सी छूट देने का फल यह हुआ कि आज सभी बौद्ध-धर्मानुयायी मांस-भोजी दृष्टि-गोचर हो रहे हैं। किन्तु महावीर की अहिंसा-व्याख्या इतनी विशद और करुणामय थी कि आज एक भी अपने को जैन या महावीर का अनुयायी कहने वाला व्यक्ति प्राणि-घातक और मांस-भोजी नहीं मिलेगा।

महाभारत के शान्ति पर्व में ब्राह्मण का स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है-

जो सदा अपने सर्वव्यापी स्वरूप से स्थित होने के कारण अकेले ही सम्पूर्ण आकाश में परिपूर्ण-सा हो रहा है और जो असंग होने के कारण लोगों से भरे हुए स्थान को भी सूना समझता है, उसे ही देव-गण ब्राह्मण मानते हैं ॥1॥

जो कि किसी भी (वस्त्र-वल्कल) आदि वस्तु से अपना शरीर ढकलेता है, समय पर जो भी रूखात्सूखा मिल जाय, उसी से भूख मिटा लेता है और जहां कहां कहीं भी सो जाता है, उसे ही देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं ॥2॥

येन पूर्ण मिवाकाशं भवत्येकेन सर्वदा ।

शून्यं येन जनाकीणं तं देवा ब्राह्मणं बिदुः ॥1॥

येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः ।

यत्र कूचन शायी च तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥2॥

जो जन-समुदाय को सर्प-सा समझकर उसके निकट आने से डरता है, स्वादिष्ट भोजन-जनित तृप्ति को नरक सा मानकर उनसे दूर रहता है, और स्त्रियों को मुर्दे के समान समझकर उनसे विरक्त रहता है, उसे ही देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं ॥3॥

जो सम्मान प्राप्त होने पर हर्षित नहीं होता, अपमानित होने पर कुपित नहीं होता, और जिसने सर्व प्राणियों को अभयदान दिया है, उसे ही देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं ॥4॥

जो सर्व प्रकार के परिग्रह से विमुक्त मुनि-स्वरूप है, आकाश के समान निर्लेप और स्थिर है, किसी भी वस्तु को अपनी नहीं मानता, एकाकी विचरण करता हुआ शान्त भाव से रहता है, उसे ही देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं ॥5॥

जिसका जीवन धर्म के लिए है और धर्म-सेवन भी भगवद्-भक्ति के लिए है, जिसके दिन और रात धर्म पालन में ही व्यतीत होते हैं, उसे ही देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं ॥6॥

जो कामनाओं से रहित है, सर्व प्रकार के आरम्भ से रहित है, नमस्कार और स्तुति से दूर रहता है, तथा सभी जाति के बन्धनों से निर्मुक्त है, उसे ही देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं ॥७॥

जो पवित्र आचार का पालन करता है, सर्व प्रकर से शुद्ध सात्विक भोजन करता है, गुरुजनों का प्यारा है, नित्य व्रत का पालन करता है और सत्य परायण है, वहीं निश्चय से ब्राह्मण कहलाता है ॥८॥

3. अहेरिवगणाद् भीतः सोहित्यान्नरकादिव ।
कुपणादिव च स्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥३॥
4. न कुध्येन्न प्रहृष्येच्च मानितोऽभातितश्च यः ।
सर्वभूतेश्वभयदस्तं देव ब्राह्मणं विदुः ॥४॥
5. विमुक्तं सर्वसंगेभ्यो मुनिमाकशवत् स्थितम् ।
अस्वमेकचरं शान्तं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥५॥
6. जीवितं यस्य धर्मार्थं धर्मो हर्यर्थमेव च ।
अहोरात्राश्च पुण्यार्थं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥६॥
7. निरामिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम् ।
निर्मुक्तं बन्धनौः सर्वोस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥७॥
(महा० शान्तिपर्व अ० २४५, श्लोक १०, १४, २२, २४)
8. शौचाचारस्थित सभ्यग्विधसाशी गुरु प्रियः ।
नित्यव्रती सत्यपरः स वे ब्राह्मण उच्यते ॥८॥

जिस पुरुष में सत्य निवास करता है, दान देने की प्रवृत्ति है, द्रोह-भाव का अभाव है, क्रूरता नहीं है, तथा लज्जा, दयालुता और तप ये गुण विद्यमान हैं, वही ब्राह्मण माना गया है ॥९॥

हे ब्राह्मण, जिसके सभी कार्य आशाओं के बन्धनों से रहित हैं, जिसने त्याग की आग में अपने सभी बाहरी और भीतरी परिग्रह और विकार होम दिये हैं, वही सच्चा त्यागी और बुद्धिमान् ब्राह्मण है ॥10॥

महाभारत के उपर्युक्त उल्लेख से भी यही सिद्ध होता है कि उक्त गुण-सम्पन्न ब्राह्मण को एक आदर्श पुरुष के रूप में माना जाता था। किन्तु जब उनमें आचरण-हीनता ने प्रवेश कर लिया, तब भ० महावीर और म० बुद्ध को उनके विरुद्ध अपना धार्मिक अभियान प्रारम्भ करना पड़ा ।

सत्यं दानमथाद्रोहः आनृशंस्यं त्राप घृणा ।

तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥9॥

यस्य सर्वे समारम्भा निराशीर्बन्धना द्विज ।

त्यागे यस्य हुतं सर्वं स त्यागी च स बुद्धिमान् ॥10॥

(महाभारत, शान्तिपर्व, अ० 181, श्लोक 3, 4, 11)

महावीर-कालिक मत-मतान्तर

भगवन् महावीर के समय अजितकेश कंबल, प्रकुथ कात्यायन, मंखलि गोशाल, पूरण काश्यप, गौतम बुद्ध और संजय बेलिठ-पुत्त, ये अपने को तीर्थकर कहकर अपने-अपने मतों का प्रचार कर रहे थे।

इनके अतिरिक्त श्वे० औपपातिक सूत्र की टीका में तथा अन्य शास्त्रों में ३० महावीर के समय में निम्न लिखित तापसों का उल्लेख मिलता है:-

- 1- होत्तिय - अग्निहोत्र करने वाले।
- 2- पोत्तिय - वस्त्रधारी तापस।
- 3- कोत्तिय - भूमि पर सोने वाले।
- 4- जण्णई - यज्ञ करने वाले।
- 5- सङ्ढई - श्रद्धा रखने वाले।
- 6- सालई - अपना सामान साथ लेकर घूमने वाले।
- 7- हुंबउट्ठा - कुण्डिक साथ में लेकर भ्रमण करने वाले।
- 8- दंतुक्खलिया - फल खा कर रहने वाले।
- 9- उम्मज्जका - उन्मज्जन मात्र से स्नान करने वाले।
- 10- सम्मज्जका - कई बार गोता लगाकर स्नान करने वाले।
- 11- निम्मज्जका - क्षण मात्र में स्नान कर लेने वाले।
- 12- संपक्खला - मिट्टी घिस कर स्नान करने वाले।
- 13- दक्खिण-कूलगा- गंगा के दक्षिण किनारे पर रहने वाले।
- 14- उत्तर-कूलगा - गंगा के उत्तर किनारे पर रहने वाले।
- 15- संख-धम्मका - शंख बजाकर भोजन करने वाले।
- 16- कूल-धम्मका - तट पर शब्द करके भोजन करने वाले।
- 17- मिगलुद्धका - पशुओं की शिकार करने वाले।
- 18- हत्थितावसा - हाथी मार कर अनेक दिनों तक उसके मांस-भोजी।
- 19- उद्दण्डका - दण्ड ऊपर करके चलने वाले।
- 20- दिसापोकखिणा- चारों दिशाओं में जल छिड़क कर फल-फूल एकत्रित करने वाले।
- 21- वाकवासिया - वल्कलधारी।
- 22- अंबुवासिण - जल में रहने वाले।

- 23- बिलवासिण - बिल-गुफादि में रहने वाले।
- 24- जलवासिण - जल में डूब कर रहने वाले।
- 25- वेलवासिण - समुद्र-तट पर रहने वाले।
- 26- रूक्खमूलिया - वृक्षों के नीचे रहने वाले।
- 27- अंबुभक्खिया - केवल जल पीकर रहने वाले।
- 28- वायुभक्खिण - पवन भक्षण करने वाले।
- 29- सेवालभक्खिण - सेवाल (काई) खाकर रहने वाले।
- 30- मूलाहारा - केवल मूल खाने वाले।
- 31- कंदाहारा - केवल कन्द खाने वाले।
- 32- तयाहारा - केवल वृक्ष की छाल खाने वाले।
- 33- पत्ताहारा - केवल पत्र खाने वाले।
- 34- पुप्फाहारा - केवल पुष्प खाने वाले।
- 35- बीयाहारा - केवल बीज खाने वाले।
- 36- परिसक्खिकंदमूलतयपत्तपुप्फफलाहारा- कंद, मूल, छाल, पत्र, पुष्प, फल-भोजी।
- 37- जलाभिसेयकढिणगायमूया - बिना स्नान के भोजन न करने वाले।
- 38- आयावणाहिं - थोड़ा आताप सहन करने वाले।
- 39- पंचाग्गितावेहिं - पंचाग्नि तपने वाले।
- 40- इंगालसोलिया - अंगार पर सेंक कर खाने वाले।
- 41- कट्ठसोल्लिया - लकड़ी पर पका कर भोजन करने वाले।
- 42- कंडुसोल्लिया - तवे पर सेंक कर खाने वाले।
- 43- अत्तुवकोसिया - आत्मा में ही उत्कर्ष मानने वाले।
- 44- मूहकम्मिया - ज्वर आदि के दूर करने के लिए भूति (राख, भस्म) देने वाले।
- 45- कोउयकारया - कौतुक करने वाले।
- 46- धम्मचिंतका - धर्म-शास्त्र को पढ़ाकर भिक्षा लेने वाले।
- 47- गोव्वइया - गोव्रत-धारक, गाय को पालने वाले।
- 48- गोअमा - छोटे बैलों का चलना सिखाकर भिक्षा मांगने वाले।
- 49- गीतरई - गा-गाकर लोगों को मोहने वाले।
- 50- चंडिदेवगा - चक्र को धारण करने वाले, चंडी देवी के भक्त।
- 51- दगसोयारिय - पानी से भूमि को सींच कर चलने वाले।

- 52- कम्मारभिक्षु - देवताओं की द्रोणी लेकर भिक्षा मांगने वाले।
- 53- कुव्वीए - दाढी रखने वाले।
- 54- पिंडोलवा - भिक्षा-पिण्ड पर जीवन-निर्वाह करने वाले।
- 55- ससरक्खा - शरीर को धूलि लगाने वाले।
- 56- वणीभग - याचक, घर-घर से चुटकी आटा आदि मांगने वाले।
- 57- वारिभद्रक - सदा ही जल से हाथ-पैर आदि के धोने में कल्याण मानने वाले।
- 58- वारीखल - मिट्टी से बार-बार मार्जन कर पात्रादि की शुद्धि करने वाले।

इनके अतिरिक्त बौद्ध-भिक्षु, वैदिक, वेदान्ती, आजीवक, कापालिक, गेरुक, परिव्राजक, पांडुरंग, रक्तपट, वनवासी, भगवी आदि अनेक प्रकार के अन्य भी साधुओं के होने का उल्लेख मिलता है।

दि० और श्वे० दोनों ही परम्पराओं के शास्त्रों में 363 मिथ्यावादियों का भी भेद-प्रभेद सहित वर्णन मिलता है, जो कि इस प्रकार है-

- (1) क्रियावादियों के 180 भेद - जो क्रिया-काण्ड में ही धर्म मानते थे।
- (2) अक्रियावादियों के 84 भेद - जो क्रिया-काण्ड को व्यर्थ मानते थे।
- (3) अज्ञानवादियों के 67 भेद - जो कि अज्ञानी बने रहने में धर्म मानते थे।
- (4) विनयवादियों के 32 भेद-जो कि हर एक देवी-देवता की विनय करने में धर्म मानते थे।

इन सब का विगत-वार वर्णन दोनों परम्पराओं के शास्त्रों में उपलब्ध है।

भ० महावीर के समय में अनेक प्रकार के मिथ्यात्व-वर्धक पाखण्डी पूजा-पाठ भी प्रचलित थे। यहां पर उनमें से कुछ का दिग्दर्शन इस प्रकार है-

- (1) इन्द्रमह - इन्द्र को प्रसन्न करने वाली पूजन।
- (2) रुद्रमह - महादेव को प्रसन्न करने वाली पूजन।
- (3) स्कन्दमह - महादेव के पुत्र गणेश की पूजन।
- (4) मुकुन्दमह या वासुदेवमह - श्रीकृष्ण की पूजन।
- (5) नागमह - सर्पों की पूजन।
- (6) वैश्रमणमह - कुबेर की पूजन।
- (7) यक्षमह - यक्ष देवताओं की पूजन।
- (8) भूतमह - भूत-पिशाचों की पूजन।

भ0 महावीर को इन सैकड़ों प्रकार के पाखण्डों और पाखण्डियों के मतों का सामना करना पड़ा और अपनी देशना के द्वारा उन्होंने इन सब का निरसन करके और शुद्ध धर्म का उपदेश देकर भूले-भटके असंख्य प्राणियों को सन्मार्ग पर लगाया।

विहार-स्थल परिचय

- 1- अस्थिकग्राम- यह विदेह जनपद में था। इस के समीप वेगवती नदी बहती थी।
भगवान् मोराकसन्निदेश से यहां आये थे।
- 2- आलम्भिया- यह काशी देशान्तर्गत एक प्रसिद्ध नगरी थी।
- 3- उज्जयिनी- यह अवन्ति जनपद (मालवदेश) की राजधानी और एक प्राचीन नगरी है।
महावीर के समय यहां पर प्रद्योतवंशी महासेन चण्डप्रद्योत का राज्य था।
- 4- ऋजुपालिका- यह हजारीबाग जिले में गिरिडीह के पास बहने वाली नदी थी। जिसे आज बाराकड नदी कहते हैं।
- 5- अंग- यह मगध के पूर्ववर्ती देश का नाम है। वर्तमान भागलपुर और मुंगेर के समीप का प्रदेश पूर्व काल में अंग जनपद कहलाता था। इसकी राजधानी चम्पा नगरी थी।
- 6- कदली समागम- यह मगध के दक्षिण प्रदेश मलय भूमि में कहीं होगा क्यों कि भगवान् मलय की राजधानी भद्रदिल नगरी से यहां होते हुए वैशाली गये थे।
- 7- कम्पिलपुर- आजकल यह कम्पिला के नाम से प्रसिद्ध है और फरुखाबाद से 25 मील तथा कायमगंज से 6 मील उत्तर पश्चिम की ओर बूढ़ी गंगा के किनारे अवस्थित है।
भगवान् के समय यह पांचाल देश की राजधानी था।
- 8- कयंगला- यह स्थान अंग देश में ही चम्पा के पूर्व रहा है।
- 9- कमरिग्राम- यह क्षत्रिय कुण्ड के निकट वर्ती ग्राम था। जहां पर मजदूरों की वस्ती थी।
- 10- काकन्दी- यह उत्तर भारत की प्राचीन और प्रसिद्ध नगरी थी। महावीर के समय यहां का राजा जितशत्रु था।
- 11- कालायस सन्निवेश- यह चम्पा के समीप वर्ती एक ग्राम था।
- 12- कुमारक सन्निवेश- यह भी अंग देश के पृष्ठ चम्पा के निकट था।
- 13- कुंडाक सन्निवेश- यह काशी देश के पूर्व में आलम्भिया के समीप था।
- 14- कूपिय सन्निवेश- यह वैशाली से पूर्व में एक ग्राम था।
- 15- कोटिवर्ष- यह नगर राठदेश की राजधानी थी। यहां के राजा किरात राज ने साकेत नगर आकर भगवान् महावीर के पास दीक्षा ली थी।
- 16- कोल्लात सन्निवेश- यह वाणिज्य ग्राम के समीप था।
- 17- कौशल- यह उत्तर प्रदेश के वस्ती, गोरखपुर आदि के भूभाग वाला एक जनपद था।
महावीर के समय इसकी राजधानी श्रावस्ती थी।

- 18- कौशम्बी- यह प्रयाग के समीप यमुना नदी के किनारे पर अवस्थित एक समृद्धशाली नगरी थी।
- 19- भोवर ग्राम- यह राजगृह से पृष्ठ चम्पा जाने के मार्ग में अवस्थित था इन्द्रभूति गौतम, अग्निभूति और वायूभूति का यह जन्म स्थान था।
- 20- ग्रामक सन्निवेश- यह वैशाली और शालि शीर्ष नगर के मध्य में अवस्थित एक ग्राम था।
- 21- चम्पा नगरी- यह अंग देश की प्रसिद्ध नगरी है। कुणिक ने इसे अपनी राजधानी बनाई थी। यह भागलपुर से 3 मील पश्चिम में है।
- 22- छम्माणी- यह ग्राम मध्यमा पावा के निकट चम्पा नगरी के मार्ग में अवस्थित था।
- 23- अम्भिय ग्राम- यह सम्मेद शिखर से दक्षिण पूर्व में 50 मील की दूरी पर था।
- 24- आत्रिखण्डवन- यह क्षत्रियकुण्डपुर के समीप एक उद्यान था। जहां पर भ0 महवीर ने दीक्षा धारण की थी।
- 25- तम्बाय सन्निवेश- यह मगध देश के अन्तर्गत एक ग्राम था।
- 26- तुंगिका सन्निवेश ग्राम- यह वत्स देश के अन्तर्गत एक ग्राम था। यह मेतार्य गणधर का जन्म स्थान है।
- 27- तौसलिग्राम- यह गंगुआ और दयानदी के मध्यवर्ती एक बड़ा नगर था।
- 28- धूढाक सन्निवेश- यह गंगा के दक्षिणी तट पर था।
- 29- दशार्णपुर- पूर्वकाल में मालव प्रदेश का पूर्ववर्ती भाग दशार्ण कहलाता था। यहां पर दशार्ण नदी बहती थी। इस कारण उस देश की राजधानी का नाम दशारणपुर प्रसिद्ध हुआ। आज भी दशार्णा नदी बुन्देलखण्ड की एक बड़ी प्रसिद्ध नदी है और लोग इसे दशान नाम से कहते हैं।
- 30- दृढ भूमि- यह एक म्लेच्छों की बस्ती थी। सम्भवतः इसे गौडवाना प्रदेश में होना चाहिए।
- 31- नन्दग्राम- यह वैशाली और कौशम्बी के बीच में उकगाम था।
- 32- नालन्दा- यह राजगृह का एक उप नगर था। आज भी यह नालन्दा के नाम से ही प्रख्यात है।
- 33- पलासपुर- यह उत्तर भारत का एक समृद्ध नगर था।
- 34- पालक ग्राम- यह चम्पा के निकट कौशम्बी की दिशा में अवस्थित एक ग्राम था।

- 35- पावा- इस नाम की प्राचीन-काल में तीन नगरियां थी। एक पावा मंगि देश की राजधानी थी जो पार्श्वनाथ पहाड़ के आसपास रही है। दूसरी पावा कौशल से उत्तर पूर्व में कुशीनारा की ओर मल्ल राज्य की राजधानी थी। तीसरी पावा मगध जनपद में थी। भ० महावीर का अन्तिम वर्षाकाल यहां हुआ और निर्वाण भी यहीं से हुआ। आज यह पावापुरी के नाम से प्रसिद्ध है।
- 36- पुरिमतालपुर- यह वर्तमान प्रयागराज (इलाहाबाद) है।
- 37- पृष्ठ चम्पा- यह चम्पा का एक उपनगर था जो चम्पा से पश्चिम में थी।
- 38- पोलासपुर- देखो पलासपुर।
- 39- बहुसालग्राम- यह मददनागांव और लोहार्गला राजधानी के मध्य में अवस्थित था।
- 40- ब्राह्मणकुण्डग्राम- यह विदेह की राजधानी वैशाली का एक उपनगर था।
- 41- ब्राह्मणग्राम- यह स्वर्णखल और चम्पा के बीच में अवस्थित गांव था।
- 42- मददियानगरी- यह अंग देश की एक प्रसिद्ध नगरी थी।
- 43- भददिलनगरी- यह मलय देश की तत्कालीन राजधानी थी।
- 44- भोगपुर- यह कौशलभूमि में सुसमार और नन्दीग्राम के बीच में था।
- 45- मगध- यह देश महावीर के समय में अति प्रसिद्ध रहा है। आजकल इसे दक्षिण पच्छिमी विहार कह सकते हैं।
- 46- मदयना सन्निवेश- यह आलम्बिका और बहुसालक के मध्य में एक गांव था।
- 47- मध्यम पावा- यह पावापुरी का ही दूसरा नाम है।
- 48- मलय देश- यह पटना से दक्षिण में और गया से नैऋत्य दिशावर्ती एक देश था।
- 49- मिथिला- यह विदेह देश की राजधानी थी। यह आज भी इसी नाम से प्रसिद्ध है।
- 50- मेढियग्राम- यह श्रावस्ती के निकटवर्ती गांव था।
- 51- मोकानगरी- सम्भवतः पंजाब की मोगामण्डी ही प्राचीन मोकानगरी है।
- 52- मोराक सन्निवेश- यह गांव वैशाली के आसपास रहा है।
- 53- मूसलीग्राम- यह उत्तर पश्चिमी उड़ीसा में अथवा गौडवाना में रहा है। छठे गणधर मण्डित और सातवें मौर्यपुत्र का यह जन्म स्थान था।
- 54- मौर्य सन्निवेश- यह उत्तर भारत के पूर्वी भाग का एक ग्राम था। जो छठे और सातवें गणधर मण्डित और मौर्य पुत्र का जन्म स्थान था।
- 55- राजगृह- यह वर्तमान में राजगृह के नाम से प्रसिद्ध है।
- 56- लाढ देश- यह पश्चिमी बंगाल का भूभाग है। इसकी राजधानी कोटिवर्ष थी।

- 57- लोहारगल- यह हिमालय के समीपवर्ती नगरी रही है। आज इसका कुछ पता नहीं चलता।
- 58- वज्रग्राम- यह बंगाल के वीरभूमि प्रदेश में रहा है।
- 59- वर्द्धमान नगर- यह वर्तमान में वर्द्धमान नाम से प्रसिद्ध नगर है।
- 60- वाणिज्यग्राम- यह वैशाली के समीप गण्डकी नदी के दक्षिण तट पर अवस्थित एक समृद्ध व्यापारिक मण्डी थी। आनन्द सेठ यहीं का व्यापारी था।
- 61- वाराणसी- यह वर्तमान में भी इसी नाम से प्रसिद्ध है।
- 62- बालुकाग्राम- यह प्राचीन कलिंग देश के उत्तर पश्चिम में था।
- 63- विदेह देश- यह गण्डक नदी का निकटवर्ती भूभाग था और उसकी राजधानी महावीर के समय वैशाली थी।
- 64- वैशाली- यह विदेह देश की राजधानी थी।
- 65- श्रावस्ती- यह उत्तर कौशल की राजधानी रही है।
- 66- श्वेताम्बिका- इसका निश्चित पता तो नहीं लग सका है। ऐतिहासिकों के अनुमानानुसार यह सीतामढी का ही पूर्व नाम है।
- 67- सिद्धार्थपुर- यह सम्भवतः उड़ीसा में कहीं रहा होगा।
- 68- सुच्छता- यह स्थान सम्भवतः अंगदेश की भूमि में था।
- 69- सुमंगला- यह स्थान भी अंग देश में कहीं रहा है।
- 70- सुमरभूमि- यह भी कलिंग का एक गांव रहा है।
- 71- स्वर्णराल- यह राजगृह के समीपवर्ती कोल्लाक सन्निवेश से चम्पा के मार्ग में एक प्रसिद्ध ग्राम था।
- 72- सुसुमारपुर- यह वर्तमान चुनार के निकट एक पहाड़ी नगर था।
- 73- सुम्हदेश- यह दक्षिण अंग देश का एक भूभाग रहा है।
- 74- सूरसेन- यह मथुरा के आसपास का प्रसिद्ध देश था। इसकी राजधानी मथुरा थी।
- 75- हस्तिनापुर- यह वर्तमान में इसी नाम से प्रसिद्ध है।
- 76- हस्तिशीर्ष नगर- यह कुरुदेश के समीपवर्ती नगर रहा है।

भगवान् महावीर की जीवन - परिचय सारणी

1- गर्भागमन - पुष्पोत्तर विमान	2- गर्भतिथि - आषाढ शुक्ला 6
3- गर्भ नक्षत्र - उत्तराषाढा	4- जन्म नगर - कुंडलपुर (क्षत्रिय कुण्डग्राम)
5- पितृ नाम - सिद्धार्थ	6- मातृ नाम - त्रिशला प्रियकारिणी
7- जन्म तिथि - चैत्र शुक्ला 13	8- जन्म नक्षत्र - उत्तराफाल्गुणी
9- वंश - नाथ वंश(जातृवंश)	10 - आयु - 72 वर्ष
11- कुमार-काल - 30 वर्ष	12- शरीर उत्सेध - 7 हाथ
13- शरीर वर्ण - सन्तपंर स्वर्ण वर्ण	14- राज्यकाल - 0 नहीं किया
15- चिन्ह - सिंह	16- वैराग्य कारण - जातिस्मरण
17- दीक्षा तिथि - मगसिर कृष्णा 10	18- दीक्षा नक्षत्र - उत्तरा फाल्गुणी
19- दीक्षा-वन - जातृ-वन	20- दीक्षोपवास - अष्टमभक्त
21- दीक्षा-काल - अपराहन	22- सहदीक्षित - एकाकी
23- छद्मस्थकाल - 12 वर्ष	24- केवल-तिथि - वैशाख शुक्ला 10
25- केवलोत्पत्तिकाल - अपराहन	26- केवल-स्थान - ऋजुकूला नदी तीर
27- केवल-नक्षत्र - मघा	28- समवसरणभूमि - 1 योजन
29- केवल वृक्ष - शाल	30- केवलिकाल - 30 वर्ष
31- गणधर संख्या - 11	32- मुख्य गणधर - इन्द्रभूति गौतम
33- साधु संख्या - 14000	34- पूर्वधर - 300
35- शिक्षक - 9900	36- अवधिज्ञानी - 1300
37- केवली - 700	38- विक्रियाधारी - 900
39- मनःपर्ययज्ञानी - 500	40- वादी - 400

- | | | | | | |
|-------------------|---|-----------------------------|-------------------|---|-------------|
| 41- आर्यिका | - | 36000 | 42- मुख्य आर्यिका | - | चन्दना |
| 43- श्रावक | - | 100000 | 44- श्राविका | - | 300000 |
| 45- मोक्ष-तिथि | - | कार्तिक कृष्णा 14 की रात्रि | 46- मोक्षकाल | - | प्रत्यूष |
| 47- मोक्ष-नक्षत्र | - | स्वाति | 48- मोक्ष-स्थान | - | पावानगरी |
| 49- सहमुक्त | - | एकाकी | 50- योग-निवृत्ति | - | 2 दिन पूर्व |

(आधार ग्रन्थ- तिलोयपण्णती और उत्तरपुराण)

(उत्तर पुराण पर्व 74 श्लोक 302)

श्वेताम्बर - शास्त्रों के आधार पर गणधरों का जीवन-परिचय

सं०	गणधर नाम	पितृ-नाम	मातृ-नाम	गोत्र-नाम	जन्म-नक्षत्र	जन्म-स्थान	गृहस्थ-जीवन	दीक्षा-स्थान	शिष्य-संख्या	छदमस्थ-काल	केवलि-काल	सर्व आयु	निर्वाण काल	निर्वाण स्थान	निर्वाण काल भ० महावीर के
1	इन्द्रभूति	वसुभूति ब्राह्मण	पृथ्वी	गौतम	ज्येष्ठा	गोबर ग्राम मगध	50वर्ष	मध्यम पावा	500	30वर्ष	12वर्ष	92वर्ष	42वर्ष	राजगृह वैभार गिरि	केवलोत्पत्ति के पश्चात्
2	अग्निभूति	"	"	"	कृतिका	"	46वर्ष	"	500	12 वर्ष	16वर्ष	74वर्ष	28वर्ष	"	"
3	वायुभूति	"	"	"	स्वाति	"	42वर्ष	"	500	10 वर्ष	18वर्ष	70वर्ष	28वर्ष	"	"
4	व्यक्त	धनमित्र ब्रा०	वारुणी	भारद्वाज	श्रवण	कोल्लाग	50 वर्ष	"	500	12 वर्ष	18वर्ष	80वर्ष	30वर्ष	"	"
5	सुधर्मा	धम्मिल्ल	भद्रा	अग्नि वैश्यायन	उत्तरा फाल्गुणी	"	50 वर्ष	"	500	42 वर्ष	8 वर्ष	100वर्ष	50वर्ष	"	"
6	मण्डिक	धनदेव	विजया	वशिष्ठ	मघा	मौर्य सन्निवेश	53 वर्ष	"	350	14 वर्ष	16वर्ष	83 वर्ष	30वर्ष	"	"
7	मौर्य पुत्र	मौर्य	विजया	काश्यप	रोहिणी	"	65 वर्ष	"	350	14 वर्ष	16वर्ष	95वर्ष	30वर्ष	"	"
8	अकम्पित	वसु	नन्दा	हरीत	मृगशिरा	मिथला	46 वर्ष	"	300	12 वर्ष	14वर्ष	72 वर्ष	30वर्ष	"	"
9	अचल भ्राता	देव	जयन्ती	गौतम	उत्तराषाढा	कौशल	48 वर्ष	"	300	9 वर्ष	21वर्ष	78 वर्ष	16वर्ष	"	"
10	मेवार्य	दत्त	वरुणा	कौडिन्य	अश्विनी	तुंगिल सन्निवेश	36 वर्ष	"	300	10 वर्ष	16वर्ष	62 वर्ष	26वर्ष	"	"
11	प्रभास	बल	अतिभद्रा	कौडिन्य	पुष्य	राजगृह	16 वर्ष	"	300	8 वर्ष	16वर्ष	40 वर्ष	24वर्ष	"	"